माधवाचार्यविरचित श्रीशङ्करदिग्विजय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल्. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोधप्रबन्ध

प्रस्तुतकर्त्री

कु० कृष्णा श्रीवास्तव

निर्देशक

डॉ० श्रीरुद्रकान्त मिश्र

प्रवक्ता

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

१९८७

प्रा क्क थ न

प्राक्कथन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की १९८० ई० की परीक्षा के जून १९८१ ई० में घोषित परिणाम के अनुसार प्रथम श्रेणी में संस्कृत विषय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् १९८२ ई० के प्रारम्भ में मैंने विधिवत् शोधकार्य आरम्भ किया ।

मेरी रुचि संस्कृत काव्यों में अधिक होने के कारण मेरे शोधनिर्देशक आदरणीय गुरुवर्य डा० श्रीरुद्रकान्तमिश्र ने मुझे " माधवाचार्यविरचित - श्रीशङ्करदिग्विजय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन " विषय सुझाया ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " महाकाव्य और इसके रचयिता के सामान्यतः जनसामान्य के प्रति और विशेषतः संस्कृत साहित्य के प्रति योगदान को राष्ट्रभाषा में आधुनिक शोधपद्धति से प्रस्तुत करना हमारा उद्देश्य था ।

प्रत्येक सर्ग के अन्त में उपलब्ध ग्रन्थकार माधवाचार्य के विवरण के आधार पर ग्रन्थ का वास्तविक नाम " संक्षेपशङ्करजय " है । लेकिन " श्रीशङ्करदिग्विजय " नाम परम्परा से अधिक प्रचलित होने के कारण प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सर्वत्र " संक्षेपशङ्करजय " ग्रन्थ का " श्रीशङ्करदिग्विजय " नाम से ही उल्लेख किया गया है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ एक ओर प्रयास करने पर भी शोध कार्य के प्रसङ्ग में चिद्विलासयतिकृत " श्रीशङ्करविजयविलास " , सदाशिवबोधकृत " पुण्यश्लोकमञ्जरी " , सदाशिवब्रह्मेन्द्रकृत " गुरुरत्नमाला " , आत्मबोधकृत गुरुरत्न-माला की टीका " सुषमा " , गोविन्दनाथयतिकृत " केरलीयशङ्करचरितम् " और काशीलक्ष्मणशास्त्रीकृत " गुरुवंश " ग्रन्थों का उपयोग नहीं किया जा सका है, वहीं दूसरी ओर, सौभाग्यवश " श्रीशङ्करदिग्विजय " की धनपतिसूरिकृत " विजयडिण्डिम " टीका की पाण्डुलिपि (हिन्दी साहित्य सम्मेलन , प्रयाग की प्रति)

का पहले और बाद में उपलब्ध इसके मुद्रित संस्करण का भी उपयोग प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में किया जा सका है ।

जिस विश्वविद्यालय में मैंने शोधकार्य किया है वहाँ पुस्तकों के रख-रखाव में जिन दुर्गम और व्याघवार कम परिस्थितियों का सामना मुझे करना पड़ा उसका उल्लेख किये बिना यह प्राक्कथन अधूरा रहेगा । यहाँ पर " द इण्डियन हिस्टारिकल -क्वार्टरली " - ७ वाँ भाग जैसी प्रसिद्ध पत्रिका पुस्तक-क्रम-सूची में उल्लिखित होने पर भी - दो महीने प्रतीक्षा के पश्चात् भी मुझे नहीं मिली । मैं संग्रहालय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन , प्रयाग के कर्मचारियों के प्रति विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अपना सहयोग देकर समय-समय पर पुस्तकों के सम्बन्ध में आने वाली कठिनाइयों का निराकरण किया है । इसके अतिरिक्त शोधकार्य के प्रसङ्ग में इलाहाबाद में गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ और भारती भवन तथा बनारस में गोयनका, काशी विद्यापीठ , सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय और आचार्यीय संस्कृत विद्यापीठ , महुंवाडीह के पुस्तकालयों में मुझे उल्लेखनीय सुविधा मिली है ।

१६८६ई०के माघ मेले में शोधकर्त्री के सौभाग्य से पूज्यपाद श्रीकाञ्चीकामकोटि-पीठ के अधिपति जगद्गुरु श्री जयेन्द्रसरस्वतीपाद के निकट माधवाचार्य के व्यक्तित्व और कृतित्व के विषय में कुछ जिज्ञासा पूर्ति हुई ।

श्रद्धेय गुरुवर्य डा० श्रीरुद्रकान्त मिश्र का उल्लेख करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं है जिनके द्वारा उनके प्रति अपना हार्दिक आभार ज्ञापित कर सकूँ । उनके अनवरत प्रोत्साहन , मार्गदर्शन और वात्सल्य के बल पर ही यह गुरुतर शोधकार्य सम्पन्न हो सका है । आदरणीय गुरुवर्य डा० श्री सुरेशचन्द्र पाण्डेय के प्रति भी उनके बहुमूल्य सुझावों के लिये श्रद्धासुमन अर्पित करती हूँ ।

मैं अपनी पूजनीया माँ के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिन्होंने शोध-प्रबन्ध के लेखन काल में हताशा को दूर करके मुझे अविस्मरणीय सम्बल प्रदान किया ।

इस धन्यवाद कृत्य के अवसर पर मैं टङ्कक श्रीयुत प्रेमकुमार त्रिपाठी का स्मरण करती हूँ जो लिपिबद्ध सुचारु योगदान के लिये धन्यवाद के पात्र हैं ।

यह शोधप्रबन्ध कितना सदोष है और कितना उपयोगी इस विषय में तो विद्वद्गण ही परीक्षक हैं तथापि मुझे आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि अल्पबुद्धिजन्य मेरी अनगिनत त्रुटियों पर वे सहानुभूति और सहृदयता से विचार करेंगे ।

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद ।

कृष्णा श्रीवास्तव
कु० कृष्णा श्रीवास्तव

वि ष या नु क्र म णि का

विषयानुक्रमणिका

क्रमसंख्या | विषय | पृष्ठ संख्या

क्रमसंख्या | विषय | पृष्ठ संख्या

क्रमसङ्ख्या	विषय	पृष्ठ सङ्ख्या

क्रमसङ्०ख्या	विषय	पृष्ठ सङ्०ख्या

क्रमसङ्ख्या	विषय	पृष्ठ सङ्ख्या

प्रथम अध्याय

श्री शङ्कर दिग्विजय के रचयिता माधवाचार्य

प्रथम खण्ड

माधवाचार्य और विधारण्य

१- अवतारणा

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विवेच्य ग्रन्थ माधवाचार्य विरचित "श्रीशङ्करदिग्विजय" में हमें लेखक के रूप में दो नामों का सङ्केत प्राप्त होता है। प्रथम नाम विधारण्य का उल्लेख ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर मङ्गलाचरण के भी पूर्व "श्रीविधारण्यविरचित श्रीशङ्करदिग्विजय" वाक्य में हुआ है। द्वितिय नाम माधव का उल्लेख प्रत्येक सर्ग के अन्त में "इति श्रीमाधवीये ----- ।"[१] वाक्य में हुआ है।

इस सन्दर्भ में केवल तीन विकल्प सम्भव हैं -

प्रथम - "श्रीशङ्करदिग्विजय" ग्रन्थ माधवाचार्य और विधारण्य दो विद्वानों की संयुक्त कृति है।

द्वितिय - एक ही विद्वान के ये दो नाम हैं।

तृतिय - इनमें से कोई एक नाम प्रक्षिप्त है।

इनमें से किसी एक उपयुक्त विकल्प को निर्णय के रूप में ग्रहण करने के लिये यह जानना आवश्यक होगा कि माधवाचार्य और विधारण्य में क्या सम्बन्ध है?

समय-समय पर अनेक विद्वानों ने माधवाचार्य और विधारण्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कुछ विद्वान माधवाचार्य और विधारण्य को अभिन्न तो कुछ विद्वान इन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं।

१- "श्रीशङ्करदिग्विजय" - हिन्दी अनुवाद - पं० बलदेव उपाध्याय

परन्तु ऐतिहासिक गुत्थियों के कारण आज तक यह ऐकान्तिक निर्णय नहीं हो सका है कि माधवाचार्य विद्यारण्य से भिन्न थे या अभिन्न । आगे इस विषय में विद्वानों के मतों का विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

२- माधवाचार्य और विद्यारण्य की अभिन्नता के पक्ष में तर्क

अधिकांश विद्वान विद्यारण्य को वेदभाष्यकार सायण का ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य ही मानते हैं । प्राय: लोगों में यह दृढ़ धारणा बनी हुई है कि संन्यासग्रहण के पूर्व विद्यारण्य का नाम माधव था । इस मत के समर्थन में पं० बलदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक " आचार्य सायण और माधव "[१] में अनेक तर्कों को प्रस्तुत किया है , जिनका विवरण इस प्रकार है -

क- नृसिंहसूरि के कथन पर आधारित तर्क

नृसिंहसूरि ने अपनी पुस्तक " तिथि प्रदीपिका " में विद्यारण्य मुनीन्द्र का उल्लेख किया है । इसके लिये उपाध्याय जी ने इन पंक्तियों को उद्धृत किया है - " अनन्ताचार्यवर्येण मन्त्रिणा मल्लिनात्मजा । विद्यारण्य यतीन्द्रार्थैर्निर्णीत: कालनिर्णय: । अनि:शेषीकृतस्तैश्च मम दिष्ट्या क्रियान् , क्रियान् । तमहं सस्फुटं वक्ष्ये ध्यात्वा गुरुपदाम्बुजम् । यह " कालनिर्णय " माधवाचार्य (सायणभ्राता) के द्वारा रचित ग्रन्थ है । अत: नृसिंहसूरि का कथन माधवाचार्य और विद्यारण्य की अभिन्नता सिद्ध करने के प्रयास में एक सबल प्रमाण है ।

१- द्रष्टव्य - पृ० सं० १४३ से १४५ ।

ख- " वीरमित्रोदय " ग्रन्थ के लेखक मित्रमिश्र के कथन पर आधारित तर्क

" वीरमित्रोदय " ग्रन्थ के लेखक मित्रमिश्र ने " पराशरस्मृति " के व्याख्याकार के रूप में विद्यारण्य नाम का उल्लेख करके माधवाचार्य और विद्यारण्य में अभिन्नता प्रमाणित करने का प्रयास किया है क्योंकि " पराशरस्मृति " माधवाचार्य की रचना है - यह प्रमाणसिद्ध है ।

ग- " प्रयोगपारिजात " ग्रन्थ के लेखक नरसिंह के कथन पर आधारित तर्क

नरसिंह नामक ग्रन्थकर्ता ने (जो १३६० से लेकर १४३५ ई० तक विद्यमान थे) अपने " प्रयोगपारिजात " में विद्यारण्य को " कालनिर्णय " (प्रसिद्ध नाम " कालमाधव ") का कर्ता बताया है - " श्रीमद्विद्यारण्यमुनीन्द्रैः कालनिर्णयप्रतिपादितप्रकारः प्रदर्श्यते " (प्रयोगपारिजात-नि० सा० पृ० सं० ४११) ।

घ- रघुनाथ की " व्यासूत्रवृत्ति " नामक कृति पर आधारित तर्क

रघुनाथ ने अपने " व्याससूत्रवृत्ति " नामक ग्रन्थ को विद्यारण्यकृत श्लोकों के आधार पर लिखा गया माना है - " विद्यारण्यकृतैः श्लोकैर्सिद्धान्तसूचितभिः । संदृब्धा व्याससूत्राणां वृत्तिर्भाष्यानुसारिणी ।।" इस श्लोक में माधवाचार्य-विरचित " वैयासिकन्यायमालाविस्तर " का सङ्केत सुस्पष्ट ही है ।

ङ- अहोबल पण्डित के कथन पर आधारित तर्क

तेलुगु भाषा का एक विस्तृत व्याकरण संस्कृत में बनाने वाले अहोबल पण्डित ने भी माधवाचार्य की कृति " माधवीयाधातुवृत्ति " को विद्यारण्य की कृति बताकर दोनों को अभिन्न सिद्ध

करने का प्रयास किया है । अहोबल पण्डित का कथन है - " वेदानां भाष्यकर्ता विवृतमुनिवचा धातुवृत्तिविधाता , प्रोधद्विद्यानगर्यां हरिहरनृपतेः सार्वभौमत्वदायी । वाणीनीलाहिवेणी सरसिजनिलया किङ्करोति प्रसिद्धा , विद्यारण्योऽग्रगण्योऽभवदखिलगुरुः शङ्करो वीतशङ्कः ।।" अहोबल पण्डित का यह पद्य बड़े महत्व का है । इसमें जिन बातों का विद्यारण्य के विषय में उल्लेख किया गया है वे सभी बातें माधवाचार्य के विषय में सर्वथा सत्य है । विद्यानगरी (विजयनगर) के अभ्युदयकाल में विद्यारण्य ने हरिहरराय को सार्वभौमत्व अर्थात् चक्रवर्ती राजा का पद प्रदान किया । यह घटना माधवाचार्य के साथ इतनी सुश्लिष्ट है कि इसके निर्देशमात्र से " विद्यारण्य " माधवाचार्य से नितान्त अभिन्न सिद्ध हो रहे हैं ।

च- " पञ्चदशी " पर आधारित तर्क

कहा जाता है कि " पञ्चदशी " की रचना विद्यारण्य तथा भारतीतीर्थ ने अंशतः की है । रामकृष्णभट्ट ने " पञ्चदशी " की अपनी टीका के आरम्भ तथा अन्त में इस बात का निम्न रीति से उल्लेख किया है ।

" नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
मयाऽद्वैतविवेकस्य क्रियते पदयोजना ।।"
इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिवर्य - किङ्करेण श्रीरामकृष्णाविदुषा विरचिता पददीपिका ।। "

भारतीतीर्थ माधवाचार्य के तीन गुरुओं में से एक थे , यह बात सप्रमाण सिद्ध होती है । अतः भारतीतीर्थ के साथ एक ही ग्रन्थ की रचना में सम्मिलित होने से विद्यारण्यमुनीश्वर माधवाचार्य से भिन्न अन्य व्यक्ति नहीं हो सकते ।

क- " प्रयोगरत्नमाला " नामक कर्मकाण्ड की पुस्तक पर आधारित तर्क

विजयनगर के राजा बुक्क द्वितीय के समय में चौण्डपाचार्य नामक विद्वान ने " प्रयोगरत्नमाला " (आपस्तम्बाध्वरतन्त्रव्याख्या) नामक कर्मकाण्ड की एक पुस्तक बनायी। चौण्डपाचार्य ने विद्यारण्य के मुख से इस " अध्वरतन्त्र " की व्याख्या सुनी थी। उसी व्याख्या के अनुसार उन्होंने इस ग्रन्थ की व्याख्या कालान्तर में लिखी थी। ग्रन्थ के आरम्भ में विद्यारण्य के लिये जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे शब्द माधवाचार्य के लिये भी प्रयुक्त हो सकते हैं। " वेदार्थविशदीकर्ता " पद जो विद्यारण्य के लिये प्रयुक्त किया गया है, स्पष्ट रूप से बतला रहा है कि वे माधवाचार्य ही थे, क्योंकि वेदों के भाष्य लिखने का श्रेय माधवाचार्य को ही प्राप्त है। अतः इस समसामयिक ग्रन्थकार की सम्मति में दोनों की अभिन्नता स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। विद्यारण्यस्वामी का पूर्वनिर्दिष्ट वर्णन इस प्रकार है -

" पदवाक्यप्रमाणानां पारदृश्वा महामतिः ।
साङ्ख्ययोगरहस्यज्ञो ब्रह्मविद्यापरायणः ॥
वेदार्थविशदीकर्ता वेदवेदाङ्गपारवित् ।
विद्यारण्ययतिर्ज्ञात्वा श्रौतस्मार्तक्रियापरैः ॥[1]

ख- ताम्रपत्र पर आधारित तर्क

पं०बलदेव उपाध्याय ने एक ताम्रपत्रीय प्रमाण भी माधवाचार्य और विद्यारण्य की एकता के लिये प्रस्तुत किया है - १३८६ ई० के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि वैदिकमार्ग - प्रतिष्ठापक तथा धर्मब्रह्माध्वन्य

---

1. Sources of Vijayanagar History से उद्धृत पृ०सं० ५४ - आचार्य सायण और माधव- पृ० सं० १४४ ।

(धर्म तथा ब्रह्म के मार्ग पर चलने वाले) विजयनगराधीश श्रीहरिहर द्वितीय ने चारों वेदों के भाष्यों के प्रवर्तक तीन पण्डितों को - जिनके नाम नारायण वाजपेययाजी, नरहरि सोमयाजी तथा पण्ढरि दीक्षित थे - विद्यारण्य श्रीपाद के समक्ष अग्रहार दान किया।[1] इस शासन पत्र में विद्यारण्य स्वामी का नामोल्लेख होना महत्त्व से शून्य नहीं है। हम जानते हैं कि वेदभाष्य की रचना से माधवाचार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उनके आदेश से सायण ने रचना की थी। बहुत सम्भव है कि उनके कहने पर हरिहर ने वेदभाष्य की रचना में प्रचुर सहायता देने के उपलक्ष्य में इन तीनों पण्डितों को पुरस्कृत करने का विचार किया हो। अतः जिन वेदभाष्यों की रचना में माधवाचार्य का इतना अधिक हाथ था, उन्हीं के प्रवर्तकों को इनके समक्ष पुरस्कार देना नितान्त स्वाभाविक तथा उचित जान पड़ता है। अतः माधवाचार्य ही विद्यारण्य थे। यदि विद्यारण्य भिन्न होते, तो उनके सामने इस पुरस्कार के देने की आवश्यकता कौन सी थी ?

३- <u>माधवाचार्य और विद्यारण्य की अभिन्नता के पक्ष में दिये गये तर्कों की समीक्षा</u>

पं० बलदेव उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त सभी तर्कों से सहमत होना हमें अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि उनमें कुछ तर्क असत्य तथ्यों पर आधारित हैं जिनमें से एक तर्क "माधवीयाधातुवृत्ति" पर आधारित है। इसमें उन्होंने "माधवीयाधातुवृत्ति" को माधवाचार्य की रचना बताया है, जब कि "माधवीयाधातुवृत्ति" से ही प्राप्त विवरण के अनुसार यह माधवाचार्य के छोटे

- -

1. Mysore Archaiological Report से उद्धृत, १९०८, पैरा ५४ - आचार्य सायण और माधव - पृ० सं० १४५।

माई सायण की कृति सिद्ध होती है।[१] अतः "माधवीयाधातुवृत्ति" के अन्तःसाक्ष्य के ही आधार पर पं० बलदेव उपाध्याय का तर्क असत्य सिद्ध होता है जिसके बल पर उन्होंने माधवाचार्य और विद्यारण्य को अभिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है।

इसके अतिरिक्त पं० बलदेव उपाध्याय के द्वारा प्रस्तुत अधिकांश तर्क मुख्यतया ग्रन्थों के लेखकों के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि ये सभी लेखक सायण के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य के समकालीन या एक दो शताब्दी परवर्ती हैं तब तो वे अवश्य ही प्रामाणिक माने जा सकते हैं। परन्तु यदि वे सभी लेखक माधवाचार्य से बहुत पश्चाद्वर्ती हैं तब तो यह सम्भावना अवश्य विद्यमान रहती ही है कि अमुक-अमुक लेखकों ने मात्र पारम्परिक प्रसिद्धि के आधार पर माधवाचार्य को विद्यारण्य मान लिया हो और अपनी-अपनी कृतियों में भी इसी रूप में उल्लिखित कर दिया हो।

पं० बलदेव उपाध्याय का ताम्रपत्रीय प्रमाण भी अनुमान की भित्ति पर आधारित है। यह कोई आवश्यक नियम नहीं है कि किसी वेद भाष्यकार के समक्ष ही वेदभाष्य के प्रवर्तकों को पुरस्कार प्रदान किया जाय अन्य किसी के समक्ष नहीं। हाँ यह एक सम्भावना हो सकती है अनिवार्यता नहीं। इस प्रकार पं० बलदेव उपाध्याय का यह तर्क जिस सीमा तक माधवाचार्य को

१- तेन मायणपुत्रेण सायणेन मनीषिणा।
आख्यया माधवीयेयं धातुवृत्तिर्विरच्यते ॥ मा० धा० १-१३
इसी ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय के अन्त में लिखा है -
इति पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुतसङ्गमराजमहामन्त्रिणा मायणपुत्रेण माधवसहोदरेण सायणेन विरचितायां माधवीयायां धातुवृत्तौ ---------------। इससे भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

विद्यारण्य सिद्ध करता है उसी सीमा तक माधवाचार्य को विद्यारण्य से भिन्न भी सिद्ध करता है ।

इसी प्रकार पं० बलदेव उपाध्याय के " पञ्चदशी " और " प्रयोगरत्नमाला " पर आधृत तर्क भी माधवाचार्य और विद्यारण्य की अभिन्नता सिद्ध करने के लिये जितने सबल हैं उतने निर्बल भी हैं क्योंकि इनमें अनुमान का सहारा लेकर लेखक ने माधवाचार्य को विद्यारण्य सिद्ध करने का प्रयास किया है । अनुमान सत्य भी हो सकता है और असत्य भी ।

पं० बलदेव उपाध्याय का तृतीय तर्क जिसमें उन्होंने नरसिंह नामक लेखक के विचार का उल्लेख किया है - सबल तर्क माना जा सकता है । यह नरसिंह नामक लेखक माधवाचार्य के समकालीन थे ।

४- माधवाचार्य और विद्यारण्य की भिन्नता के पक्ष में तर्क

इसके विपरीत रामाराव ने अपने अंग्रेजी लेख[१] में अनेक साक्ष्यों के आधार पर विद्यारण्य और माधवाचार्य को भिन्न-भिन्न व्यक्ति सिद्ध करने का प्रयास किया है । उनके द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों का विवरण इस प्रकार है -

क- राव बहादुर का तर्क

सर्वप्रथम उन्होंने रावबहादुर के तर्क को प्रस्तुत किया है । इसमें रावबहादुर ने यह दिया है कि उन्होंने अनेक उत्कीर्ण लेखों का

---

1. The Indian Historical Quarterly Vol. VI, P.No.701-717
Vol. VII, P.NO.78-92.

अध्ययन किया परन्तु किसी भी उत्कीर्ण लेख में माधवाचार्य और विद्यारण्य को एक और समान व्यक्तित्व वाला नहीं कहा गया है ।

ख- उत्कीर्ण लेखों पर आधारित तर्क

वे उत्कीर्ण लेख जो माधवाचार्य के माता-पिता , भाई और गोत्र आदि का उल्लेख करते हैं माधवाचार्य और विद्यारण्य के सम्बन्ध के विषय में कोई सूचना नहीं देते हैं ।

ग- माधवाचार्य की कृतियों पर आधारित तर्क

माधवाचार्य की कृतियाँ न केवल माधवाचार्य और विद्यारण्य के सम्बन्ध का अनुल्लेख करती हैं अपितु दोनों व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न सिद्ध करती हैं । " कालमाधव " तथा " कालनिर्णय ", " जैमिनीयन्यायमालाविस्तर " आदि का अवलोकन करके रामाराव ने यह निष्कर्ष निकाला कि ये सभी कृतियाँ निश्चय ही मायण के पुत्र और सायण के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य की ही हैं । इन कृतियों के आधार पर उन्होंने यह भी कहा है कि सायण के बड़े भाई माधवाचार्य एक गृहस्थ ब्राह्मण , वैदिक धर्म के प्रचारक और बुक्क राजा के मन्त्री थे । यह एक संन्यासी जो शृङ्गेरी मठ के गुरु भी थे - विद्यारण्य नहीं हो सकते । एक संन्यासी व्यक्ति राजा के मन्त्री जैसे दाँवपेंच के पद पर कार्य नहीं कर सकता । अतः दोनों व्यक्ति भिन्न थे ।

घ- सायणाचार्य की कृतियों पर आधारित तर्क

सायण की कृतियों के आधार पर भी रामाराव ने माधवाचार्य को विद्यारण्य से भिन्न ठहराने

का प्रयास किया है । उनका मत है कि सायण ने अपनी कृतियों में माधवाचार्य को अपना ज्येष्ठ भ्राता और गृहस्थ व्यक्ति के रूप में उल्लेख किया है । इसके विपरीत विद्यारण्य एक संन्यासी व्यक्ति थे । सायण ने भी अपनी कृतियों में माधवाचार्य और विद्यारण्य के सम्बन्ध का उल्लेख नहीं किया है । अतः माधवाचार्य और विद्यारण्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति सिद्ध होते हैं ।

ङ०- आश्रयदाता पर आधारित तर्क

माधवाचार्य और विद्यारण्य को भिन्न-भिन्न मानने के पक्ष में रामाराव ने एक तर्क यह भी प्रस्तुत किया है कि माधवाचार्य ने अपनी सभी कृतियों में बुक्क प्रथम राजा का अपने आश्रयदाता के रूप में उल्लेख किया है । हरिहर प्रथम और हरिहर द्वितीय को आश्रयदाता के रूप में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है । इसके विपरीत विद्यारण्य का उल्लेख करने वाले सभी शिलालेखों में इनका सम्बन्ध हरिहर द्वितीय से वर्णित हुआ है ।

माधवाचार्य की कृति " जैमिनीयन्यायमालाविस्तर " के कुछ संस्करणों में हरिहर की प्रशंसा करने वाले कुछ वाक्य उपलब्ध होते हैं । इससे कुछ विद्वान हरिहर पद का सङ्केत हरिहर द्वितीय राजा के प्रति मानते हैं । परन्तु यह कहना कठिन है कि माधवाचार्य का किसके प्रति सङ्केत है । कुछ लोग इस खण्ड को माधवाचार्य के प्रेमियों द्वारा प्रक्षिप्त मानते हैं ।

वेदानां स्थितिकृत्पुराहरिहरोऽमूत्सुक्कभूजैमिनिस्तद्भाष्यं श्रमरोऽप्यथापुगदित-वांस्तद्विस्तरंमाधवः । सोऽयं नित्यकलत्रपुत्रधनधप्रशाधिपत्यस्थितिर्दीर्घायुस्सह-बन्धुभिर्विजयतामाचन्द्रमातारकम् ।।

— The Indian Historical Quarterly Vol.VI P.No.713.

- -

१- दुन्दुभिः(?)

च- <u>गुरुओं के विषय में प्राप्त सूचनाओं पर आधारित तर्क</u>

गुरुओं के विषय में प्राप्त साक्ष्य के आधार पर भी रामाराव ने माधवाचार्य और विद्यारण्य में भिन्नता सिद्ध करने का प्रयास किया है । उनका मत है कि विद्यारण्य ने कभी भी अपने गुरु के रूप में भारतीतीर्थ का नामोल्लेख नहीं किया है । इसके विपरीत माधवाचार्य ने अपनी कतिपय कृतियों में भारतीतीर्थ को भी अपना गुरु बताया है ।

छ- <u>समकालीन या एक-दो शताब्दी पश्चात् कालीन लेखकों की कृतियों पर आधारित तर्क</u>

माधवाचार्य और विद्यारण्य की एकता का अनुल्लेख न केवल माधवाचार्य और सायणाचार्य की कृतियों में हुआ है अपितु इनके समकालीन या एक-दो शताब्दी पश्चात्कालीन कृतियों में भी हुआ है ।

ज- <u>कतिपय अन्य कृतियों पर आधारित तर्क</u>

कुछ कृतियों जैसे बासवराजकृत "शिवतत्त्वरत्नाकर" में और शृङ्गेरी मठ के स्वामी पं० लक्ष्मणशास्त्री ने "गुरुवंश" नामक अपनी कृति में विद्यारण्य को संन्यास के पूर्व एक निर्धन ब्राह्मण, अनेक बच्चों के पिता और पितामह बताया है । विद्यारण्य विजयनगर की स्थापना के पूर्व हम्पी के पास मातङ्गपर्वत की गुफा में रहते थे । इसी समय इनके पास सायण और मायण नाम के दो व्यक्ति आये और उन्होंने पुत्रप्राप्ति की कामना की । परन्तु विद्यारण्य ने उन्हें बताया कि वे पुत्र प्राप्त नहीं कर सकते अपितु ऐसे राज्य को प्राप्त कर सकते हैं जो मुसलमानों के लिये सुरक्षित है । इसके पश्चात् वे दोनों (सायण और मायण) उनके शिष्य बन गये । यहीं पर इन लोगों ने सायणीय और माधवीय की रचना की ।

क- <u>विजयनगर की स्थापना के सम्बन्ध में विद्यारण्य की भूमिका वर्णित करने वाले हरिहर द्वितीय कालीन शिलालेखों पर आधारित तर्क और उसकी समीक्षा</u>

पूर्वोल्लिखित सभी साक्ष्यों के आधार पर रामाराव ने सायण के ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य को विद्यारण्य से भिन्न सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने माधवाचार्य और विद्यारण्य को अभिन्न वर्णित करने वाले सभी साक्ष्यों को भ्रामक और असत्य सिद्ध करने का प्रयास किया है।

सर्वप्रथम उन्होंने हरिहर द्वितीय के राज्यकाल से सम्बन्धित शिलालेखों का परीक्षण किया। ये सभी शिलालेख विजयनगर की स्थापना में विद्यारण्य की भूमिका को बताने के लिये प्रसिद्ध थे और जिनके आधार पर विद्यारण्य और माधवाचार्य को अभिन्न मानने की परम्परा भी चल पड़ी थी। परन्तु उन्होंने (रामाराव ने) शिलालेखों का सावधानीपूर्वक परीक्षण करके यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि किसी भी शिलालेख में विजयनगर की स्थापना में विद्यारण्य की भूमिका वर्णित नहीं हुई है। इसके अतिरिक्त इनके (विद्यारण्य के) राजनीतिक महत्त्व का भी कहीं उल्लेख नहीं हुआ है।

विजयनगर की स्थापना में विद्यारण्य की भूमिका स्पष्ट करने वाले शिलालेख रामाराव को कतिपय निम्न कारणों से अविश्वसनीय प्रतीत हुए हैं।

प्रथम - इसमें हरिहर द्वितीय के कार्य (अग्रहार की स्थापना) को हरिहर प्रथम का कार्य बताया गया है।

द्वितीय - विद्यारण्य को वेदभाष्यप्रवर्तक बताया गया है जबकि यह विशेषण गुरु विद्यातीर्थ के लिये उपयुक्त है। इस विषय में माधवाचार्य के कनिष्ठ भ्राता

सायणाचार्य की कृतियाँ प्रमाण हैं । इसमें उन्होंने विद्यातीर्थ के श्वास को वेद कहा है और अपने वेदभाष्य से एक महेश्वर के रूप में उनके प्रसन्न होने की कामना की है ।

तृतीय - " मैसूर पुरातत्व रिपोर्ट " के अनुसार वेद के उन्नयन में सहायक माधव , बुक्कप्रथम , हरिहर द्वितीय और पण्ढरि दीक्षित आदि व्यक्ति थे । यहाँ पर भी वेद के सम्बन्ध में विद्यारण्य का नाम अनुल्लिखित है ।

येन केन प्रकारेण रामाराव ने उपर्युक्त तीन शङ्काओं का समाधान तो कर लिया । इसके बाद भी उन्हें माधवाचार्य ने ही विद्यारण्य नाम ग्रहण किया यह उल्लेख कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं मिला । अतः हरिहर द्वितीय कालीन शिलालेखों के आधार पर माधवाचार्य और विद्यारण्य की अभिन्नता सिद्ध नहीं की जा सकती ।

अ - <u>संन्यासग्रहण के पश्चात् माधवाचार्य को विद्यारण्य सिद्ध करने वाली कृतियों पर आधारित तर्क और उसकी समीक्षा</u>

रामाराव ने माधवाचार्य को संन्यासग्रहण के पश्चात् विद्यारण्य सिद्ध वाले सभी साक्ष्यों का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि ये सभी साक्ष्य भ्रामक हैं । इनके द्वारा परीक्षित साक्ष्य इस प्रकार हैं -

क- " मणिमञ्जरीभेदिनी " शृङ्गेरी मठ की प्रशंसा करने वाली एक कृति है । इसमें विद्यारण्य को संन्यासग्रहण के पूर्व माधवाचार्य कहा गया है । माधव यहाँ एक निर्धन अविवाहित ब्राह्मण के रूप में वर्णित हुए हैं । माधवाचार्य ने गुरु भारतीकृष्णतीर्थ से संन्यासदीक्षा ग्रहण किया और उन्हीं से विद्यारण्य नाम भी प्राप्त किया । संन्यासग्रहण के पश्चात् माधवाचार्य ने सङ्गीत, धर्म आदि

विषयों पर ग्रन्थों का निर्माण किया । तत्पश्चात् इन्होंने सभी वेदों पर भाष्यों की रचना की । इसके पश्चात् इस कृति में विजयनगर साम्राज्य में स्वर्ण के वर्षा की कहानी , कर्नाटक की गद्दी पर औचित्य नामक राजा के स्थापना की कहानी , अत:पर विद्यानगरी नगर (राज्य) के स्थापना की कहानी वर्णित हुई है । इसके बाद रामानुज सम्प्रदाय के वेदान्तदेशिक की मध्यस्थता में विद्यारण्य और माधवसम्प्रदाय के गुरु अक्षोभ्यतीर्थ के बीच वादविवाद और इस विवाद में विद्यारण्य के विजेता होने का वर्णन है ।

उपर्युक्त सभी तथ्य रामाराव को समीचीन प्रतीत नहीं हुए । इस विषय में उन्होंने निम्न तर्कों को प्रस्तुत किया है ।

प्रथम - " मणिमञ्जरीभेदिनी " औचित्य नामक राजा को कर्नाटक राज्य का संस्थापक वर्णित करती है । इससे यह अनुमान होता है कि यह कृति विजयनगर राज्य के अन्त होने के कई वर्ष पश्चात् लिखी गयी है ।

द्वितीय - इस कृति में इसके लेखक की वंशावलि और उसके समय का निर्देश नहीं हुआ है ।

तृतीय - इसमें वर्णित माधव सम्प्रदाय पर आक्रमण की घटना यह सिद्ध करती है कि यह कृति माधव सम्प्रदाय के कर्नाटक राज्य में पूर्ण शक्तिशाली होने के समय रची गयी है । इसमें विद्यारण्य द्वारा रचित जिन ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है उनका भी अन्त:साक्ष्य के आधार पर संन्यासग्रहण के पश्चात् लिखा जाना सम्भव नहीं जान पड़ता है ।

चतुर्थ - " मणिमञ्जरीभेदिनी " में माधवाचार्य को अविवाहित कहा गया है परन्तु सायण और माधवाचार्य की कृतियों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता

है कि उन्होंने कई यज्ञ किये थे । कर्मकाण्ड की पुस्तकों में यह स्पष्ट विधान है कि यज्ञक्रिया का अधिकारी केवल विवाहित व्यक्ति होता है । इसके अतिरिक्त अग्रहर वैशाली ' और ' शिवतत्त्व रत्नाकर ' भी माधव के अनेक पुत्र और पौत्रों के होने का उल्लेख करते हैं । अत: ' मणिमञ्जरीभेदिनी ' का कथन शिलालेखीय , साहित्यिक कृतियों और पारम्परिक कथाओं से भी विरुद्ध होने के कारण मूल्यहीन अतएव अग्राह्य है ।

ब- ' विद्यारण्यचरित्रमु ' तेलुगु भाषा में अध्वनि के द्वारा लिखी गयी कृति है । इसमें विद्यारण्य को संन्यासाश्रम के पूर्व माधवभट्ट कहा गया है । इन्होंने विद्यानगर नाम से विजयनगर नगर की स्थापना की और २६ वर्ष तक इस नगर की गद्दी पर बैठकर शासन किया । तत्पश्चात् बुक्क राजा को राजगद्दी पर स्थापित करके १३६२ ई० डी० में ये दिवंगत हो गये । ' पराशरमाधवीय ' , ' कालमाधवीय ' , ' विद्यामाधवीय ' , ' निदानमाधवीय ' और तीनों वेदों पर भाष्य इनके द्वारा लिखे गये हैं - ऐसा उल्लेख भी इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है । इस प्रकार यहाँ विद्यारण्य न केवल सायण के बड़े भाई माधवाचार्य के ऊपर आरोपित हुए हैं अपितु ' विद्यामाधवीय ' के लेखक वाशिष्ठ गोत्र वाले एवं नारायणपुण्यपाद के पुत्र ' विद्यामाधव ' और ' माधवनिदान ' के लेखक ' माधव ' जो इन्दुकर के पुत्र हैं पर भी आरोपित हुए हैं । इसके अतिरिक्त सर्वदर्शनसङ्ग्रह ' के रचयिता ' सायणमाधव ' और ' तात्पर्यदीपिका ' के लेखक ' माधवामात्य ' से भी विद्यारण्य का भ्रम प्रदर्शित किया गया है ।

स- ' पुण्यश्लोकमञ्जरी ' में काञ्चीकामकोटि के मठ के गुरुओं का वर्णन है । इसमें विद्यारण्य का नामोल्लेख नहीं हुआ है जबकि माधवाचार्य के आश्रयदाता- बुक्क, गुरु - भारतीतीर्थ और स्वयं माधव की चर्चा हुई है ।

द- ' गुरुरत्नमालिका ' काञ्चीकामकोटि मठ के ५८ वें धर्माचार्य के शिष्य सदाशिव ब्रह्मानन्द के द्वारा लिखी गयी है । इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि विद्यातीर्थ सायण और माधव के गुरु थे । इसमें भी विद्यारण्य के नाम की चर्चा अनुपलब्ध है । इसके साथ ही विद्यारण्य से माधवाचार्य की अभिन्नता भी प्रतिपादित नहीं की गयी है ।

इस ग्रन्थ की ' सुषमा ' नामक टीका में सायण-माधव वेदभाष्य के कर्ता कहे गये हैं । विद्यातीर्थ को सायण-माधव और भारतीतीर्थ का गुरु कहा गया है । इसमें भारतीतीर्थ को भी माधव का गुरु बताया गया है । प्राचीनता क्रम से गुरुओं का उल्लेख इस प्रकार हुआ है - जाह्नवीतीर्थ , विद्यातीर्थ और भारतीतीर्थ । इस विषय में ' पराशरव्याख्या ' को प्रमाण माना गया है । ' सुषमा ' टीका में सायणमाधव पद की व्याख्या करने के अवसर पर सायण को माधव के कुल का नाम बताया गया है ।

इ- ' पञ्चदशी ' और ' विवरणप्रमेयसङ्ग्रह ' में विद्यारण्य द्वारा शङ्करानन्द की प्रशंसा की गयी है । इस प्रशंसा की व्याख्या के अवसर पर ' सुषमा ' टीका में लिखा है कि शङ्करानन्द विद्यातीर्थ के शिष्य थे और माधवाचार्य के पूर्वपरिचित मित्र एवं नवीन गुरु थे । यहाँ पर माधवाचार्य को विद्यारण्य से अभिन्न स्वीकार किया गया है । माधवाचार्य को विद्यारण्य नाम शङ्करानन्द के द्वारा प्राप्त हुआ था । सच्चिदानन्द सहित आठ शिष्यों के साथ इन्होंने विद्यारण्य ने आठ मठ स्थापित किया तथा स्वयं तुङ्गभद्रा नदी के तट पर विरूपाक्षेश्वर के समीपस्थ मठ में माधवधर्म के उत्थान को रोकने के लिये ठहरे ।

उपर्युक्त विवरण जो काञ्चीमठ की प्राचीन कहानियों से सम्बन्धित है यह सिद्ध करता है कि विद्यातीर्थ माधवाचार्य , सायण , बुक्क और

भारतीतीर्थ के गुरू थे । यह तथ्य स्वयं सायण और माधवाचार्य की कृतियों, शिलालेखों और कहानियों से भी पुष्ट होता है । परन्तु इस विवरण में विद्यारण्य और माधवाचार्य की अभिन्नता की चर्चा कहीं भी उपलब्ध न होने के कारण माधवाचार्य और विद्यारण्य अभिन्न नहीं कहे जा सकते हैं ।

' सुषमा ' टीका में विद्यारण्य के समय के पश्चात् अर्थात् अठारहवीं शताब्दी में इनके विषय में प्रचलित होने वाली कहानियों का उल्लेख हुआ है परन्तु रामाराव ने अनेक कारणों से इन्हें भी भ्रामक बताया है । उन्होंने केवल समकालीन कहानियों को ही विश्वसनीय माना है ।

इस प्रकार पूर्ववर्णित तर्कों के आधार पर रामाराव ने माधवाचार्य और विद्यारण्य को अभिन्न नहीं माना है ।

५- <u>माधवाचार्य और विद्यारण्य की भिन्नता के पक्ष में दिये तर्कों की समीक्षा</u>

विद्यारण्य की भिन्नता के समर्थन में रामाराव के द्वारा प्रस्तुत अधिकांश तर्क सम्भावना की भित्ति पर आधारित हैं । अतः अनिवार्यतः यह निष्कर्ष नहीं दिया जा सकता है कि माधवाचार्य और विद्यारण्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे ।

रामाराव का प्रथम तर्क कि कोई भी उत्कीर्णलेख माधवाचार्य और विद्यारण्य की अभिन्नता स्पष्ट नहीं करता है इस कारण ये दोनों व्यक्ति भिन्न थे उपयुक्त नहीं है क्योंकि यह भी सम्भव है कि रामाराव द्वारा परीक्षित उत्कीर्ण लेखों का मुख्य उद्देश्य माधवाचार्य और विद्यारण्य की एकता वर्णित करना न रहा हो अपितु उनके विषय में अन्य तथ्यों को प्रकट करना रहा हो ।

यही बात रामाराव के द्वितीय तर्क के विषय में भी कही जा सकती है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि माता-पिता आदि के विषय में सूचना देने वाले उत्कीर्ण लेख माधवाचार्य और विद्यारण्य की भिन्नता और अभिन्नता के विषय में भी अपना मत व्यक्त करें।

रामाराव का तृतीय तर्क कि माधवाचार्य की कृतियाँ माधवाचार्य को विद्यारण्य से अभिन्न सिद्ध नहीं करती है इस कारण वे भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे भी पूर्णतया ग्राह्य नहीं है क्योंकि दोनों में अभेद के अनुल्लेख को अभाव का रूप देना केवल एक सम्भावना मात्र है प्रमाण नहीं।

रामाराव का चतुर्थ तर्क भी माधवाचार्य और विद्यारण्य में भेदपक्ष की सम्भावना ही व्यक्त करता है अनिवार्यता नहीं। उनका मत है कि संन्यासग्रहण करने के पश्चात् अपने पूर्व आश्रम के नामादि की चर्चा अनुचित समझकर यदि माधवाचार्य के द्वारा उनका (अपने नामादि का) उल्लेख नहीं किया गया है तो उनके अनुज सायण के द्वारा ही अपने ज्येष्ठ भ्राता माधवाचार्य के संन्यासग्रहण और तत्पश्चात् गृहीत नाम " विद्यारण्य " का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए था, परन्तु सायण ने ऐसा नहीं किया है, अतः माधवाचार्य और विद्यारण्य एक नहीं हो सकते।

यह भी सम्भव है कि अनुज होने के कारण सायण ने माधवाचार्य के उपर्युक्त विचार का ही अनुगमन किया हो और इसीकारण अपनी कृतियों में विद्यारण्य के पूर्व नाम (माधव) का उल्लेख नहीं किया हो। इसके विपरीत सायण के विषय में उनके (सायण के) माधवाचार्य के अनुगामी होने का कोई ठोस प्रमाण न होने की स्थिति में रामाराव का तर्क भी पुष्ट होता है। अतः यह निष्कर्ष किया जा सकता है कि यह तर्क जितना सबल है उतना ही निर्बल है।

रामाराव का पञ्चम तर्क माधवाचार्य के आश्रयदाता से सम्बन्धित है। इसमें उन्होंने कहा है कि माधवाचार्य ने केवल बुक्क प्रथम का आश्रयदाता के रूप में उल्लेख किया है, हरिहर प्रथम और हरिहर द्वितीय का नहीं। इसके विपरीत शिलालेखों में विद्यारण्य का सम्बन्ध हरिहर द्वितीय से वर्णित हुआ है। अतः माधवाचार्य और विद्यारण्य भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे अन्यथा दोनों आश्रयदाताओं का नामोल्लेख माधवाचार्य और विद्यारण्य के सम्बन्ध में समानरूप से अवश्य हुआ होता। रामाराव का उपर्युक्त तर्क भी सुग्राह्य नहीं है क्योंकि यह सम्भव है कि माधवाचार्य ने बुक्क प्रथम के शासन काल में संन्यासदीक्षाकोग्रहण नहीं किया हो अतएव इन्होंने विद्यारण्य नाम भी प्राप्त न किया हो। ऐसी स्थिति में विद्यारण्य का सम्बन्ध बुक्क प्रथम के साथ अनुल्लिखित होना आश्चर्य नहीं है।

इसी प्रकार हरिहर द्वितीय के शासन काल में विद्यारण्य के नाम से विख्यात हो जाने पर तत्कालीन शिलालेखों में माधवाचार्य का (विद्यारण्य-नाम से) हरिहर द्वितीय के साथ सम्बन्ध वर्णित होना बहुत स्वाभाविक है। अतः यह तर्क भी सबल किम्वा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, अधिक से अधिक एक सम्भावनामात्र प्रकट करता है।

रामाराव का यह तर्क कि विद्यारण्य ने अपने गुरु के रूप में भारतीतीर्थ का उल्लेख नहीं किया है जब कि माधवाचार्य ने अपनी कृतियों में भारतीतीर्थ को अपना गुरु बताया है - भी उपयुक्त नहीं है।

यदि माधवाचार्य अपनी सम्पूर्ण कृतियों में नियमतः भारतीतीर्थ का उल्लेख करते तब तो रामाराव का तर्क स्वीकार्य हो सकता है परन्तु माधवाचार्य की ऐसी अनेक कृतियाँ हैं जिनमें "श्रीशङ्करदिग्विजय" भी

एक है - में भारतीतीर्थ गुरु का उल्लेख नहीं हुआ है । अतएव रामाराव का यह तर्क नितान्त निर्बल या अप्रामाणिक है ।

" पुण्यश्लोकमञ्जरी " और " गुरुरत्नमालिका " नामक रचनाओं में वर्णित कहानियाँ माधवाचार्य और विद्यारण्य को एक सिद्ध करने में या भिन्न सिद्ध करने में समान रूप से सम्भावना प्रस्तुत करती है और इसीलिये अप्रामाणिक हैं ।

" सुषमा " तो एक टीका ग्रन्थ है मूलग्रन्थ नहीं । अतः सुषमा में लिखी गयी बातें मुख्यतः टीकाकार के विचार हैं । उन पर बिना विशेष मनन किये उन्हें स्वीकार करना महान भूल है ।

६- निष्कर्ष

विद्यारण्य और माधवाचार्य भिन्न हैं या अभिन्न यह निर्णय करना अत्यन्त विवादग्रस्त है । इस दृष्टि से यह शोध का एक पृथक् विषय बन सकता है । इस पर अधिक विस्तार से विचार करना प्रस्तुत शोधप्रबन्ध को विषयान्तर करना होगा । परन्तु इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि हमारा आलोच्य ग्रन्थ " श्रीशङ्करदिग्विजय " बुक्क प्रथम राजा के आश्रित सायणभ्राता माधवाचार्य की ही कृति है ।

माधवाचार्य ने अपनी अन्य कृतियों में जिन तीन गुरुओं का उल्लेख किया है उनमें से एक विद्यातीर्थ भी हैं । इनकी वन्दना " श्रीशङ्करदिग्विजय " के मङ्गलाचरण में भी हुई है ।[1] प्रत्येक सर्ग के अन्त में " माधवीया " पद

१- प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम् ।

श्रीशं०दि० मङ्गलाचरणम्

का उल्लेख[1] " श्रीशङ्करदिग्विजय " कृति के माधवाचार्यरचित होने का प्रबलतम प्रमाण है । अत: उपर्युक्त अकाट्य प्रमाणों के आधार पर " श्रीशङ्करदिग्विजय " सायणभ्राता माधवाचार्य की ही कृति सिद्ध होती है । हरद्वार[2] से प्रकाशित पं० बलदेव उपाध्यायकृत हिन्दी अनुवाद संस्करण के मुख पृष्ठ पर विद्यारण्य का नामोल्लेख सम्भवत: मात्र जनश्रुति के आधार पर हुआ है । इसे प्रमाणकोटि में कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता है ।

गुरु विद्यातीर्थ की वन्दना तो एक सामान्य कार्य है । यह माधवाचार्य और विद्यारण्य दोनों विद्वानों के द्वारा समान रूप से सम्पन्न किया गया है । अत: यह गुरुवन्दना दोनों पक्षों माधवाचार्य और विद्यारण्य की अभिन्नता किम्वा भिन्नता के लिये समान रूप से प्रमाण है । अतएव यह प्रमाण अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

इस प्रकार अधिक पुष्ट प्रमाण से यह निर्णीत होता है कि " श्रीशङ्करदिग्विजय " सायणभ्राता माधवाचार्य की ही कृति है । माधवाचार्य से भिन्न विद्यारण्य को इसका कर्ता मानना कम से कम संदिग्ध तो अवश्य है । अत: आगे प्रमुखता से माधवाचार्य को ही श्रीशङ्करदिग्विजयकार के रूप में स्वीकार करते हुए उनकी कृतियों आदि के आधार पर उनका परिचय प्राप्त करने का प्रयास किया गया है ।

१- इति श्रीमाधवीये ---------- ।

श्रीशं०दि०-पुष्पिका

२- हरिद्वार (?)

द्वितीय खण्ड

माधवाचार्य का परिचय

१- अवतारणा

संस्कृतसाहित्य में माधव नाम से कई व्यक्तियों का परिचय प्राप्त होता है। सायणभ्राता माधवाचार्य के विषय में स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक होगा कि इन माधवों से सायणभ्राता माधवाचार्य का पार्थक्य स्पष्ट किया जाय।

क- सामसंहिता के भाष्यकार माधव

सामसंहिता पर भाष्य लिखने वाले " माधव " का परिचय हमें नारायण के पुत्र के रूप में प्राप्त होता है। इनका समय 600 ई० के लगभग निश्चित किया जाता है[१]। स्वयं माधव ने भाष्य के प्राक्कथन में अपना परिचय नारायण के पुत्र के रूप में दिया है[२]। उपर्युक्त माधव के परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सायणभ्राता माधवाचार्य कदापि नहीं हो सकते क्योंकि सायणभ्राता माधवाचार्य का समय चौदहवीं शताब्दी निर्णीत हुआ है। इसके अतिरिक्त इनके पिता का नाम " मायण " था जिसका प्रमाण स्वयं सायण और माधवाचार्य की कृतियाँ हैं।

१- Here there are two commentaries on the Sāmaveda, one by Madhava son of Nārāyaṇa who belongs to about 600 A.D... Sāmvedasaṁhitā - prefactory note by G. Srinivasamurti.

२- " छन्दरसिकोपररसस्या: पञ्चाग्निना माधवेन श्रीनारायणसूनुना सद्धिः परां भक्तिमालम्ब्य तत्प्रसादमाष्यं कृतम्।".

सामवेदभाष्य की प्रस्तावना से उद्धृत

ख- ऋग्वेद के भाष्यकार माधव

दूसरे माधव वेङ्कट के पुत्र का परिचय ऋग्वेद के भाष्यकार के रूप में प्राप्त होता है[१]। इनका समय १३०० वि० सं० से पूर्व निर्णीत हुआ है[२]। देवराजयज्वा ने अपने निघण्टु भाष्य के उपोद्घात[३] में वेङ्कटाचार्यपुत्र माधव का भाष्यकार के रूप में उल्लेख किया है। भाष्य के प्रथम अध्याय के अन्त में इन्होंने अपने पितामह का नाम " माधव " पिता का नाम वेङ्कटाचार्य, मातामह का नाम भवगोल और माता का नाम सुन्दरी लिखा है। इन्होंने मातृगोत्र " वाशिष्ठ " तथा अपना गोत्र " कौशिक " बताया है। इनके अनुज का नाम " संकर्षण " था। इनके " वेङ्कट " और " गोविन्द " नामक दो पुत्र थे। ये दक्षिणापथ के चोल देश (आन्ध्रप्रान्त) के रहने वाले थे[४]।

उपर्युक्त माधव भी सायणभ्राता माधवाचार्य से पृथक् सिद्ध होते हैं क्योंकि दोनों के माता-पिता और अनुजों के नामों में अन्तर होने से

- -

१- श्रीवेङ्कटार्यतनयो व्याचिकीर्षति माधवः ।
ऋक्संहितामस्य देवः प्रसीदतु विनायकः ।।
वेङ्कटमाधवभाष्य १ - १

२- द्रष्टव्य - पं० बलदेव उपाध्याय - वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० सं० ५२

३- वेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतो नामानुक्रमण्याः आख्यातानुक्रमण्याः ---------- तदीयस्य भाष्यस्य च बहुशः पर्यालोचनात् बहुदेशसमानीतात् ---------- पाठः संशोधितः ।
देवराजयज्वाकृत निघण्टुभाष्य

४- द्रष्टव्य - पं० बलदेव उपाध्याय - वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० सं० - ५१

में साथ-साथ काल में भी अन्तर है । इसी प्रकार गोत्र की पृथकता भी माधवाचार्य (सायणभ्राता) और वेङ्कटमाधव की भिन्नता सिद्ध करते हैं । जहाँ वेङ्कटाचार्यपुत्र माधव का गोत्र " कौशिक " है वहाँ सायणभ्राता माधवाचार्य का गोत्र " भारद्वाज " है ।

ग- तात्पर्यदीपिका के लेखक माधव

तीसरे माधव का परिचय " तात्पर्यदीपिका " के व्याख्याकार के रूप में प्राप्त होता है । बुक्क प्रथम राजा के शासनतन्त्र में इनका मन्त्री के रूप में महत्वपूर्ण योगदान था । यह एक प्रतापी और वीर योद्धा थे । धर्म के क्षेत्र में भी इन्होंने जीर्ण मन्दिरों का उद्धार करके प्रशंसनीय कार्य किया है । ये पश्चिमीभाग बनवासी प्रान्त पर शासन करते थे ।[१]

पं० बलदेव उपाध्याय[२] ने एपिग्राफिका कर्नाटिका में उद्धृत शिलालेखों के आधार पर इस माधवमन्त्री का परिचय इस प्रकार दिया है - इनके पिता का नाम चावुण्ड , माता का नाम माचाम्बिका था । उपनिषदों के विशद प्रचारक होने के कारण ये " उपनिषन्मार्गप्रवर्तकाचार्य " की उपाधि से विभूषित थे । इस उपाधि का उल्लेख " तात्पर्यदीपिका " में भी उपलब्ध होता है । इसके अतिरिक्त ये विख्यात शैवाचार्य काशीविलासक्रियाशक्ति के

- -

१- द्रष्टव्य - वासुदेव उपाध्याय - विजयनगर साम्राज्य का इतिहास - पृ० सं० ३४

२- द्रष्टव्य - पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृ० सं० १३५ से १४० ।

शिष्य थे इस बात का भी प्रमाण " तात्पर्यदीपिका " में प्राप्त होता है[1]। इनके गौत्र का नाम " आङ्गिरस " उल्लिखित हुआ है[2]। इनकी मृत्यु १३६१ ई० में हुई थी।

एस० श्रीकान्तैया ने अपनी पुस्तक " फाउन्डर्स आफ विजयनगर " में इनका मृत्यु स्थल पश्चिमी भाग माना है[3]।

उपर्युक्त माधव भी सायणभ्राता माधवाचार्य से भिन्न सिद्ध होते हैं क्योंकि माता-पिता, गौत्र और गुरु के नाम दोनों माधवों के भिन्न-भिन्न हैं। सायणभ्राता माधवाचार्य के माता-पिता और गौत्र के नामों का अन्य माधवों के सम्बन्ध में उल्लेख किया जा चुका है अतः वहीं देखकर इनसे तुलना कर लेनी चाहिए। सायणभ्राता माधवाचार्य के तीन गुरुओं - विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकण्ठाचार्य का उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत माधवमन्त्री के गुरु " काशीविलासक्रियाशक्ति थे। इसी प्रकार दोनों के मृत्युवर्ष में भी भिन्नता विद्यमान है। जहाँ माधवमन्त्री का मृत्युवर्ष १३६१ ई० निर्णीत हुआ है वहाँ सायणभ्राता माधवाचार्य का मृत्युवर्ष १३८७ ई० निर्णीत है।

- -

१- श्रीमत्काशीविलासाख्यक्रियाशक्तीशसेविना ।
- - - - - - - - - - - - - - - - - - ॥
वेदशास्त्रप्रतिष्ठात्रा श्रीमाधवमन्त्रिणा ।
तात्पर्यदीपिका सूतसंहिताया विधीयते ॥
इति श्रीमत्काशीविलासक्रियाशक्तिपरमभक्तश्रीमत्त्र्यम्बकपादाब्जसेवा-परायणेनोपनिषन्मार्गप्रवर्तकेन श्रीमाधवाचार्येण विरचितायां सूतसंहिता-तात्पर्यदीपिकायाम् ------ ।
तात्पर्यदीपिका - अध्याय प्रथम - २, ३ और पुष्पिका

२- पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृ० सं० १३६

३- द्रष्टव्य - पृ० सं० १५४ ।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सायणभ्राता माधवाचार्य पूर्वचर्चित तीनों माधवों से भिन्न थे । अतः आगे श्रीशङ्कर - दिग्विजयकार के रूप में सायणभ्राता ही माधवाचार्य का विशद परिचय उपलब्धसाक्ष्यों विशेषकर उनकी कृतियों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कराया गया है ।

२- सायणभ्राता माधवाचार्य

क- पारिवारिक परिचय

सायणभ्राता माधवाचार्य का परिचय हमें इनकी ही कृतियों से सुगमतापूर्वक प्राप्त हो जाता है ।

" पराशरस्मृति " में इन्होंने अपने पिता का नाम " मायण " माता का नाम " श्रीमती " और " सायण " तथा " भोगनाथ " नामक दो भाइयों का उल्लेख किया है[1]।

माधवाचार्य सायण के ही भाई थे इस बात की पुष्टि सायण के ग्रन्थ " माधवीयाधातुवृत्ति " से भी होती है । सायण ने भी अपने पिता का नाम मायण लिखा है[2]।

१- श्रीमती जननीयस्य सुकीर्तिर्मायणः पिता ।
सायणभोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ ।।
पराशरमाधव - प्रायश्चित्तकाण्ड - चतुर्थ अध्याय - मङ्गलाचरण

२- इति पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्राधीश्वरकम्पराजसुतसङ्गमराजमहामन्त्रिणा मायणपुत्रेण माधवसहोदरेण सायणेन विरचितायां माधवीयायां धातुवृत्तौ ——— ।
माधवीयाधातुवृत्ति की पुष्पिका

ख- गुरु

माधवाचार्य ने " कालनिर्णय " नामक अपनी पुस्तक में विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकण्ठाचार्य नामक गुरुओं के प्रति आदर व्यक्त किया है।[1] " पराशरमाधव " में भी इन्हीं तीनों गुरुओं के नामों का उल्लेख हुआ है।[2]

यदि माधवाचार्य और विद्यारण्य को अभिन्न स्वीकार किया जाये तो यह बात उल्लेखनीय है कि माधवाचार्य ने अपनी कृतियों में इन तीनों गुरुओं में से विद्यातीर्थ का नाम अनेक बार और आदर के साथ अभिहित किया है। " अनुभूतिप्रकाश " नामक ग्रन्थ के तो प्रत्येक अध्याय के अन्त में इनके द्वारा विद्यातीर्थ गुरु के अनुग्रह का स्मरण किया गया है। इसी ग्रन्थ के एक स्थान पर इन्होंने विद्यातीर्थ को स्पष्टतः मुख्यगुरु कहा है और उनसे अपनी रक्षा करने की प्रार्थना की है।[3]

" जीवन्मुक्तिविवेक " जो माधवाचार्य की कृति सिद्ध होती है में भी माधवाचार्य ने विद्यातीर्थ के श्वास को वेद कहकर उनके प्रति अतिशय आदर प्रदर्शित किया है।[4]

१- लब्ध्वामाकलयन् प्रभावलहरीं श्रीभारतीतीर्थतो ।
विद्यातीर्थमुपाश्रयन् हृदि भजे श्रीकण्ठमव्याहतम् ।।
कालनिर्णय - मङ्गलाचरण

२- लब्ध्वामाकलयन् प्रभावलहरीं श्रीभारतीतीर्थतो ।
विद्यातीर्थमुपाश्रयन् हृदि भजे श्रीकण्ठमव्याहतम् ।।
पराशरमाधव - प्रायश्चित्तकाण्ड - चतुर्थ अध्याय- मङ्गलाचरण

३- सोऽस्मान्मुख्यगुरुः पातु विद्यातीर्थमहेश्वरः ।।
अनुभूतिप्रकाश - द्वादशोऽध्याय - १२०

४- यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ।।
जीवन्मुक्तिविवेक - प्रथमप्रकरण- १

" जैमिनीयन्यायमालाविस्तर "[1] और " श्रीशङ्करदिग्विजय "[2] में भी विद्यातीर्थ गुरु की वन्दना की गयी है। यहाँ पर इनके द्वारा विद्यातीर्थ को परमात्मस्वरूप बताया गया है। इस प्रकार अनेक ग्रन्थों में माधवाचार्य द्वारा विद्यातीर्थ का नामोल्लेख माधवाचार्य की इनके प्रति अतिरिक्त श्रद्धा को द्योतित करता है।

ग- आश्रयदाता

मीमांसा के सूत्रों की बोधगम्यता के लिये सायणभ्राता माधवाचार्य ने " न्यायमाला " नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में माधवाचार्य ने अपना जो परिचय दिया है उससे स्पष्ट होता है कि ये विजयनगर साम्राज्य के राजा बुक्क के राज्याश्रित थे। इसी राजा की प्रेरणा से इन्होंने " न्यायमाला " पर " विस्तर " नामक टीका लिखी है।[3] " पराशरमाधव " नामक ग्रन्थ में भी इसी राजा के लिये प्रशंसा

- -

१- वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥
विद्यातीर्थमुनिस्तदात्मनि लसन्मूर्तिस्त्वनुग्राहिका ,
तेनास्य स्वगुणैरखण्डितपदं सार्वज्ञ्यमुद्योतते ॥
जैमिनीयन्यायमालाविस्तर - मङ्गलाचरण- १ और ३

२- प्रणम्य परमात्मानं विद्यातीर्थरूपिणम् । श्रीशङ्करदिग्विजय -मङ्गलाचरण

३- स खलु प्राज्ञजीवातुः सर्वशास्त्रविशारदः ।
अकरोद् जैमिनिमते न्यायमालां गरीयसीम् ॥
तां प्रशस्य सभामध्ये वीरश्रीबुक्कभूपतिः ।
कुरु विस्तारमस्यास्त्वमिति माधवमादिशत् ॥
निमाय माधवाचार्यो विद्वदानन्ददायिनीम् ।
जैमिनीयन्यायमालां व्याचष्टे बालबुद्धये ॥
जैमिनीयन्यायमालाविस्तर - मङ्गलाचरण- ५, ६, ८

सूचक वाक्य उपलब्ध होते हैं।[1] माधवाचार्य के द्वारा वेदार्थ के प्रकाशन का कार्य इसी राजा के आदेश से किया गया इसका स्पष्ट सङ्केत "तैत्तिरीयसंहिता" में प्राप्त होता है।[2]

माधवाचार्य विद्यारण्य नाम ग्रहण करने के पश्चात् हरिहर प्रथम के भी राज्याश्रित रहे ऐसा उल्लेख कहीं-कहीं प्राप्त होता है।[3]

घ- जीवनकाल

माधवाचार्य ने अपनी जन्मतिथि का उल्लेख किसी भी ग्रन्थ में नहीं किया है। माधवाचार्य के आश्रयदाता बुक्क (प्रथम) राजा का शासनकाल ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर चौदहवीं शताब्दी सिद्ध होता है।[4] इसी के आधार पर माधवाचार्य का काल चौदहवीं शताब्दी कहा जा सकता है।

माधवाचार्य और विद्यारण्य को अभिन्न मानने पर माधवाचार्य के काल को सूचित करने वाले अनेक शिलालेखीय साक्ष्य उपलब्ध होते हैं।

- -

१- सत्यैकव्रतपालको द्विगुणधीस्त्यार्थी चतुर्वेदिता ।
पञ्चस्कन्धकृती षडन्वयदृढ: सप्ताङ्गसर्वंसह: ।।
अष्टव्यक्तिकलाधरो नवनिधिपुष्पदशप्रत्यय: ।
स्यात्तौ क्षाय धुरन्धरो विजयते श्रीबुक्कणक्ष्मापति: ।।
पराशरस्मृति (माधव) - प्रायश्चित्तकाण्ड- चतुर्थ अध्याय

२- यत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद्बुक्कमहीपति: ।
आदिशन्माधवाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ।।
तैत्तिरीय संहिता - प्रथम खण्ड - प्रथम भाग- ३

३- द्रष्टव्य - The Indian Historical Quarterly Vol.VI.PageNo.712

४- पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृष्ठ संख्या ३३

पं० बलदेव उपाध्याय ने हरिहर द्वितीय के समकालीन एक शिलालेख के आधार पर माधवाचार्य या विद्यारण्य का जन्म वि०सं० १३५३ (१२९६ ई०) में तथा मृत्यु वि० सं० १४४३ (१३८६ ई०) में स्वीकार किया है।[1]

एस० कृष्णस्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक " सोर्सेज आफ विजयनगर हिस्ट्री "[2] की भूमिका में माधवाचार्य या विद्यारण्य के द्वारा स्वीकृत ८५ वर्ष की आयु के आधार पर इनकी मृत्यु वर्ष से ८५ वर्ष पूर्व के वर्ष को इनका जन्मवर्ष स्वीकार किया है। माधवाचार्य की मृत्यु १३८७ ई० में हुई थी। १३८७ ई० में से ८५ वर्ष कम कर देने पर १३०२ ई० इनका जन्म वर्ष सिद्ध होता है।[3] प्रसिद्ध इतिहासकार एच० हेरास[4] तथा एस० श्रीकान्तैया[5] ने भी पं० बलदेव उपाध्याय के द्वारा स्वीकृत वर्ष को माधवाचार्य का मृत्यु वर्ष स्वीकार किया है।

१- पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृष्ठ संख्या १४८

२- परित्यक्त्वा देवान् विविधविधिसेवाकुलतया ।
   मया पञ्चाशीतेरधिकमुपनीते तु वयसि ॥
   पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृ०सं० १४७ पर देव्यपराधक्षमास्तोत्र से उद्धृत

३- The Date of death of Mādhavāchārya is now as certained to be A.D. 1387 on epigraphical evidence, and he himself says that he lived 85 years. So the period of his life is clearly A.D. 1302 to 1387.
Sources of Vijaynagra History - Introductory Page No.2.

४- In 1386 Vidyāranya died at Hampi (Vijaynagara)
'Begnnings of Vijaynagar History' - Page No.16

५- माधव आमात्य से माधवाचार्य की तुलना करने के अवसर पर उपलब्ध प्रसङ्ग-
Mādhavāchārya died in 1386............................
Founders of Vijaynagara - Page no. 154.

छ०- जीवनवृत्त

माधवाचार्य के मातापिता , गुरु और आश्रयदाता आदि का विवरण पूर्वपृष्ठों पर दिया जा चुका है । अब उनके जीवन में होने वाली घटनाओं के आधार पर उनके जीवनवृत्त को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है ।

माधवाचार्य बुक्क राजा के वंशानुगत मन्त्री थे।[१] विजय नगर की शासन प्रणाली और धार्मिक उत्थान में इनका महत्वपूर्ण योगदान था।[२] माधवाचार्य ~~और~~ हरिहर प्रथम की मृत्यु के पश्चात् बुक्क राजा के राज्य में मन्त्री का कार्य करने लगे थे । इसी समय राजा की प्रेरणा से इन्होंने अनेक दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया । दयालु और शास्त्री इन्होंने धार्मिक व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान किया । यवनों के भय से पलायित वैष्णव-भक्तों को इन्होंने अपने पास आमन्त्रण देकर अभय प्रदान किया।[३]

१३३६ ई० में हरिहर ने अपने भाइयों के साथ शृङ्गेरीमठ में विद्यमान विद्यारण्य से प्रथम भेंट की । एक अनुमान के अनुसार हरिहर ने इन्हीं की सम्मति से विजयनगर की स्थापना की।[४]

- -

१- अ उपाध्याय वासुदेव - विजयनगरसाम्राज्य का इतिहास - पृ०सं० १४४

ब **Sāyana refers to his elder brother as the hereditary Minister of king Bukka in opening verses of Purusarth Sudhanidhi. - Founders of Vijaynagara - Page No.105.**

२- पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृ० सं० १३३

३- वासुदेव उपाध्याय - विजयनगर साम्राज्य का इतिहास - पृ०सं० ३६

४- वासुदेव उपाध्याय - विजयनगर साम्राज्य का इतिहास - पृ०सं० २७

वि० सं० १४१३ (१३५६ ई०) में माधवाचार्य काशीपुरी में विद्यमान थे। बुक्क प्रथम ने उनके विरूपाक्षपुर लौटने के लिये विद्यातीर्थ और माधवाचार्य को एक पत्र लिखा था जिससे फलस्वरूप माधवाचार्य काशी से विरूपाक्षपुर प्रत्यावर्तित हुए थे।[1] १३६८ ई० में विद्यारण्य बुक्क प्रथम के मन्त्री बने। इसी समय इन्होंने बनवासी में शासन भी किया।[2] पं० बलदेव उपाध्याय ने माधवाचार्य के संन्यासग्रहण का समय बुक्क राजा के शासनकाल का अन्तिम चरण माना है। बुक्क प्रथम की मृत्यु १३७९ ई० में हुई थी। इसीके कुछ वर्ष पूर्व माधवाचार्य गृहस्थ आश्रम को त्यागकर शृङ्गेरीमठ के अध्यक्ष बने।[3] संन्यासग्रहण करने के पश्चात् माधवाचार्य विद्यारण्य के नाम से प्रसिद्ध हुए - ऐसा मत पं० बलदेव उपाध्याय का है। इसे उन्होंने अनेक साक्ष्यों से सिद्ध करने का प्रयास किया है।[4] अरसीवर्ष की अवस्था में माधवाचार्य विद्यारण्य बने। एस० श्रीकान्तैया ने अपनी पुस्तक "फाउन्डर्स आफ विजयनगर" की भूमिका में माधवाचार्य को विद्यारण्य के रूप में स्वीकार किया है।[5]

- -

१- पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृ० सं० १४८

२- "1368 Vidyāraṇya is said to the Minister of Bukka I. Another inscription calls him Mahapradhāna (Prime Minister) and states that he is ruling the Banavasi twelve thousand as a subordinate of Bukka I".

Rev.H. Heras - Beginnings of Vijayanagar History Page No.18.

३- पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृ० सं० १४८

४- आचार्य सायण और माधव - पृ० सं० १४१ से १४७ तक

५- "The rising son of Sangam...........enabled there to by the towering personality of the scholar - Statesman Mādhavāchārya known to the world as Vidyāraṇya Śripāda." Introductory - Page No. 3.

१३८६ ई० में इनकी मृत्यु " हम्पी " नामक स्थान में हुई[१]। हम्पी विजयनगर का प्राचीन नाम था।

माधवाचार्य के एक पुत्र मायण[२] और बहन सिंगली[३] के होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

च- विद्यारण्य और विजयनगर की स्थापना

चूँकि माधवाचार्य और विद्यारण्य की भिन्नता और अभिन्नता के पक्ष में कोई ऐकान्तिक निर्णय नहीं हो पाया है इस कारण माधवाचार्य और विद्यारण्य दोनों नामों पर आरोपित सभी कार्यों का अवलोकन और समीक्षा करना समीचीन प्रतीत होता है। इसी दृष्टिकोण से विद्यारण्य की विजयनगर की स्थापना में क्या भूमिका थी ? इस विवादग्रस्त प्रश्न पर आगे विचार किया जा रहा है।

विद्यारण्य ने विजयनगर की स्थापना की है - इस तथ्य को स्पष्ट करने वाले अनेक शिलालेखीयप्रमाण विद्यमान हैं जिनके आधार पर लोगों में यह दृढ़ धारणा बनी हुई है कि विद्यारण्य विजयनगर राज्य के संस्थापक थे।

- -

१- The death of Vidyāraṇya at Hampi Harihara II Makes a grant of land to the Śringerī maṭh to commemorate his death.
Rev.H.Heras - Begannings of Vijayanagar History-Page No.18.

२- पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृ० सं० १४६

३- S. Sri Kantya - Founders of Vijaynagara - Page No.104

प्रो० एच० हेरास ने विद्यारण्य और विजयनगर की स्थापना के सम्बन्ध का उल्लेख करने वाले १६५ शिलालेखों का सारिणीबद्ध अध्ययन किया और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला कि विजयनगर की स्थापना के सम्बन्ध में विद्यारण्य की भूमिका स्वीकार करना हमारी महान भूल है।[1]

हेरास ने विजयनगर की स्थापना के साथ विद्यारण्य का सम्बन्ध जोड़ने वाले नुनिज के द्वारा प्रस्तुत कहानी , कोलार और नेल्लोर जनपद के शिलालेखों[2] का अध्ययन कर उनके विद्यारण्य और विजयनगर की स्थापना के समकालीन न होने के कारण उनसे प्राप्त तथ्यों को विरोधी और भ्रामक बताते हुए उसकी प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त किया।[3]

इसी प्रकार सूर्यनारायणराव , कृष्णस्वामी आयङ्गर और कृष्णशास्त्री के द्वारा प्रकटित विचारों को हेरास ने शिलालेख सम्बन्धी न होने के कारण उनके प्रति भी सन्देह व्यक्त किया है।[4]

हेरास का मत है कि सोलहवीं सदी के शृङ्गेरी मठाचार्यों के द्वारा मिथ्या रूप से विद्यारण्य का विजयनगर की स्थापना से सम्बन्ध

१- In one of my previous papers; I also referred to Vidyāraṇya as the great helper of Harihara in the foundation of Vijayanager. I now acknowledge my mistake. - Beginnings of Vijayanager History- P.No.14

2. H.Heras - Beginnings of Vijayanager History. P.No.2 to 3 and P.No.5 to 7.

3. H.Heras - Beginnings of Vijaynager History-P.No.3,4 and8

4. H.Heras - Beginnings of Vijaynager History - P.No.11 to 14.

जोड़ दिया गया है वस्तुत: होयसल वंश के प्रख्यात नरेश वीर बल्लाल तृतीय के द्वारा विजयनगर की स्थापना हुई है। वीर बल्लाल तृतीय ने अपने राज्य को यवन आक्रमणों से रक्षा के निमित्त उत्तरी सीमा पर श्रीवीर-विजय-विरूपाक्षपुर की स्थापना की थी इसका ही संक्षिप्त नाम विजयनगर पड़ा।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि एच० हेरास ने विजयनगर की स्थापना में विद्यारण्य को उत्तरदायी नहीं माना है।

एस० श्रीकान्तैया ने एच० हेरास के द्वारा परीक्षित शिलालेखों का पुनर्परीक्षण किया और यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि एच० हेरास ने विजयनगर को वर्णित करने वाले शिलालेखों का परीक्षण किया था न कि विजयनगर की स्थापना में विद्यारण्य की भूमिका वर्णित करने वाले शिलालेखों का।[2]

एच० हेरास ने विजयनगर की स्थापना के सन्दर्भ में विद्यारण्य की भूमिका सिद्ध करने वाले जिन शिलालेखीय प्रमाणों की ऐतिहासिकता में सन्देह व्यक्त किया है उन्हीं शिलालेखीय प्रमाणों को एस० श्रीकान्तैया ने प्राचीन परम्परा का आधार मानते हुए विद्यारण्य को विजयनगर का संस्थापक सिद्ध करने का प्रयास किया है। एस० श्रीकान्तैया ने अपनी पुस्तक " फाउन्डर्स आफ विजयनगर " में पृ० सं० १२२ से १२८ तक उपर्युक्त प्रसंग से सम्बन्धित शिलालेखों का विवरण प्रस्तुत किया है।

१- पं० बलदेव उपाध्याय - आचार्य सायण और माधव - पृ० सं० १५२

२- Founders of Vijaynagara - Page No. 114.

तृतीय खण्ड

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के आधार पर माधवाचार्य का व्यक्तित्व

१- अवतारणा

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का दर्पण उसका आचार, विचार, व्यवहार और कार्य आदि कहा जा सकता है। इन्हीं के आधार पर उसके व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। काव्य भी कवि का एक कार्य है जिसके माध्यम से उसके व्यक्तित्व का स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " एक चरित्रवर्णनात्मक काव्य है। ऐसे काव्यों में कवि के लिये आत्मस्थापन का अवसर कम उपलब्ध रहता है। इसके अतिरिक्त असाधारण वीतराग पुरुष हमारे कवि माधवाचार्य जिन्होंने संन्यासी बनने के पश्चात् अपने संन्यास पूर्व नाम पर्यन्त का उल्लेख स्वग्रन्थों में करना अनुचित समझा है[१], अपने व्यक्तित्व की प्रत्यक्ष छाप काव्य में कैसे उतरने देते। किसी भी उक्ति को इन्होंने " स्वमत " के रूप में उद्धृत नहीं किया है। इनके विचार हमें पात्रों के माध्यम से ही प्राप्त होते हैं। फिर भी पात्रों के कथोपकथनों में लक्षित विचारों के सूक्ष्म विश्लेषण से परोक्षरूपेण इनके व्यक्तित्व के विषय में कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना उचित ही होगा कि माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ में अनेक श्लोकों का आहरण व्यासाचल कवि के ग्रन्थ - " शङ्करविजय: " से किया है। अत: ऐसे अंश से व्यतिरिक्त अंशों के आधार पर ही माधवाचार्य के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना उपयुक्त होगा और आगे ऐसा ही प्रयास किया गया है। उपर्युक्त वर्णित परिस्थितियों के

१- विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य है पूर्व पृ० सं० ६,१२

के कारण माधवाचार्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिचय मात्र " श्रीशङ्करदिग्विजय " के आधार पर प्राप्त करना असम्भव ही नहीं वरन् न्यायपूर्ण भी नहीं होगा तथापि जो कुछ भी उनके बारे में ज्ञात होता है उसका विवरण इस प्रकार है।

२- लोकव्यवहार निपुणता

माधवाचार्य लोकव्यवहार में निपुण थे। इन्होंने उत्तमपुरुष वाचक क्रिया द्वारा अपने विचारों को कहीं नहीं रखा है। पात्रों के मुख से निकलने वाली उक्तियों के माध्यम से इनके व्यक्तित्व का अनुमान लगाया जा सकता है।

संसार में अल्पज्ञ व्यक्ति दूसरों से द्वेष करता है परन्तु सर्वज्ञ व्यक्ति क्षुद्रता का पात्र नहीं होता है[१]- इस अनुभव को इन्होंने शङ्कराचार्य के भाष्य के दर्शन से प्रसन्न कुमारिलभट्ट की उक्ति के माध्यम से प्रकट किया है।

गुरु, राजा और देवता के पास कभी रिक्त पाणि नहीं जाना चाहिए[२] - इस सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप केरलनरेश के द्वारा गुरु शङ्कराचार्य से भेंट करने के अवसर पर सैकड़ों हाथियों, घोड़ों आदि के दान में प्रदर्शित होता है।

१- दृष्ट्वा भाष्यं हृष्टचेताः कुमारः प्रोचे वाचं शङ्करं देशिकेन्द्रम्।
लोके स्वल्पो मत्सरग्रामशाली सर्वज्ञानो नाल्पभावस्य पात्रम्॥
श्रीश० दि०, ७-८२

२- सोऽप्यतन्द्रितमभीरुपदाभिः प्राप्य तं सदनु सद्विरदाभिः।
उक्तिभिः सरसमञ्जुपदाभिः शक्तिमुत्तममभिज्ञपदाभिः॥
श्रीश० दि०, ५-११

ऋषियों के आगमन पर शङ्कराचार्य द्वारा उनके स्वागतार्थ मधुपर्क का प्रयोग किया गया है।[1] इससे माधवाचार्य के अतिथिसत्काररूप लोकव्यवहार के ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है।

निर्धनों के प्रति दया अधिक यश प्राप्त कराने वाली होती है अपेक्षाकृत धनिकों के प्रति दया से[2] - इस अनुभव को कवि ने सनन्दन के मुख से कहलवाया है।

माधवाचार्य को पूर्वजन्म में विश्वास था। इस बात का प्रमाण शङ्कराचार्य के प्रति देवी लक्ष्मी की यह उक्ति है - " हे वत्स ! तुम्हारे हृदय की बात मुझे ज्ञात है परन्तु इन लोगों ने पूर्वजन्म में कोई शुभ कार्य नहीं किया है। अतः इस समय ये लोग मेरे कृपाकटाक्ष के पात्र बनकर महनीयता कैसे प्राप्त कर सकते हैं।[3] "

- -

१- प्रणिपत्य स भक्तिसंनतः प्रसविन्या सह तान् विधानवित् ।
विधिवन्मधुपर्कपूर्वया प्रतिजग्राह सपर्यया मुनीन् ॥
विहिताञ्जलिना विपश्चिता विनयोक्त्याऽपितविष्टरा अमी ।
ऋषयः परमार्थसंश्रया अमुना साकमचीकरन् कथाः ॥
श्रीश० दि० , ५-३७,३८

२- स्यात्ते दीनदयालुताकृतयशोराशिस्त्रिलोकीगुरो
तूर्णं चेद्दयसे ममाथ न तथा कारुण्यतः श्रीमति ।
वर्षन्भूरि मरुस्थलीषु जलभृत्सद्भिर्यथा पूज्यते
नैवं वर्षशतं पयोनिधिजले वर्षन्नपि स्तूयते ॥
श्रीश० दि० , ६-७

३- विदितं तव वत्स हृद्गतं कृतमेभिर्न पुराभवे शुभम् ।
अधुना मदपाङ्गपात्रतां कथमेते मह्तामवाप्नुयुः ॥
श्रीश० दि० , ४-२८

एक अन्य स्थान पर शङ्०कराचार्य की माँ के प्रति ऋषियों की उक्ति में कवि का पूर्वजन्म के प्रति विश्वास प्रकट होता है - " हे पतिव्रते ! पूर्वजन्म में तुम्हारे पति ने पुत्र के लिये तपस्या से शङ्०करभगवान को प्रसन्न किया था ।[१] "

जिस प्रकार माधवाचार्य को पूर्वजन्म के प्रति श्रद्धा और विश्वास था उसी प्रकार पुण्यों के प्रति श्रद्धा और विश्वास था । इस बात का प्रमाण हमें ऋषियों के प्रति शङ्०कराचार्य की माँ की इस उक्ति में मिलता है - " अनेक दोषों का कोष यह कलि कहाँ ? और आप जैसे मुनियों के चरण के दर्शन कहाँ? यदि पुरातन पुण्य हो तभी यह प्राप्त हो सकता है । इस विषय में हमारे पुण्य हैं यह मैं क्या प्रपञ्चित करूँ ।[२] "

३- आस्तिक प्रवृत्ति

माधवाचार्य ने गुरु को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है । इसका प्रमाण " श्रीशङ्०करदिग्विजय " में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है । सर्वप्रथम ग्रन्थ के मङ्०गलाचरण में ही ईशवन्दना को प्रमुखता न देते हुए इन्होंने गुरु विद्यातीर्थ की वन्दना की है ।[३] इसी प्रकार

- -

१- तनयाय पुरा पतिव्रते तव पत्या तपसा प्रसादितः ।

श्रीश० दि० , ५-४४

२- क्व कलिर्बहुदोषभाजनं क्व च युष्मच्चरणावलोकनम् ।
तदलभ्यत चेत्पुराकृतं सुकृतं नः किमिति प्रपञ्चये ।।

श्रीश० दि० , ५-४० , श्लोक संख्या- ५-१०७ और ६-१२

३- प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम् ।

श्रीश० दि० , मङ्०गलाचरण ।

गुरु के प्रति अतिशय श्रद्धा को प्रकट करते हुए इन्होंने यह स्वीकार किया है कि सद्गुरु की कृपा से दुस्तर कार्य भी सम्भव है ।[1] शङ्कराचार्य और उनके शिष्यों के द्वारा भी स्थान-स्थान अपने गुरुओं के प्रति अतिशय आदर-स्नेह भक्ति और श्रद्धा आदि प्रकट किया गया है ।[2]

ये अपने जीवन में कीर्ति को धन-वैभव से अधिक प्रमुखता देते थे । इसी कीर्ति की लालसा में ये प्रचुर धन प्राप्ति के स्रोत क्षुद्रराजाओं का वर्णन न कर सद्गुरु शङ्कराचार्य के चरित्र के वर्णन को अधिक उपयुक्त समझते हैं ।[3]

४- विद्वत्ता

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में अन्य शास्त्रों की अपेक्षा माधवाचार्य के दर्शन का ज्ञान अधिक पुष्ट और व्यापक रूप में प्रकाशित होता है । दर्शन के सिद्धान्तों का इन्होंने न केवल पग-पग पर उल्लेख किया है अपितु उनका तुलनात्मक और प्रतीकात्मक रूप भी प्रस्तुत किया

- -

१- क्वैमे शङ्करसद्गुरोर्गुणगणा दिग्जालकूलंकषाः
कालोन्मीलितमालतीपरिमलावष्टम्भमुष्टिंधयाः ।
क्वाहं हन्त तथाऽपि सद्गुरुकृपापीयूषपारम्परी -
मग्नोन्मग्नकटाक्षवीक्षणबलादस्तिऽप्रशस्ताऽस्था ।।
श्रीश० दि० , १-६

२- श्लोक संख्या श्रीश० दि० , ५-६४ से ६७ , १६४ ; ६-६ से १३ , ७० ; ७-१०० ; ८-२४ से ४३ , ७८ ; १०-२० से ३३ , ३६-३७ ; १२-७४ ; १३-६२ ।

३- श्रीश० दि० , श्लोक संख्या - १-५ , ७ , ८ ।

है । वर्षा और शरद् ऋतुओं के वर्णन के अवसर पर अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का परिचय इतनी सूक्ष्मता , रमणीयता और सहजता से कराया है कि पाठकों के लिये यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वर्षावर्णन अधिक मनोहारी है या दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन । शरद्-वर्णन के अवसर पर उस प्रसङ्ग के कुछ सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

" यह चन्द्रमा मेघ के द्वारा मुक्त किये जाने पर अत्यन्त निर्मल कान्ति से उसी प्रकार चमकता है जिस प्रकार निर्मल ज्ञान तत्त्वज्ञानियों के माया के आवरण के छूट जाने से प्रकाशित होता है ।[1] "

" हंस के साथ शोभित होने वाला , धूलि से रहित तरङ्ग से विरहित , पङ्क को दूर करने वाला तालाब का यह गम्भीर जल उसी प्रकार प्रकाशित होता है जिस प्रकार तुम्हारा (शङ्कर का) चित्त जो परमहंस (साधु) के साथ रहने से रजोगुणहीन है शोभरहित है , पाप विरहित है तथा अत्यन्त गम्भीर है ।[2] "

" मेघों के चले जाने सुन्दर प्रकाश वाले शुभ नक्षत्र उसी प्रकार चमकते हैं जिस प्रकार राग-द्वेष के छूट जाने पर मैत्री आदि गुण प्रकाशित होते हैं ।[3] "

तन्त्रशास्त्र से भी माधवाचार्य परिचित थे । मूकाम्बिका देवी की स्तुति इन्होंने तन्त्रशास्त्रीय अकारादि कलाओं का सङ्केत इस प्रकार किया है -

- -

१- श्रीश० दि० , ५-१४२

२- श्रीश० दि० , ५-१४७

३- श्रीश० दि० , ५-१४३ ।

" जो अङ्गोपि कलाएँ तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध हैं उनमें निवृत्ति प्रदान करने वाली बोधिनी आदि पाँच कलाएँ मुख्य हैं । हे माता ! उनके भी ऊपर चमकने वाले तुम्हारे चरण कमल को पण्डित लोग भजते हैं ।[१] "

सङ्गीतशास्त्र में इनकी गति थी । इसका प्रमाण पद्मपाद के आध्यात्मिक गायन के वर्णन के अवसर पर " मूर्च्छना " पद का प्रयोग है ।[२] सङ्गीतशास्त्र में " मूर्च्छना " पद का तात्पर्य स्वरों का क्रम से आरोह तथा अवरोह है ।

क्वचित्-क्वचित् माधवाचार्य के सामुद्रिक[३] और ज्योतिष[४] शास्त्र का ज्ञान भी दृष्टिगत होता है ।

१- अष्टोत्तरत्रिंशतियाः कलास्तास्वर्ध्याः कलाः पञ्चनिवृत्तिमुख्याः ।
तासामुपर्यम्ब तवाङ्घ्रिपद्मं विद्योतमानं विबुधा भजन्ते ।।
श्रीश० दि०, १२-३१

२- रुचिरवेणाः (समास्नाय) तां संसदं नयनसंज्ञावितीर्णासिना मुमुना ।
सन्तिसृष्टास्ततः सुस्वरं मूर्च्छनापदविदस्ते जगुर्मोक्षयन्तः समाम् ।।
श्रीश० दि० , १०-४४

३- मूर्धनि हिमकरचिह्नं निटिले नयनाङ्कमंसयोः शूलम् ।
वपुषि स्फटिकसवर्णं प्राशास्तं मेनिरे शम्भुम् ।।
नागैनोरसि चामरेण चरणौ बालेन्दुना फालके
पाण्योश्चक्रगदाधनुर्डमरुकैर्मूर्ध्नि त्रिशूलेन च ।
तत्रस्याद्भुतमाकलय्य ललितं तैसाकृते लाञ्छितं
चिह्नं गात्रममंस्त तत्र जनता नैऋर्निमित्तोक्षिकैः ।। श्रीश०दि०, २-६०,६२

४- लग्ने शुभे शुभयुते सुषुवे कुमारं श्रीपार्वतीव सुखिनी शुभवीक्षिते च ।
जाया सती शिवगुरोर्निजतुङ्गसंस्थे सूर्ये कुजे रविसुते च गुरौ च केन्द्रे ।।
श्रीश० दि० , २-७१ ।

५- न्यायप्रियता

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में माधवाचार्य एक अत्यन्त न्याय प्रेमी व्यक्ति के रूप में हमारे सामने आते हैं । स्वयं इन्होंने परशुराम द्वारा किये गये माँ के वध का समर्थन करके इसका प्रमाण दिया है ।[1]

६- वैराग्यप्रियता

जिस कुशलता से माधवाचार्य ने गृहस्थी के स्थूल-सूक्ष्म अनुभवों से हमें परिचित कराया है उसी कुशलता और विशदता से इन्होंने संन्यासी जीवन के कर्तव्यों और अनुभवों से परिचित कराने का प्रयास किया है । दुःख से छुटकारा प्राप्त करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को संसार का मोह त्याग कर वैराग्यग्रहण कर लेना चाहिए । इस सन्देश को पाठक तक पहुँचाने के लिये इन्होंने वर्षा और शरद् ऋतुओं के वर्णन को माध्यम बनाया है ।[2] इन वर्णन प्रसङ्गों में कवि ने जिस कुशलता का परिचय दिया है वह अत्यन्त सराहनीय है । इससे जीव और ब्रह्म की एकता और संन्यासियों के कर्तव्यों का बोध पाठकों को अनायास ही हो जाता है ।

इस प्रसङ्ग के कतिपय रमणीय स्थलों का विवरण इस प्रकार है -

१- दृष्टोऽपि दृष्टदोषस्तैर्ग्राह्य एव महात्मनाम् ।
जननीमपि किं साक्षान्नावधीद्भृगुनन्दनः ।। श्रीश० दि० , १-६४

२- विस्तृत जानकारी के लिये द्रष्टव्य है " श्रीशङ्करदिग्विजय में वस्तुवर्णन " नामक अध्याय के अन्तर्गत वर्षा आदि ऋतुवर्णन प्रसङ्ग ।

विष्णु के पद भाग (आकाश) में रहने वाला और विद्युत को उज्ज्वल चमक से प्रकाशित होने वाला मेघ भी वर्षा के आगमन से मलिनता को प्राप्त हो गया। उसे देखकर संसार में रहने वाला कौन व्यक्ति वैराग्य ग्रहण नहीं कर लेगा।[1] जलाशयों के दूषित हो जाने पर राजहंस उसे छोड़कर मानसरोवर की ओर गमन करने का इच्छुक हो जाता है। जीवन की लालसा वाले कौन पुरुष आश्रय (हृदय) के परिवर्तित हो जाने पर चिन्ता को प्राप्त करते हैं।[2]

मेघ और यतिश्रेष्ठ क्रमशः अपनी जलधारा और सुन्दर उपदेश रूप वाणी से औषधियों और अनुचरों को कृतार्थ कर शरद् ऋतु में इच्छित स्थानों पर गमन करते हैं।[3]

ये मेघ बहुकाल से सञ्चित जल द्विजों (पक्षियों या ब्राह्मणों) को वितरित कर, विद्युत रूपी स्त्रियों का त्याग कर उज्ज्वल होकर मेघपंक्ति रूपी गृह से बाहर जा रहे हैं। ठीक इसी प्रकार दन्तहीन वृद्ध लोग चिरकाल से एकत्रित धन-धान्य को ब्राह्मणों को दान कर, विद्युत् के समान चञ्चल स्त्रियों को छोड़कर, शुद्ध अन्तःकरण वाले होकर संन्यासग्रहण करने के लिये बहुत सी गलियों वाले भवन से निष्क्रमण कर रहे हैं।[4]

- -

१- श्रीश० दि०, ५-१२६

२- श्रीश० दि०, ५-१३०

३- श्रीश० दि०, ५-१४१

४- श्रीश० दि०, ५-१४५ ।

चतुर्थ खण्ड

निष्कर्ष

अनेक पूर्वचर्चित अन्तर्द्वन्द्वों के होते हुए भी इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि " श्रीशङ्कर दिग्विजय " के रचयिता सायणभ्राता माधवाचार्य ही हैं। इनके पिता मायण और माता श्रीमती थीं। इनके भोगनाथ और सायण नामक दो भाई थे। इन्हें बुक्क प्रथम नामक राजा का मन्त्रित्व प्राप्त था।

सफल कवि की भाँति इनका व्यक्तित्व इनकी कृति में व्यापक रूप से उभर कर सामने नहीं आया है तथापि वीतरागिता, वैदिक परम्पराओं के प्रति श्रद्धा, शास्त्रज्ञता, गुरुभक्ति इत्यादि लोकादर्शों की अनुगामिता आदि गुण इनके व्यक्तित्व के अभिन्न अङ्ग सिद्ध होते हैं।

द्वितीय अध्याय

श्रीशङ्करदिग्विजय महाकाव्य का कथानक और उसकी समीक्षा

प्रथम खण्ड

" श्रीशङ्करदिग्विजय " का कथानक

१- शङ्कराचार्य के जन्म का रहस्य

" श्रीशङ्करदिग्विजय " महाकाव्य का प्रारम्भ नमस्क्रिया से हुआ है । यह पुण्य श्लोक श्रीशङ्करदिग्विजयकार माधवाचार्य के गुरु विद्यातीर्थ की वन्दना है । तत्पश्चात् कवि ने अपनी कृति और अपने आराध्य शङ्कराचार्य का गुणकीर्तन किया है । शङ्कराचार्य के गुण दिशाओं के किनारों को तोड़ने वाले और मालती पुष्प से भी अधिक सुगन्धित हैं अर्थात् उनके गुण सर्वव्यापी हैं । कवि चिरकाल से दुष्ट राजाओं के वर्णन से कलङ्कित अपनी वाणी के कलङ्क को शङ्कराचार्य के गुणवर्णनरूप जल से धोकर पवित्र करने का इच्छुक है ।

तेरहवीं शताब्दी में भारत में ईश्वर के प्रति विकृत धारणा प्रचलित हो गयी थी । शरीर , मन और बुद्धि को श्रेष्ठ लक्ष्य मान लिया गया था । बौद्धमतानुयायी वैदिक धर्म पर आक्षेप करने लगे थे । वैदिक वचनों को जीविका का साधन बताने लगे थे । वर्णाश्रम आचारों की निन्दा करते थे । चारों ओर नास्तिकता का वातावरण इतना अधिक छा गया था कि सन्ध्यादिकर्मानुष्ठान को कौन कहे , " यज्ञ " पद को सुनना भी लोग नापसन्द करते थे ।

कापालिक लोग भी वेदविरुद्ध आचरण करने लगे थे । इतना ही नहीं समय-समय पर वे वैदिकमतावलम्बियों को तंग भी किया करते थे । ब्राह्मणों के शीशरूपी पुष्पों से भैरव की अर्चना करते थे ।

सत्यवैदिकमार्ग का प्रबल विरोध करने और जनसमुदाय को बहकाने में जैनियों का योगदान भी अपर्याप्त नहीं था । इस प्रकार सर्वत्र वेदनिन्दात्मक , वेदसिद्धान्तरहित अनाचार , पापाचार और व्यभिचार की कर्णकटु दुन्दुभि बजने लगी थी । ऐसी भयङ्कर परिस्थिति ने देवगण को विवश कर दिया और वे अभयदान के लिये कैलाशपर्वतवासी भगवान शङ्कर की शरण में गये । भगवान शङ्कर ने अन्य देवों के साथ स्वयं मनुष्य का अवतार धारण कर वैदिक मार्ग प्रशस्त करने का आश्वासन दिया ।

२- <u>शङ्कर भगवान सहित अन्य देवताओं का मनुष्य रूप में जन्म</u>

केरल देश में " श्रीमद्वृष " नामक पर्वत पर भगवान शङ्कर शिवलिङ्ग के रूप में स्वयं आविर्भूत हुए । राजशेखर नामक राजा सुन्दर मन्दिर निर्मित कराकर इनकी नित्य पूजा किया करता था । इसी मन्दिर के निकट " कालटि " नामक अग्रहार में 'विद्याधिराज " नाम का एक सर्वज्ञ ब्राह्मण निवास करता था । यही ब्राह्मण भगवान शङ्कर के पिता हुए । विद्याधिराज का पुत्र ज्ञान में शिव और वचन में बृहस्पतितुल्य था । इसी कारण उसका नाम " शिवगुरु " रखा गया ।

गुरुकुल में रहकर शिवगुरु ने अपनी शिक्षा पूरी की । तत्पश्चात् इनका विवाह मघ नामक एक कुलीन ब्राह्मण की कन्या से सम्पन्न हुआ । विवाह के काफी दिन व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी जब ये पुत्रप्राप्ति

से वञ्चित रहे तब वे कल्पवृक्षातुल्य महादेव की शरण में गये । दोनों दम्पत्ति ने भगवान् शङ्०कर की कठोर तपस्या की । इस तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान शङ्०कर ने उन्हें सर्वगुण सम्पन्न सर्वज्ञ लेकिन अल्पायुवाला पुत्र प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया ।

धीरे-धीरे समय व्यतीत हो गया । शुभग्रहों से युक्त शुभ मुहूर्त में शिवगुरु ने पुत्र को प्राप्त किया । इस नवजात शिशु ने सबके हृदय में उत्कृष्ट सुख का प्रादुर्भाव किया । भगवान शङ्०कर की कृपा से उत्पन्न होने के कारण इनका नाम " शङ्०कर " रखा गया । इनके जन्म के समय सभी दिशाएँ निर्मल हो गयी थीं । वायु अद्भुत दिव्य गन्ध को चारों ओर विकीर्ण करने लगी । अग्नि प्रज्वलित हो उठी , उसकी विचित्र ज्वालाएँ दाहिनी ओर से निकलने लगी । सभी प्राणियों ने आपस में वैरभाव को विस्मृत कर दिये । वृक्षों और लताओं के द्वारा फलों और फूलों की राशियाँ मुञ्चित की गयीं । वर्षा होने लगी थी । अद्वैतवाद को न मानने वाले लोगों के हाथों में न्यस्त पुस्तकें अकस्मात् गिर पड़ी । वेदव्यास अत्यन्त प्रसन्न हुए । ब्राह्मणों को प्रचुर मात्रा में धनप्रदान किया गया ।

शङ्०कराचार्य के जन्मग्रहण करने के पश्चात् देवताओं ने भी वेदविद् ब्राह्मणों के घर जन्म ग्रहण किया । भगवान् विष्णु सकल कलाओं के निधान " विमल " नामक ब्राह्मण के पुत्र हुए । इनका नाम " पद्मपाद " पड़ा । वायु देवता ने " प्रभाकर " नामक ब्राह्मण के घर जन्मग्रहण किया । इनका नाम " हस्तामलक " रखा गया । वायु के दशवें अंश से " तोटक "

नामक विद्वान् की उत्पत्ति हुई है । " शिलादि " के पुत्र " नन्दी " ने भी इस भूतल पर " उदङ्क " नाम के ब्राह्मण के रूप में जन्म ग्रहण किया । ब्रह्मा " सुरेश्वर " के रूप में , बृहस्पति " आनन्दगिरि " के रूप में " अरुण " " सनन्दन " रूप में तथा " वरुण " " चित्सुख " नामक ब्राह्मण के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए ।

३- <u>शङ्कराचार्य का बालचरित</u>

सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान होते हुए भी शङ्कराचार्य ने मनुष्यजाति के धर्म का अनुसरण किया । उन्होंने धीरे-धीरे हँसना प्रारम्भ किया । चरणों से चलने के पूर्व वे उदरतल के बल से सरके । पलङ्ग पर लेट कर अपने पैरों को धीरे-धीरे पटकते थे । कवि ने उनकी इस पलङ्गताडनरूप क्रिया को देखकर द्वैतवादियों के मनोरथों के टुकड़े-टुकड़े होने के रूप में एक दार्शनिक नवीन कल्पना कर ली है । बाल्यावस्था में जब इन्होंने शब्दोच्चारण किया तब कोयल विह्वल हो उठी और जब उन्होंने चलना प्रारम्भ किया तब उनके पादसञ्चार को देखकर हंस लज्जित हो गया था ।

४- <u>शङ्कराचार्य का अङ्गवर्णन</u>

कवि माधवाचार्य ने शङ्कराचार्य के विभिन्न अङ्गों का मनोरम वर्णन किया है । कभी शङ्कराचार्य के चरण कवि को कमल के समान कोमल प्रतीत होते हैं तो दूसरे ही क्षण वे इसका निषेध कर देते हैं । कवि का मत है कि जो कमल अपने सौन्दर्य

से शङ्०कराचार्य के चरणों की बराबरी करने के लिये उपत हुआ था उस पर तो उनके (शङ्०कराचार्य के) शिष्य पद्मपाद ने अपना पैर रखा था । इनके चरण तत्वज्ञान रूपी फल को प्रदान करने वाले हैं । अत्यन्त सघन अज्ञान को मुट्ठी में भरकर पी जाने वाले हैं । भक्तों के समस्त दु:खों को दूर करने वाले हैं । पाप के समुदाय को समूल नष्ट करने वाले हैं । मद , मत्सर आदि के समूह को लूटने वाले हैं । तीनों तापों - आधिभौतिक , आधिदैविक और आध्यात्मिक के मर्म को छेदने वाले हैं । इतना ही नहीं कवि का मत है कि शङ्०कराचार्य के चरणोपासकों के पादरज का आलिङ्०गन मात्र ही तुरन्त निर्वाण प्रदान कर देता है तो शङ्०कराचार्य की क्या बात !

इनकी जंघाएँ ऐरावत हाथी के सूँड के समान सुशोभित होती हैं ।

तीन मेखलाओं से युक्त उनकी कटि मानों सोने की तीन लड़ियों से जटित स्फटिक पर्वत की तटी हो ।

कपाटफलक के समान इनका वक्षस्थल अत्यन्त विशाल पुष्ट तथा सुन्दर है । इनके वक्षस्थल के लिये कवि की कल्पना है कि वह एक बड़ी शय्या है जो पृथ्वी पर भ्रमण से उत्पन्न थकावट को दूर करने के निमित्त जयलक्ष्मी के लिये बिछी हुई है ।

इनके हाथों की कोमलता और सौन्दर्य को देखकर कमल अपने दलरूपीकपाट को दिन में क्या रात्रि में भी बन्द किये रहता है । उसे

शङ्कर से कहा है कि ये हाथ मेरी शोभा को चुराने वाले हैं । शत्रुओं को पराजित करने के लिये इन्हें दण्डे की आवश्यकता नहीं है इनका हाथ ही दण्ड की विशालता को धारण किये हुए है । इनके दोनों हाथ मानों दो विजयस्तम्भ हैं ।

कण्ठ शंख के समान है । इससे उत्पन्न होने वाली ध्वनि शत्रुओं के विजय करने के लिये जयशङ्ख ध्वनि के समान है ।

मुख चन्द्रमा के समान होने पर भी उससे श्रेष्ठ है क्योंकि वह दुष्प्राप्य सुधा को उड़ेलता रहता है । लाल-लाल ओष्ठों से युक्त दन्त पंक्ति ऐसी सुशोभित होती है मानों मूंगे की लता पर शरत्कालीन चन्द्रमा की छवि हो । इनके कपोलों को कवि ने ब्रह्मा द्वारा निर्मित सरस्वती के लिये दर्पण कहा है । मुख का जगत् प्रसिद्ध उपमान चन्द्रमा शङ्कराचार्य के मुख की बराबरी नहीं कर सकता क्योंकि चन्द्रमा नक्षत्रों के तेज पुञ्जों को हर लेता है परन्तु इनका मुख सज्जनों को तेजपुञ्ज प्रदान करता है ।

शङ्कराचार्य के नेत्र लक्ष्मी के स्नेह के निवासस्थल हैं । इन नेत्रों के कटाक्ष शरणागत संसारी पुरुषों की सदैव रक्षा किया करते हैं । इनके सम्पूर्ण शरीर की सुन्दरता के सामने कामदेव की भी सुन्दरता तुच्छ है ।

५- <u>शङ्कराचार्य के द्वारा विद्या का ग्रहण और उसका प्रचार</u>

प्रथम वर्ष में ही शङ्कराचार्य ने सब अक्षरोंसहित अपनी मातृभाषा मलयालम का

ज्ञान प्राप्त कर लिया था । तीसरे वर्ष में इन्होंने काव्य-पुराण सुनकर बिना विशेष मनन किये ही उसे स्वयं समझ लिया था । ये इतने मेधावी थे कि इनको विद्यादान करने में गुरु ने किसी प्रकार का कष्ट नहीं झेला । गुरु के बिना पढ़ाये ही ये पाठ को पढ़ लेते थे और अपने सहपाठियों को भी पढ़ा देते थे ।

बिना अध्यापन के ही इन्होंने ' भूः भुवः स्वः ' का उच्चारण करते हुए वेदों का अध्ययन कर लिया था । इन्होंने काव्य और तर्कशास्त्र में भी निपुणता प्राप्त कर ली थी । इन्होंने इतिहास , पुराण , महाभारत , स्मृति आदि अनेक शास्त्रों का बारम्बार अध्ययन किया । इन्होंने सांख्यशास्त्र ,पतञ्जलिनिर्मितयोगशास्त्र , कुमारिलभट्टरचित वार्तिक के सन्दर्भों के अर्थों के गहन तत्त्वों को भी जान लिया था । शान्तिपर्व में लिखे गये श्लोकों का अनेकशः मनन किया । सभी कलाएँ भी इन्हें प्राप्त थीं ।

गुरु गोविन्दनाथ से इन्होंने उपनिषद् के चार वाक्यों - तत्त्वमसि , प्रज्ञानं ब्रह्म , अहं ब्रह्मास्मि , अयमात्मा ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया था ।

चाण्डालवेशधारी विश्वनाथ ने भी इन्हें अद्वैततत्त्व का उपदेश दिया था ।

शङ्कराचार्य ने अपने ज्ञान का प्रचार भी खूब किया । श्रुतिमर्मज्ञ अनेक मेधावी शिष्यों ने इनसे विभिन्न दर्शनों , पातञ्जलयोगशास्त्र और

व्याकरण का विस्तार से विधिवत् ज्ञान प्राप्त किया । गहन अर्थ जानने के इच्छुक सनन्दन के लिये इन्होंने अपने सभी ग्रन्थों का तीन बार विवेचन किया ।

ब्राह्मणवेशधारी व्यास जी ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के विषय में इनकी परीक्षा भी ली । व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के प्रथमसूत्र , " तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् " की व्याख्या पूछी थी जिसे शङ्कराचार्य ने बड़ी कुशलता से स्पष्ट कर दिया ।

इन्होंने विभिन्न अद्वैतवाद विपक्षियों से शास्त्रार्थ करके पूरे भारत में अपने मत का प्रचार किया । जीवन के अन्तिम दिनों में इन्होंने गौड़पाद मुनि को अपने सभी ग्रन्थ पढ़कर सुनाये । माण्डूक्य - उपनिषद् और माण्डूक्यकारिका के भाष्यों को सुनकर गौड़पाद अत्यन्त प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा - " मेरी कारिका के भाव को प्रकट करने वाले तुम्हारे माण्डूक्य-भाष्य को सुनकर मुझे आज इतना हर्ष हो रहा है कि विद्वानों में शिरोमणि तुम्हें मैं वर देने के लिये उपस्थित हूँ । वर मांगो , तुम्हें क्या चाहिए ?" शङ्कराचार्य ने " ब्रह्म के चिन्तन में सदैव मेरा चित्त रमा रहे " यह वर मांगा । इस प्रकार शङ्कराचार्य का सम्पूर्ण जीवन अध्ययन-अध्यापन आदि विद्या के सोपानों में व्यस्त रहा ।

६- शङ्कराचार्य का संन्यासग्रहण

भगवान शङ्कर के अवतार शङ्कराचार्य को देखने के लिये उपमन्यु , दधीचि , गौतम , त्रिताल और अगस्त्य आदि

मुनिगण इनके पास आये । उसी समय उनकी माँ ने ऋषियों से अपने पुत्र के पूर्वजन्म की कथा पूछी । ऋषियों ने शङ्कराचार्य को भगवान शङ्कर का अवतार तथा उनकी सम्पूर्ण आयु मात्र बत्तीस वर्ष बताथी । पुत्र की अल्पायु को सुनकर इनकी माँ अत्यन्त दु:खी हुईं और वे जोर-जोर से रोने व विलाप करने लगीं । शङ्कराचार्य ने संसार और शरीर की अनित्यता प्रतिपादित करने वाले वाक्यों से अपनी माँ को सान्त्वना दी । उदाहरणार्थ - " इस भवमार्ग में भ्रमणकरने वाले मनुष्यों को भ्रमवश भी लेशमात्र सुख प्राप्त नहीं होता है । इसलिये मैं चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यास को ग्रहण कर भवबन्धन से मुक्ति पाने का प्रयास करूँगा । इस संसार में एक दूसरे का मिलन बटोहियों के समान है । वह व्यक्ति मूर्ख है जो आँधी की त्वरित गति से कम्पित , चीनांशुक की ध्वजा के कोने के समान चञ्चल इस शरीर में स्थिर होने की इच्छा करता है ।"

शङ्कराचार्य के संन्यास की बात सुनते ही माँ का शोक दुगुना बढ़ गया । वे संन्यासधर्म से विरत करने वाले वाक्यों का प्रयोग करके अपने पुत्र को समझाने लगीं । बुद्धिमान शङ्कराचार्य ने तर्कपूर्ण उक्तियों से अपनी माँ के शोक को दूर करने का प्रयास करते हुए आठ वर्ष की अवधि व्यतीत कर दी ।

संन्यासी बनने के लिये माँ के आज्ञा की किंचित् आवश्यकता है - ऐसा मन में विचार कर शङ्कराचार्य एक दिन जल से लबालब पूर्ण नदी में स्नान करने के निमित्त कूद पड़े ।

जल में प्रवेश करते ही इनके चरणकमल को किसी जलचर ने ग्रहण कर लिया । शङ्कराचार्य जोर-जोर से रोने लगे । रोने की आवाज सुनकर इनकी माँ दौड़कर नदी के तट पर आयीं । अवसर देखकर इन्होंने अपनी माँ से कहा - " यह जलचर मुझे तभी मुक्त करेगा जब मुझे आप संन्यास लेने की आज्ञा देंगी ।" जीवित रहने पर पुत्र का दर्शन होगा और मरने पर इसका दर्शन भी असम्भव होगा । ऐसा विचार करके उन्होंने पुत्र को संन्यासी बनने की आज्ञा प्रदान कर दी ।

जल से निकलने के पश्चात् शङ्कराचार्य ने अपनी माँ के दाह-संस्कार करने की प्रतिज्ञा की । इन्होंने अपनी माँ को आश्वासन भी दिया कि उनके सम्बन्धी उनकी (माँ की) देखभाल करेंगे और जब भी वे पुत्र का स्मरण करेंगी वे अवश्य उपस्थित होंगे ।

माँ से संन्यासी के कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करके शङ्कराचार्य अपने गुरु की खोज में घर से बाहर निकल पड़े । भ्रमण करते हुए ये गोविन्दनाथ मुनि के वन में पहुँचे । वहाँ वृक्ष स्वच्छ मृगचर्म तथा वल्कल वाली अपनी शाखाओं से मुनियों के निवास का सङ्केत कर रहे थे । वन में पहुँचकर इन्होंने गोविन्दनाथ के गुफा की तीन बार परिक्रमा की । इनकी भक्तिपूर्वक की गई स्तुति से प्रसन्न होकर यतिश्रेष्ठ गोविन्दनाथ जी ने इन्हें उपनिषद् के चार महावाक्यों के माध्यम से अद्वैतब्रह्म का उपदेश दिया ।

७- सनन्दन का संन्यासग्रहण

अखिलवेदवित् स्वप्रभा से दूसरों के तेज को नष्ट करने वाला एक ब्राह्मणकुमार बहुत आदर और श्रद्धा के साथ शङ्कराचार्य से मिलने आया । वह ब्राह्मणकुमार दुष्प्राप्य गुरुकृपारूपी नौकापर आरूढ़ होकर कठिन संसाररूपी सागर को पार करना चाहता था । इस कारण वह ब्रह्मचारी आते ही तुरन्त शङ्कराचार्य के चरणों पर गिर पड़ा । शङ्कराचार्य के द्वारा कृपापूर्वक उत्थापित किये जाने पर उसने कहा " मैं महात्माओं के दर्शन का इच्छुक हूँ । इसलिये आपके पास आया हूँ । कृपया आप मुझे संसारसागर से पार लगा दीजिए । मेरे गुण-दोषों का विचार मत करिये । कामक्रोध के पाश से मुक्त होकर मेरी बुद्धि अद्वैततत्व का साक्षात्(कार) करे तथा जीवन्मुक्ति के भव्य मन्दिर में विहार करे - मेरी यही इच्छा है ।" ब्राह्मणकुमार के इन वचनों को सुनकर शङ्कराचार्य ने उसके संन्यास-भाव को स्वकृपा से और भी उद्दीप्त किया । यह ब्राह्मणकुमार और कोई नहीं अपितु " सनन्दन " ही था । यही शङ्कराचार्य का प्रथम शिष्य हुआ । इसी का बाद में " पद्मपाद " नाम भी पड़ा ।

८- कुमारिलभट्ट का संन्यासग्रहण

कुमारिलभट्ट के रूप में भगवान शङ्कर के पुत्र कार्तिकेय ने पृथ्वी पर जन्म ग्रहण किया । ये बौद्धों के प्रबल विरोधी थे । इन्होंने राजा सुधन्वा के राज्य में वेदों की प्रामाणिकता को सिद्ध किया था । शङ्कराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य पर वार्तिक रचना करने में सामर्थ्यवान

शिष्य की खोज में कुमारिलभट्ट के पास गये । शङ्करा‍चार्य के पहुँचने के पूर्व ही कुमारिलभट्ट भूसे की अग्नि में अपने को समर्पित कर चुके थे । इतने बड़े मीमांसक को इस प्रकार निर्ममतापूर्वक शरीरपात करते देखकर शङ्कराचार्य को महान आश्चर्य एवं खेद हुआ । कुमारिलभट्ट शङ्कराचार्य की भावना से पूर्णत: अनभिज्ञ थे । वे शङ्कराचार्य को देखकर नितान्त प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने शिष्यों से शङ्कराचार्य की अर्चना करवायी । तत्पश्चात् शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य पर वार्तिक रचना करने के निमित्त उन्हें पुनर्जीवित करने की इच्छा प्रकट की । परन्तु कुमारिलभट्ट ने " बौद्धगुरु का तिरस्कार " और " जगत्कर्ता ईश्वर का निराकरण " रूप अपने इन दो महान अपराधों के प्रायश्चित्त को सर्वोपरि मान्यता प्रदान कर शङ्कराचार्य के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया । उन्होंने शङ्कराचार्य से " तारकमन्त्र " द्वारा संन्यास की दीक्षा ली । तत्पश्चात् भूसे की अग्नि में अपने शरीर को भस्म कर डाला ।

६- उभयभारती और मण्डनमिश्र का विवाह

भगवान शङ्कर की योजना के अनुसार स्वर्ग का श्रेष्ठ देवगण भी भूतल पर अवतरित हुआ । ब्रह्मा " सुरेश्वर " के रूप में भूतल पर प्रसिद्ध हुए । कुछ लोगों का मत है कि बृहस्पति " मण्डन " के रूप में विख्यात हुए ।

ब्रह्मा के अवतार ग्रहण करने पर उनकी पत्नी सरस्वती भी उनकी अनुगामिनी हुईं । वे शोण नदी के किनारे रहने वाले एक ब्राह्मण

के घर में उत्पन्न हुई । मर्त्यलोक में उनका नाम " उभयभारती " पड़ा । उभयभारती सरस्वती का अवतार होने के कारण अत्यन्त विदुषी थीं । सब शास्त्रों , षडङ्गवेदों और काव्यादि में निपुण थीं ।

उभयभारती अपने अनुरूप गुणी , रूपवान और विद्वान " विश्वरूप " (मण्डनमिश्र) नामक ब्राह्मणकुमार के प्रति आकृष्ट हुईं । इसी प्रकार विश्वरूप भी उभयभारती के गुणों के विषय में सुनकर उनसे मिलने को आतुर हुए । समागम के उपाय चिन्तन में रत थे दोनों दुःखी रहने लगे । उचित आचार-विहार भी नहीं किया करते थे जिससे उन दोनों के स्वास्थ्य में ह्रास होने लगा था । उन दोनों के कृश शरीर को देखकर उनके माता-पिता अत्यन्त चिन्तित हुए । माता-पिता के द्वारा अनेकशः पूछे जाने पर किसी तरह विश्वरूप ने अपने मन की भावना प्रकट कर दी । उनके पिता ने तुरन्त ही उभयभारती के घर पर ब्राह्मणों से अपने पुत्र के शादी का प्रस्ताव प्रेषित करवाया । उभयभारती और उनके माता-पिता इस प्रस्ताव से अत्यन्त प्रसन्न हुए । शुभ मुहूर्त का विचार स्वयं उभयभारती ने किया जिसमें उन दोनों की शादी सम्पन्न हुई । शादी के अवसर पर उभयभारती के पिता ने वर की माता को अपनी पुत्री के स्वभाव-विषयक सन्देश भिजवाया । कन्या को दिये गये पति , सास, देवर , श्वसुर और ननद विषयक तरह-तरह के उपदेशों का वर्णन भी उपलब्ध होता है ।

१०- <u>शङ्कराचार्य का विपक्षियों से शास्त्रार्थ</u>

क- <u>अवतारणा</u>

जयपराजय में परिणत होने वाले शास्त्र विषयक

सामान्य या विशेष चर्चा को शास्त्रार्थ कहा जाता है ।

भारतीय परम्परा में दो प्रकार के शास्त्रार्थ प्रचलित रहे हैं । पहला अपने सम्प्रदाय के सतीर्थों या आचार्यों के साथ शास्त्रार्थ और दूसरा अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों या अनुयायियों के साथ शास्त्रार्थ । प्रथम प्रकार के शास्त्रार्थ में भाग लेने वाले सभी प्रधानतया " वादी " कहलाते हैं क्योंकि वे एक ही मत के पोषक होते हैं किन्तु साधारण रूप से यत्र-तत्र प्रतिपादन वैविध्य के कारण वे एक दूसरे के " प्रतिवादी " ही होते हैं । दूसरे प्रकार के शास्त्रार्थ में अनुवाद (अनुकूलवदन) या संवाद होने पर भी सभी पक्ष प्रधानतया " प्रतिवादी " कहलाते हैं क्योंकि वे दूसरे मत के पोषक होते हैं । किन्तु साधारण रूप से यत्र-तत्र प्रतिपादन सामञ्जस्य के कारण वे एक दूसरे के " वादी " ही होते हैं ।

शङ्कराचार्य ने विपक्षियों से द्वितीय कोटि का शास्त्रार्थ किया है जिसका उल्लेख आगे सविस्तार किया गया है ।

ख- शङ्कराचार्य का मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ

कुमारिलभट्ट ने शङ्कराचार्य को वार्तिकरचनाकार के रूप में " मण्डनमिश्र " का नाम सुझाया था । मण्डनमिश्र विद्वान और मीमांसामत के पक्के समर्थक थे । उनकी रुचि कर्मकाण्ड में थी । अतः ब्रह्मसूत्रभाष्य पर वार्तिक लिखवाने के लिये यह आवश्यक था कि मण्डनमिश्र की रुचि अद्वैतवेदान्त की ओर जागृत की जाये । यह तभी सम्भव था जब कि मण्डनमिश्र के मत में दोष दिखाकर उसकी व्यर्थता प्रतिपादित की जाय । इसी उद्देश्य से शङ्कराचार्य और मण्डनमिश्र के बीच शास्त्रार्थ की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई ।

आकाशमार्ग से चलकर शङ्०कराचार्य मण्डनमिश्र के भवन में पहुँचे । उस समय उनका गृहद्वार बन्द था । वे अपने पिता के श्राद्ध-कर्म में तल्लीन थे । उनके गृह में पहले से आमन्त्रित " जैमिनि " और " व्यास " मुनि भी उपस्थित थे ।

श्राद्ध के अवसर पर अनाहूत संन्यासी " शङ्०कराचार्य " को देखकर मण्डनमिश्र अत्यन्त क्रुद्ध हुए और उन्होंने इन्हें दुर्वाक्य भी कहे । व्यासजी के हस्तक्षेप करने पर वे शान्त हुए । व्यासजी ने मण्डनमिश्र से शङ्०कराचार्य को भिक्षा देने के लिये भी कहा । मण्डनमिश्र द्वारा अन्न की भिक्षा दिये जाने पर शङ्०कराचार्य ने इसे अस्वीकार कर दिया और शास्त्रार्थ की भिक्षा-याचना की । शङ्०कराचार्य के इस विचार से मण्डनमिश्र अत्यन्त प्रसन्न हुए । वे इसी प्रतीक्षा में थे कि कोई व्यक्ति उनसे शास्त्रार्थ करे जिससे उनकी विद्वत्ता का समाज में खुलकर प्रकटन हो सके ।

शङ्०कराचार्य और मण्डनमिश्र के बीच शास्त्रार्थ की यह शर्त थी कि पराजित व्यक्ति विजेता व्यक्ति का शिष्य बनेगा । व्यासजी की आज्ञा और शङ्०कराचार्य की सम्मति से मण्डनमिश्र की पत्नी " उभयभारती " शास्त्रार्थ की निर्णायिका बनीं । उन्होंने जय-पराजय के निर्णय का एक विलक्षण और अलौकिक प्रकार उपस्थित किया । दोनों शास्त्रार्थियों के गले में उन्होंने एक-एक माला डाल दी । इन मालाओं की मलिनता ही उनके पराजय की सूचक थी ।

शास्त्रार्थ के लिये शङ्०कराचार्य का विषय था - " ब्रह्म एक सत्-चित्-निर्मल तथा परमार्थ है । जिस प्रकार शुक्ति रजत का रूप धारण

कर भासित होती है उसी प्रकार ब्रह्म स्वयं प्रपञ्चरूप से भासित होता है । ब्रह्म के ज्ञान से इस प्रपञ्च का नाश हो जाता है और बाहरी पदार्थों से हटकर जीव अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । उस समय वह जन्ममरण से रहित होकर मुक्त हो जाता है । "

मण्डनमिश्र का विषय था - " चैतन्यस्वरूप ब्रह्म के प्रतिपादन में वेदान्त प्रमाण नहीं है , क्योंकि सिद्धवस्तु के प्रतिपादन में उपनिषद् का तात्पर्य नहीं है । वेद का कर्मकाण्डभाग वाक्य के द्वारा प्रकाश्य सम्पूर्ण कार्य को प्रकट करता है अतएव वही प्रमाण है । शब्दों की शक्ति कार्यमात्र को प्रकट करने में है । कर्मों से ही मुक्ति प्राप्त होती है और उस कर्म का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन भर करना चाहिए । "

अपने सिद्धान्त की रक्षा करने में असमर्थ मण्डनमिश्र ने अद्वैतसिद्धान्त पर आक्षेप किया । उन्होंने शङ्कराचार्य से कहा -" जीव और ब्रह्म में वास्तविक एकता नहीं है क्योंकि इस विषय के समर्थन में सबल प्रमाणों का

अभाव है । " परन्तु शङ्कराचार्य ने उपर्युक्त युक्ति का खण्डन छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ अध्याय में वर्णित आरुणि और उद्दालक के वृत्तान्त से किया जिसमें आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु के लिये ब्रह्म और जीव की एकता को अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है ।

अ- " तत्त्वमसि " वाक्य का उपासनापरक अर्थविषयक शास्त्रार्थ

मण्डनमिश्र द्वैतवाद के समर्थक थे । अतः वे जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध करने वाले " तत्त्वमसि " वाक्य का कोई स्पष्ट अर्थ न मानकर , उपासनापरक अर्थ मानने पर बल देते हैं । इनके मतानुसार वेदान्त में " तत्त्वमसि " वाक्य उसी प्रकार पाप के विनाशक हैं जिस प्रकार " हुँ " " फट् " आदि शब्द निरर्थक होते हैं और केवल जप मात्र से पाप को दूर करने वाले हैं । इस उक्ति को भी शङ्कराचार्य ने यह कहकर निरस्त कर दिया कि - " हुँ " " फट् " आदि शब्द निरर्थक हैं इसलिये जपमात्र के लिये उपयोगी हो सकते हैं परन्तु " तत्त्वमसि " वाक्य का अर्थ स्पष्ट प्रतीत हो रहा है तब उसे जपमात्र के लिये उपयोगी क्यों माना जाय ?

मण्डनमिश्र ने पुनः आक्षेप किया कि " तत्त्वमसि " वाक्य का अर्थ आपाततः एकतापरक प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः वह यज्ञादि कर्मों के कर्ता की प्रशंसा करता है । इसलिये उसे " विधि का अङ्ग "मानना चाहिए । इसे सुनकर शङ्कराचार्य ने कहा कि कर्मकाण्ड से सम्बन्धित अनेक वाक्यों जैसे - " आदित्यो यूपः " आदि जो यूप को आदित्यरूप

से प्रशंसा करता है - को विधि का अङ्ग माना जा सकता है लेकिन " तत्वमसि " जैसे ज्ञानकाण्डपरक वाक्य विधि के अङ्ग नहीं हो सकते ।

अब मण्डनमिश्र ने ज्ञानकाण्डविषयक वाक्य प्रस्तुत किया - " अन्नं उपास्व " " मनो ब्रह्मेत्युपासीत " आदि ज्ञानकाण्ड से सम्बन्धित वाक्य कर्म समृद्धि के लिये मन और अन्न को " ब्रह्म " समझने का उपदेश करते हैं उसी प्रकार " तत्वमसि " वाक्य भी जीव में ब्रह्मदृष्टि करने का उपदेश करता है । अतः इसे अभिधायक वाक्य मानना चाहिए । शङ्कराचार्य ने बड़ी कुशलता से उत्तर दिया कि इन वाक्यों में लिङ्० तथा लोट् लकार सूचक पद है जिससे इनको अभिधायक वाक्य माना जा सकता है परन्तु " तत्वमसि " वाक्य में लिङ्०लकार सूचक पद का अभाव है । अतः इसे अभिधायकवाक्य नहीं माना जा सकता है ।

इसे सुनकर मण्डनमिश्र ने " रात्रिसत्र " वाक्य की चर्चा की जिसमें विधिलिङ्० पद के अभाव में भी प्रतिष्ठारूपी फल की प्राप्ति होने का प्रतिपादन है । शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया - यदि मुक्ति को उपासनाक्रिया द्वारा उत्पन्न मानें तो इसमें अनित्यता का गुण भी मानना पड़ेगा जबकि मुक्ति में नित्यतागुण माना गया है । ऐसी परिस्थिति में " तत्वमसि " वाक्य का अर्थ उपासना परक नहीं अपितु एकतापरक ही उपयुक्त है ।

ब- " तत्वमसि " वाक्य का सादृश्यपरक अर्थविषयक शास्त्रार्थ

जब मण्डनमिश्र " तत्वमसि " वाक्य का उपासनापरक अर्थ प्रतिपादित करने में असफल हुए

तब उन्होंने इसके सादृश्यपरक अर्थ के पक्ष में तर्क देना प्रारम्भ किया। उनका प्रथम तर्क था - " तत्त्वमसि " वाक्य में जीव को ईश्वर के समान समझने का उपदेश होने के कारण इसका सादृश्यपरक अर्थ समझना चाहिए " । इसके उत्तर में शङ्०कराचार्य का तर्क था " आप (मण्डनमिश्र) जीव और ईश्वर में समानता किस गुण के कारण मान रहे हैं - चैतन्य या सर्वज्ञता ? यदि चैतन्य के कारण जीव और ईश्वर में समानता मान रहे हैं तब तो हमारे ही पक्ष का समर्थन आप के द्वारा हो रहा है। यदि सर्वज्ञता गुण के कारण जीव और ब्रह्म को समान मान रहे हैं तो आपके सिद्धान्त (मीमांसा सम्मत आत्मविषयक सिद्धान्त) का विरोध होगा क्योंकि आपके मत में आत्मा सर्वज्ञ नहीं है। "

शङ्०कराचार्य द्वारा उपर्युक्त प्रश्न पूछे जाने पर मण्डनमिश्र ने कहा नित्यता गुण के कारण जीव और ब्रह्म समान है। इस पर शङ्०कराचार्य अत्यन्त खुश हुए क्योंकि इनके मत में भी नित्यता के कारण जीव और ब्रह्म में एकता स्वीकार की गयी है। अत: इन्होंने कहा - " आपका (मण्डनमिश्र का) यह सिद्धान्त मेरे सिद्धान्त के ही समान है। अब " तत्त्वमसि " वाक्य जीव को परमात्मा का बोधक बतलावे तो उसे स्वीकार करने में आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

मण्डनमिश्र ने पुन: तर्क प्रस्तुत किया - " आपके कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संसार को उत्पन्न करने वाला ईश चेतन होने के कारण जीव के समान है। इस प्रकार अचेतन परमाणु और प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति मानने वाले मतों का खण्डन भी स्वत: सिद्ध हो जाता है " ।

शङ्कराचार्य ने मण्डनमिश्र की इस शङ्का का समाधान इस उत्तर से किया - " संसार को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर चेतन होने के कारण जीव के समान है , आपके (मण्डनमिश्र के) इस कथन के अनुसार " तत्त्वमसि " वाक्य के स्थान पर तत् (जगत् का कारण ईश्वर) त्वम् (जीव) अस्ति (है) का प्रयोग होना चाहिए । अत: आपका तर्क शुद्ध नहीं है । जगत् का मूल कारण चेतन है इसका समर्थन उपनिषद् के " तदैक्षत " वाक्य से बहुत पहले ही हो चुका है । अत: अब कहने की क्या आवश्यकता है " ?

ग-अभेद का प्रत्यक्ष से विरोध विषयक शास्त्रार्थ

मण्डनमिश्र के सभी तर्क शङ्कराचार्य द्वारा निरस्त कर दिये जाने पर भी वे निराश नहीं हुए । वे जीव और ब्रह्म की एकता को विभिन्न प्रमाणों से असिद्ध करने के प्रयास में जुट गये । सर्वप्रथम उन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण से जीव और ब्रह्म की एकता की प्रतीति नहीं होती है इसे सिद्ध करने का असफल प्रयास किया । उनका प्रथम तर्क था " प्रत्येक व्यक्ति अपने को ईश से भिन्न प्रतीत करता है । अत: प्रत्यक्ष प्रमाण से जीव और ईश की एकता का बाध हो जाता है । इसका उत्तर शङ्कराचार्य ने यह कहकर दे दिया कि प्रत्यक्ष ज्ञान का उदय " इन्द्रिय " और " अर्थ " के सन्निकर्ष से होता है । परन्तु जीव और ईश की भेदप्रतीति में इन्द्रिय का अर्थ या विषय (ईश) के साथ सन्निकर्ष न होने से भेद रूप " प्रमा " की उत्पत्ति भी न हो पाने के कारण विरोध की शङ्का करना व्यर्थ है । "

परन्तु मण्डनमिश्र ने भेदरूप विशेषण के ज्ञान में विशेष्य विशेषणभाव सन्निकर्ष सम्भव है - ऐसा मानकर दूसरा तर्क दिया -

'मैं ईश से भिन्न हूँ' इस ज्ञान में भेद जीवात्मा का विशेषण है। ऐसी अवस्था में भेद और इन्द्रिय के साथ संयोग आदि न होने पर विशेष्य - विशेषणभाव-सन्निकर्ष तो माना जा सकता है।

शङ्कराचार्य ने मण्डनमिश्र के उपर्युक्त तर्क में " अतिप्रसङ्ग " दोष दिखाते हुए कहा - केवल विशेष्य-विशेषणभाव-सन्निकर्ष से किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। विशेष्य-विशेषणभाव-सन्निकर्ष[1] के साथ अन्य ५ में से किसी एक सन्निकर्ष का सहयोग भी अपेक्षित है। भेद का आश्रयभूत पदार्थ आत्मा यदि इन्द्रिय सन्निकृष्ट होती तब विशेष्य-विशेषणभावसन्निकर्ष से " प्रमा " की उत्पत्ति हो सकती थी परन्तु जीव और ईश्वर के भेदनिरूपणरूप " प्रमा " की उत्पत्ति में आत्मा का इन्द्रिय से सन्निकर्ष नहीं हो रहा है। अतः यहाँ विशेष्य-विशेषणभाव-सन्निकर्ष नहीं माना जा सकता।

मण्डनमिश्र ने मन और आत्मा को द्रव्य बताकर दोनों में संयोग-सन्निकर्ष कीसम्भावना को व्यक्त करते हुए अपने मत को उचित ठहराया। परन्तु शङ्कराचार्य ने उसे भी निरस्त करते हुए कहा -

---

१- न्यायशास्त्र के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ (विषय) सन्निकर्ष (सम्बन्ध) कुल ६ प्रकार के होते हैं - १- संयोग २- संयुक्तसमवाय ३- संयुक्त-समवेत-समवाय ४- समवाय ५- समवेत-समवाय और ६- विशेष्य-विशेषण-भाव-सन्निकर्ष इनमें से अन्तिम सन्निकर्ष निरपेक्ष रूप से किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं करा सकता। उसे पूर्ववर्ती पाँचों सन्निकर्षों में किसी एक का सहयोग अपेक्षित होता है।

" आप (मण्डनमिश्र) आत्मा को विभु मानते हैं या अणु ? दोनों ही अवस्था में आत्मा निरवयवी है । जगत् में अवयवियों का अवयवियों से संयोग देखा गया । अतः स्पष्ट है कि आत्मा का इन्द्रियसंयोग सर्वथा असम्भव है " । मण्डनमिश्र ने मन को इन्द्रिय मानकर उसे द्रव्य माना था । मण्डनमिश्र के इस विचार का भी खण्डन शङ्कराचार्य यह कहकर कर देते हैं कि मन इन्द्रिय नहीं है। मन तो प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियों की सहायता मात्र करता है जिस प्रकार दीपक दर्शन-कार्य में नेत्रों की सहायता करता है ।

उपर्युक्त तर्कों के पश्चात् मण्डनमिश्र ने स्वीकार कर लिया कि भेदज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है । लेकिन उनके मन में एक शङ्का फिर उठी कि " भेदज्ञान स्वयंसाक्षिस्वरूप है । इससे जीव और ईश के अभेदज्ञान का विरोध होता है । अतः दोनों में अभेद-प्रतीति मिथ्या है "। शङ्कराचार्य पुनः शङ्का समाधान करते हुए बोले - प्रत्यक्ष अविद्या से युक्त जीव और माया से युक्त आत्मा में भेद बताता है और श्रुति अविद्या से रहित जीव और माया से रहित ब्रह्म (शुद्ध चैतन्य) में अभेद का प्रतिपादन करती है । अतः प्रत्यक्ष और श्रुति के वर्ण्यविषय (आश्रय) भिन्न-भिन्न होने के कारण दोनों में अविरोध है । तुष्यतुदुर्जनन्याय से यदि दोनों में विरोध मान भी लिया जाय तो पूर्वप्रवृत्त प्रत्यक्ष दुर्बल तथा पश्चात्प्रवृत्त श्रुति प्रबल होगी । अतः " अपच्छेदन्याय "[१] से श्रुति प्रत्यक्ष को बाधित कर देगी जिससे अभेद

- -

१- पूर्व और पश्चात् का विवाद उत्पन्न होने पर पूर्व को दुर्बल मानना चाहिए तथा पश्चाद्वर्ती को सबल मानना चाहिए । इसे ही " अपच्छेदन्याय " कहा जाता है । इस न्याय का विस्तार से विवेचन जैमिनिसूत्र में किया गया है । द्रष्टव्य है - जैमिनिसूत्र- ६।६।४९-५६ ।

के सिद्धान्त की सत्यता ही प्रमाणित हो रही है ।

द-अभेद का अनुमान से विरोध विषयक शास्त्रार्थ

जब मण्डनमिश्र प्रत्यक्षप्रमाण से जीव और ईश्वर में भेदज्ञान उपपन्न न कर सके तब वे अनुमान प्रमाण का सहारा लेकर अग्रसर हुए । इनका प्रथम तर्क था - " ब्रह्मनिरूपितेनभेदेन युक्तो अयं जीव: असर्ववित्वात् , घटादिवत् " - यह अनुमान प्रकार सिद्ध कर रहा है कि ब्रह्मनिरूपित भेद से युक्त यह जीव है , असर्ववित् होने के कारण जैसे घट आदि असर्वज्ञ होने के कारण ब्रह्मनिरूपित भेद से युक्त होते हैं । अत: इस अनुमान से श्रुति बाधित हो रही है ।

शङ्0कराचार्य ने इसका उत्तर दिया - " जीव और ब्रह्म में भेद आप (मण्डन) काल्पनिक मान रहे हैं या पारमार्थिक । काल्पनिक भेद तो हमें भी स्वीकार है परन्तु पारमार्थिक भेद के प्रतिपादन में " घटवत् " यह आपका दृष्टान्त उचित नहीं है ।

मण्डनमिश्र पुन: अपने दृष्टान्त के औचित्य प्रतिपादन के लिये तर्क प्रस्तुत करते हुए बोले - " हमारा साध्य (स्व) आत्मा के ज्ञान से अबाध्य भेद का आश्रय होना है । वह घट आदि में है । इसके विपरीत (अद्वैतवेदान्ती) आपके द्वारा घट आदि को आत्मज्ञान से बाध्य भेद का आश्रय अङ्0गीकार किया गया है । अत: दोनों के साध्यों में भिन्नता होने से हमारा दृष्टान्त शुद्ध है । "

मण्डनमिश्र के इस उत्तर को सुनकर शङ्0कराचार्य ने उनसे प्रश्न किया कि " स्वप्रत्यय " से आपको सुखादियुक्त जीवपद-वाच्य कर्तारूप

में आत्मा अभीष्ट है या सुखादिनिर्लिप्त आत्मा । पहला पक्ष ग्रहण करने पर आपका साध्य मुझे भी स्वीकृत है परन्तु दूसरा पक्ष ग्रहण करने पर दृष्टान्तहानि उसी प्रकार बनी हुई है ।

मण्डनमिश्र पुनः अपने मत को उचित ठहराते हुए बोले - " मेरे अनुमान में उपाधिरहित[1] (स्वाभाविक) भेदवत्त्व साध्यरूप में अभीष्ट है । आपके (शङ्कराचार्य के) अनुसार तो जीव और ईश का भेद औपाधिक है तथा घट और ईश का भेद अनौपाधिक (स्वाभाविक) है । इसे सुनकर शङ्कराचार्य ने कहा घट और ईश का भेद भी जीव और ईश के भेद के समान ही औपाधिक है । यहाँ जीव और ईश के भेद की प्रतीति में अविद्या उपाधि है वहाँ घट और ईश के भेद की प्रतीति में जड़त्व उपाधि विद्यमान है ।

इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य ने एक दूसरा अनुमान प्रकार - " आत्मा परस्मात् अभिन्नः चित्त्वात् , परवत् " अर्थात् आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है , चेतन होने के कारण ब्रह्म के समान - प्रस्तुत करके उनके अनुमान में सत्प्रतिपक्ष[2] हेत्वाभास की स्थिति दिखलायी है ।

- -

१- न्यायशास्त्र में उपाधि युक्त हेतु दुष्ट माना गया है । उपाधि का लक्षण है - " साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् " अर्थात् जो साध्य में तो व्यापक हो , पर साधन में अव्यापक हो ।

२- सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का लक्षण है - " साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य सः " अर्थात् साध्य (जिसे सिद्ध करना है) के अभाव का साधक दूसरा हेतु जिसमें विद्यमान है वह सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है ।

मण्डनमिश्र ने अपने अनुमान प्रकार का खण्डन होते देखकर एक नये अनुमान प्रकार को शङ्कराचार्य के सम्मुख प्रस्तुत किया। उन्होंने संसृतिशून्यता को हेतु मानकर जीव और ब्रह्म में भेद दिखाने की चेष्टा की। उनके द्वारा प्रस्तुत अनुमान प्रकार था - पृथक्त्व धर्मी के आश्रयधर्मी के ज्ञान से अबाध्य जीव के भेद से युक्त ब्रह्म मुझे साध्य के रूप में इष्ट है क्योंकि वह संसृतिशून्य है, घट के समान। इसके विपरीत आपके (शङ्कराचार्य के) मत में ब्रह्मज्ञान से आत्मभेद बाध्य हो जाता है। इस प्रकार दोनों मतों में साध्य भिन्न-भिन्न होने से सिद्ध-साधन दोष नहीं है। इसके साथ-साथ दृष्टान्त-हानि भी नहीं है क्योंकि धर्मीरूप घट के ज्ञान से आत्मज्ञान की अबाध्यता आपको भी इष्ट है।

मण्डनमिश्र के नवीन अनुमानप्रकार को सुनकर शङ्कराचार्य के मन में दो शङ्काएँ उत्पन्न हुईं। क्या सम्पूर्ण धर्मी के ज्ञान से भेद अबाध्य रहता है? अथवा कुछ धर्मि के ज्ञान से भेद अबाध्य रहता है? यदि पहला मत मण्डनमिश्र का अभिमत है तब समस्त धर्मी के अन्तर्गत ब्रह्म भी आता है जिसके ज्ञान से घटगत भेद बाध्य नहीं होता। जगत् में ऐसे दृष्टान्त का अभाव होने से पूर्वदोष (दृष्टान्तहानिदोष) विद्यमान ही रहेगा। दूसरा पक्ष मानने पर सिद्धसाधनदोष होगा क्योंकि भेद को स्वरूप से अतिरिक्त मानने वाले के मत में घटादि और ब्रह्म में आत्म भेद एक ही है। अतः धर्मी घट के ज्ञान से अबाध्य जीवभेद ब्रह्म में रहता है यह मत हम वेदान्तियों को भी अभीष्ट है।

मण्डनमिश्र के नवीन अनुमान को शङ्कराचार्य ने एक दूसरे प्रकार से भी खण्डन किया। इन्होंने मण्डनमिश्र से प्रश्न किया कि

धर्मी पद से सत्य , ज्ञानरूपनिर्गुण पदार्थ विवक्षित है या ब्रह्मा , विष्णु , महेश्वर आदि पदों से वाच्य सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त सगुण पदार्थ । यदि दूसरा पक्ष स्वीकार किया जायेगा तो पुन: सिद्ध साधन दोष की उपस्थिति होगी । वेदान्त मत में भी सगुणईश के ज्ञान से भेद अबाधित माना गया है । पहला पक्ष स्वीकार करने पर निर्गुणब्रह्म को प्रमित या अप्रमित स्वीकार करना पड़ेगा । ब्रह्म को अप्रमित मानने पर " आश्रयासिद्ध " हेत्वाभास से युक्त अनुमान होगा । प्रथमपक्ष ब्रह्म की सिद्धि शरीरी जीव के साथ अभिन्न प्रतिपादित करने वाले अर्थात् धर्मिग्राहक वेदान्त का सङ्कोच उत्पन्न हो जायेगा ।

ड-अभेद का श्रुति से विरोध विषयक शास्त्रार्थ

इस प्रकार मण्डनमिश्र के द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के तर्कों को शङ्कराचार्य के द्वारा निरस्त कर दिये जाने पर भी वे हताश नहीं हुए । अब वे अभेदश्रुति को भेदश्रुति से खण्डित करने के लिये तर्कों को प्रस्तुत करते हैं । सर्वप्रथम उन्होंने उपनिषद् के उन मन्त्रों को प्रस्तुत किया जिसमें अज्ञानी मनुष्यों के लिये द्वैतउक्ति से अद्वैततत्त्व सिद्ध करने का प्रयास किया गया था । उनके द्वारा प्रस्तुत उद्धरण था - " द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया " । जिसके बल पर वे कहते हैं कि जीव और ईश में भेद है । जीव कर्मफल का भोग करता है तो ईश कर्मफल से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रखता ।

इस उद्धरण का अर्थ मण्डनमिश्र द्वैतपरक मानते हैं । इसी को प्रमाण मानकर उन्होंने अभेदश्रुति को बाधित करने का प्रयास किया है ।

इस तर्क के खण्डन में शङ्कराचार्य ने तर्क किया कि जीव और आत्मा के भेद-ज्ञान के पश्चात् किसी फल की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् न स्वर्ग की प्राप्ति होती है और न अपवर्ग की । अतः भेद को प्रतिपादित करने वाली श्रुति हमारे लिये प्रमाण नहीं हो सकती । इसके विपरीत अभेद ज्ञान से फल का वर्णन करने वाली यह श्रुति कि " मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।" हमारे लिये प्रमाण होगी क्योंकि इसका स्पष्ट सङ्केत अभेद प्रतिपादन में है । यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाता है तो स्वार्थ में तात्पर्य न रखने वाले जितने अर्थवाद होंगे वे भी प्रमाण की कोटि में आ जायेंगे ।

इसे सुनकर मण्डनमिश्र ने कहा कि जिसप्रकार स्मृतिप्रसिद्ध अर्थ के विबोधक वाक्य " तत्त्वमसि " आदि श्रुतिमूलक होने के कारण स्वयं प्रमाण माने जाते हैं उसी प्रकार प्रत्यक्षसिद्ध अर्थ के बोधक वाक्य प्रत्यक्षमूलक होने के कारण प्रमाण माने जायेंगे । अतः " द्वा सुपर्णा " वाक्य की प्रामाणिकता है क्योंकि यह प्रत्यक्षमूलक है ।

मण्डनमिश्र की उक्ति को शङ्कराचार्य ने यह कहकर काट दिया कि यदि वेदज्ञों के द्वारा " स्मृत अर्थ " में श्रुति उसका मूल होने के कारण प्रमाण नहीं होगी तो वेद के कथार्थों से अनभिज्ञों के द्वारा ज्ञात भेदरूप अर्थ में यह श्रुति कैसे प्रमाण हो सकती है अर्थात् कदापि प्रमाण नहीं हो सकती । इसके अतिरिक्त आपके (मण्डनमिश्र के) द्वारा प्रस्तुत श्रुति का अभेद से विरोध जीव और ईश्वर की प्रतिपादिका मानने पर होगा , परन्तु यह श्रुति तो वस्तुतः कर्मफलभोक्ता बुद्धि से पुरुष

(आत्मा) को भिन्न बताकर उसकी समस्त सुख-दु:ख भोक्तृत्वलक्षणवाले संसार से निर्लिप्तता भी वर्णित करती है ।

शङ्करााचार्य के तर्क को सुनकर मण्डनमिश्र के मन में शङ्का उदित हुई कि यदि उपर्युक्त श्रुति ईश और जीव को छोड़कर जीव (आत्मा) और बुद्धि का वर्णन करती है तो जड़ को भी भोक्ता होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है क्योंकि बुद्धि जड़ होती है । परन्तु भोक्ता तो चेतन हो सकता है जड़ नहीं ऐसी दशा में जड़ पदार्थ को भोक्ता बतलाने वाले पूर्वमन्त्र को हम कैसे प्रमाण मान लें ।

मण्डनमिश्र द्वारा बुद्धि को जड़ और अभोक्ता घोषित किये जाने पर शङ्कराचार्य ने कहा कि आपका यह कथन उपयुक्त नहीं है [१] क्योंकि " पैङ्गयरहस्य " नामक ब्राह्मण ने अमुक मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि बुद्धि कर्मफल का भोग करती है और जीव (आत्मा) केवल साक्षी मात्र रहता है ।

अब मण्डनमिश्र " पैङ्गयरहस्य " ब्राह्मण द्वारा प्रस्तुत व्याख्या की स्वनिर्मित नवीन व्याख्या करते हुए बोले - उनकी व्याख्या में स्थित

१- पैङ्गयरहस्य द्वारा प्रस्तुत व्याख्या -

" तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति इति सत्त्वं , अनश्नन्यो अभिचाकशीति इति अनश्नन् अन्य: अभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ इति । "

मुण्डकोपनिषद् - ३।१।१

" सत्व " पद को जीव का वाचक तथा " क्षेत्रज्ञ " पद को परमात्मा का वाचक समझना चाहिए । इस प्रकार पैङ्०गयरहस्य द्वारा व्याख्या में प्रयुक्त वाक्य के अनुसार भी उक्त मन्त्र का अभिप्राय जीव और ईश के भेद-प्रतिपादन में है ।

इसे सुनकर शङ्०कराचार्य ने उत्तर दिया कि आपके द्वारा की गयी व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि पैङ्०गय व्याख्या के साथ ही दिये गये " तदेतत्सत्वं ये पश्यति अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञ: तावेतौ सत्वक्षेत्रज्ञौ " स्पष्टीकरण से भिन्न है । स्पष्टीकरण में स्थित " तदेतत्सत्व " पद का अर्थ " चित्त " (बुद्धि) और " क्षेत्रज्ञ " पद का अर्थ द्रष्टाजीव (आत्मा) ही उल्लिखित हुआ है ।

मण्डनमिश्र पुन: अपने मत का समर्थन करते हुए बोले कि उपर्युक्त वाक्य में जिस प्रकार " सत्व " पद का अर्थ स्वप्न-दर्शनक्रिया का कर्ता जीव है उसी प्रकार " क्षेत्रज्ञ " पद का अर्थ स्वप्न का उपद्रष्टा सर्वज्ञ ईश होना चाहिए ।

इसे सुनकर शङ्०कराचार्य ने उत्तर दिया कि " येनस्वप्नं पश्यति " - इस वाक्य की क्रिया " पश्यति " कर्तृ वाच्य में है । " येन " पद में तृतीया " करण " के अर्थ में प्रयुक्त हुई है । इससे स्पष्ट होता है कि सत्व दर्शन क्रिया का कर्ता नहीं अपितु करण मात्र है । अत: यहाँ सत्व पद का अर्थ जीव नहीं बल्कि बुद्धि विवक्षित है । इसके अतिरिक्त उक्त वाक्य में

द्रष्टा पद का विशेषण है , शारीर:-शरीर में रहने वाला । इसी के लिये प्रयुक्त पौत्रज्ञ पद का अर्थ भी जीव ही है ? ईश नहीं यह भी उसी वाक्य से स्पष्ट होता है ।

मण्डनमिश्र " शारीर " पद का अर्थ ईश प्रतिपादित करते हुए बोले कि - हे मनीषी ! शारीर पद का अर्थ सर्वान्तर्भूत महेश्वर क्यों नहीं हो सकता ? शारीर पद का तो यही अभिधेयार्थ है कि " शरीर में वृत्ति रखने वाला " जो कि ईश्वर का लक्षण है । अत: शारीर पद से ईश्वर के बोध होने में आपको (शङ्कराचार्य को) कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

इस तर्क का खण्डन शङ्कराचार्य ने इस प्रकार किया कि ईश शरीर के अन्दर तथा बाहर भी रहता है ऐसी परिस्थिति में उसे शारीर पद का अभिधेयार्थ कहना अनुचित है । जिस प्रकार आकाश सर्वगत होने के साथ-साथ शरीर में भी विद्यमान होता है तथापि वह शारीर पद का कभी वाच्य नहीं बनता ।

अब मण्डनमिश्र दूसरा प्रश्न उठाते हैं कि यदि आपका यह कथन कि पूर्वोक्त मन्त्र बुद्धि और जीव के विषय में ही अपना विचार व्यक्त कर रहा है , तब भी आपका (शङ्कराचार्य का) पक्ष उचित नहीं है । इसका कारण स्पष्ट है क्योंकि भोक्तृत्व तो चेतन पदार्थ का धर्म है । ऐसी परिस्थिति में अचेतन बुद्धि कर्मफल का कैसे भोग कर सकती है ?

मण्डनमिश्र के इस प्रश्न का समाधान शङ्कराचार्य ने इस प्रकार किया - दाहिकाशक्ति से शून्य लोहा अग्नि के संसर्ग से जलाने वाला हो

जाता है उसी प्रकार अचेतन बुद्धि भोक्ता न होने पर भी चेतन आत्मा के अनुप्रवेश करने पर वह चेतनवत् आचरण वाली हो जाती है ।

अभी तक मण्डनमिश्र और शङ्करा चार्य के बीच " द्वासुपर्णा " मन्त्र पर शास्त्रार्थ हुआ । इसमें शङ्कराचार्य विजयी हुए । अब मण्डनमिश्र भेद-प्रतिपादक एक अन्य श्रुतिमन्त्र को शङ्कराचार्य के समक्ष प्रस्तुत कर अपने अभिमत द्वैत सिद्धान्त का समर्थन करते हैं । सबसे पहले उन्होंने काठक श्रुति का एक मन्त्र जो कि 'कर्मफल को भोगने वाला जीव और ईश्वर, छाया और आतप (धूप) के समान एक दूसरे से नितान्त भिन्न है ' अर्थ का प्रतिपादक है, को प्रस्तुत किया । इस मन्त्र के बल पर मण्डनमिश्र ने जीव और ईश्वर में भेद दिखाने का प्रयास किया ।

शङ्कराचार्य ने इस मन्त्र को भी अद्वैतसिद्धान्त में बाधा पहुँचाने वाला नहीं स्वीकार किया क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति[१] व्यवहारसिद्ध अर्थ की प्रतिपादिका है । वास्तव में अभेदश्रुति अपूर्वअर्थ को प्रकट करती है । इसलिये वही अधिक बलवान है । अतः बलवान अभेदश्रुति ही भेदश्रुति की बाधिका होनी चाहिए ।

- -

१- दो प्रकार के श्रुति वाक्य होते हैं - १- अपूर्व-अर्थ-प्रतिपादक - अर्थात् वे वाक्य जो प्रत्यक्षादि से असिद्ध अर्थ का अभिधान करते हैं, अपूर्व-अर्थ-प्रतिपादक-वाक्य कहे जाते हैं । २- गतार्थ - अर्थात्, वे वाक्य जो प्रत्यक्षादि से सिद्ध अर्थ का ही अभिधान करते हैं, गतार्थ-प्रतिपादक-वाक्य कहे जाते हैं । प्रामाण्य की दृष्टि से प्रथम कोटि के श्रुतिमन्त्रों को प्रबल तथा द्वितीय कोटि के मन्त्रों को निर्बल माना जाता है ।

इसे सुनकर मण्डनमिश्र ने उत्तर दिया कि मेरे मत में भेदश्रुति ही बलवान है , अभेदश्रुति निर्बल है क्योंकि भेदश्रुति अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध होती है इसके विपरीत अभेदश्रुति अन्य प्रमाणों के द्वारा बाधित की जाती है ।

मण्डनमिश्र की उपर्युक्त शङ्का का समाधान शङ्कराचार्य ने यह कहकर दिया कि श्रुतियों की प्रबलता पर विचार करते समय यही सिद्धान्त मान्य है कि दूसरे किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा समर्पित होने पर भी कोई (अन्यश्रुति) प्रबल नहीं हो सकती अपितु उन प्रमाणों के द्वारा गतार्थ (ज्ञात अर्थ) हो जाने के कारण वह श्रुति नितान्त दुर्बल हो जायगी । अत: आपके (मण्डनमिश्र) द्वारा समर्थित भेदश्रुति अभेदश्रुति की किसी भी अवस्था में बाधिका नहीं बन सकती ।

इस उत्तर के पश्चात् मण्डनमिश्र का द्वैत के प्रति दुराग्रह लगभग शान्त हो गया । लेकिन उनका मन जैमिनिमुनि के वचनों को असत्य मानने के लिये तैयार न था । अत: उन्होंने शङ्कराचार्य के समक्ष पुन: अपनी शङ्का व्यक्त ही कर दी । उनकी शङ्का थी कि समस्तसंसार के हितचिन्तक , भूतभविष्य को जानने वाले वेदों के प्रचारक तपोनिधि जैमिनि मुनि ने ऐसे व्यर्थ सूत्रों का निर्माण किस उद्देश्य से किया था । मण्डनमिश्र की इस शङ्का का समाधान शङ्कराचार्य ने यह कहकर किया कि जैमिनिमुनि का सिद्धान्त लेशमात्र भी अनुचित अर्थ से सम्बन्धित नहीं है । हम लोग अनभिज्ञ होने के कारण उनके सूत्रों का ठीक-ठीक अभिप्राय नहीं समझ पाते हैं ।

मण्डनमिश्र ने पुन: शङ्०कराचार्य से जैमिनि मुनि के ऐसे विचारों को स्पष्ट करने के लिये कहा जिनका अभिप्राय विद्वानों को अज्ञात है। इस पर शङ्०कराचार्य ने कहा " जैमिनीयसूत्रों का अभिप्राय " परब्रह्म " के प्रतिपादन में है। उन्होंने विषयप्रवाह में मग्नोन्मग्न होने वाले मनुष्यों के प्रति दयालु होकर ही ब्रह्मप्राप्ति के साधनभूत केवल पुण्य कर्म का ही वर्णन किया है। श्रुति का वचन " तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा: विविदिषन्ति यज्ञेन , दानेन, तपसाऽनाशकेन " अर्थात् ब्रह्मज्ञानी लोग यज्ञ , दान , तप द्वारा ब्रह्म ब्रह्म को जानते हैं। यह वचन ज्ञान के उत्पन्न करने के लिये ही धर्माचरण को बतलाता है। इन्हीं वचनों के अनुरोध से मोक्ष को परम-पुरुषार्थ बतलाने वाले जैमिनिमुनि ने कर्म का प्रतिपादन किया है , किसी दूसरे अभिप्राय से नहीं।

अब मण्डनमिश्र के मन में जैमिनि मुनि के उस सूत्र के विषय में शङ्०का उत्पन्न हुई जिसमें उन्होंने क्रिया को बतलाने वाली श्रुतियों को " सार्थक " और अक्रियार्थक वचन को " मिथ्या " कहा है। इस शङ्०का का समाधान भी शङ्०कराचार्य ने यह कहकर किया कि श्रुति का मुख्य अभिप्राय अद्वैतब्रह्म के प्रतिपादन में है परन्तु परम्परया आत्मज्ञान को उत्पन्न करने वाले कर्मों में भी उसके तात्पर्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। अत: कर्मप्रकरण के सूत्रों का अर्थ क्रियापरक मानना चाहिए।

मण्डनमिश्र ने पुन: शङ्०कराचार्य से पूछा कि - समस्त वेद सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं ऐसी परिस्थिति में मुनि ने " कर्म ही फल का दाता है " - इस सिद्धान्त का निरूपण कर ईश

का निरास किस उद्देश्य से किया है ? वैशेषिकों का भी यह मत है कि संसार की सृष्टि करने वाला कोई न कोई तत्त्व अवश्य है । वह तत्त्व ईश ही है । इस अनुमान से वेदवचनों के बिना ही परमेश्वर की सत्ता सिद्ध हो रही है । श्रुतियाँ भी इसी अनुमान का अनुवाद मात्र हैं ।

शङ्कराचार्य ने उपर्युक्त तर्क का उत्तर दिया कि यह अनुमान ईश की सिद्धि नहीं कर सकता क्योंकि श्रुति का स्पष्ट कथन है कि ' नावेदविद् मनुते तं बृहन्तम् ' (बृहदारण्यक) अर्थात् वेद को न जानने वाला उस बृहत् औपनिषद् ब्रह्म को नहीं जान सकता । ऐसीअवस्था में ईश्वरविषयक अनुमान कैसे सत्य हो सकता है ? इसी अभिप्राय को मन में रखकर जैमिनि मुनि ने ईश्वर परक अनुमान का तथा ईश्वर से जगत का उदय तथा लय होता है इन सिद्धान्तों का सैकड़ों तीक्ष्ण उक्तियों से खण्डन किया है । ऐसी स्थिति में जैमिनि मुनि को अनीश्वरवादी बतलाना सर्वथा अनुचित होगा । इस प्रकार मण्डनमिश्र की अनेकों शङ्काओं का समाधान कर शङ्कराचार्य ने उनके सिद्धान्त को ध्वस्त कर दिया ।

ग- शङ्कराचार्य का उभयभारती से शास्त्रार्थ

पति को पराजित देखकर अर्धाङ्गिनी होने के कारण मण्डनमिश्र की पत्नी उभयभारती स्वयं शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ करने के लिये उद्यत हुई । पहले तो शङ्कराचार्य ने नारी से शास्त्रार्थ करने को अनुचित बताते हुए इस प्रस्ताव को अस्वीकार

कर दिया परन्तु गार्गी के साथ याज्ञवल्क्य के और सुलभा के साथ जनक के वाद-विवाद के बल पर जब उभयभारती ने नारी के साथ पुरुष के शास्त्रार्थ को उचित ठहराया तब ये शास्त्रार्थ के लिये तैयार हुए ।

शङ्कराचार्य से सत्रह दिनों तक शास्त्रार्थ करती हुई भी जब उभयभारती विजयी नहीं हुई तब उन्होंने , 'यह बालब्रह्मचारी कामशास्त्र से अनभिज्ञ होगा'- ऐसा विचार करके कामशास्त्र विषयक प्रश्न करना शुरू कर दिया । संन्यासव्रत के खण्डित होने के भय से शङ्कराचार्य ने तत्काल उनके प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया अपितु इन्होंने प्रत्युत्तर के लिये एक माह की अवधि की याचना की ।

उभयभारती के प्रश्नों का उत्तर देने के लिये इन्होंने कामकला का अध्ययन आवश्यक समझा । इस उद्देश्य से इन्होंने अपने स्थूल शरीर को शिष्यों के संरक्षण में एक गुफा के अन्दर सुरक्षित रखकर सूक्ष्म शरीर को मृत अमरुक राजा के शरीर में प्रवेश कराया । उसके प्रवेश करते ही वह मृत राजा जीवित हो गया । राजा के वेश में शङ्कराचार्य ने एक माह तक रमणियों के सङ्ग रहकर कामशास्त्र की सभी सूक्ष्मताओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया । कामकला में प्रवीण होने के पश्चात् शङ्कराचार्य मण्डनमिश्र के गृह में प्रत्यावर्तित हुए । शङ्कराचार्य का पुनर्दर्शन कर उभयभारती अत्यन्त आश्चर्यचकित हुई और भावविह्वल होकर बोलीं - 'हे ब्रह्मन् ! आप सभी विद्याओं के स्वामी हैं , सब प्राणियों के ईश्वर हैं , ब्रह्मा के भी आप स्वामी हैं और आप साक्षात् सदाशिव हैं ।

सभा में मुझे न जीतकर कामशास्त्र में कथित कामकलाओं को जानने के लिये आपने जो कुछ प्रयत्न किया है , वह मानवचरित्र का अनुकरणमात्र है "। इस प्रकार उभयभारती ने शास्त्रार्थ किये बिना ही अपनी पराजय स्वीकार कर ली ।

पतिपत्नी दोनों को पराजित करके शङ्कराचार्य ने मण्डनमिश्र पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया । पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार मण्डनमिश्र ने शङ्कराचार्य से संन्यास की दीक्षा ली और " सुरेश्वराचार्य " के नाम से विख्यात हुए ।

घ- शङ्कराचार्य का नीलकण्ठ से शास्त्रार्थ

अहम्भावभरित द्वैतवादी शैव नीलकण्ठ नामक व्यक्ति शङ्कराचार्य की विद्वता सुनकर स्वयं इन्हें पराजित करने के उद्देश्य से इनके पास आया । शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ करने के पूर्व सुरेश्वर ही उसे परास्त करके भगा देना चाहते थे लेकिन नीलकण्ठ शङ्कराचार्य से ही शास्त्रार्थ करने की हठ किये हुए था । अतः शङ्कराचार्य को ही उससे शास्त्रार्थ करना पड़ा ।

नीलकण्ठ ने शङ्कराचार्य के समक्ष आते ही बड़े दम्भ के साथ अपने मत की स्थापना की । उसका मत था कि ब्रह्म और जीव में सर्वज्ञता और अल्पज्ञता दो विरुद्ध धर्मों का निवास है । ऐसी दशा में " तत्वमसि " वाक्य का एकतापरक अर्थ लेना ठीक नहीं है । यह तर्क भी अनुचित है कि

जिस प्रकार सूर्य और उसके प्रतिबिम्बों में अभिन्नता है उसी प्रकार ईश्वर और जीवों में भी अभिन्नता है। व्योमशिव नामक शैवाचार्य के द्वारा प्रतिपादित यह मत कि वस्तु अपने प्रतिबिम्ब से अलग होता है न केवल मुझे (नीलकण्ठ को) मान्य है अपितु (शङ्कराचार्य) के अनुयायियों को भी मान्य है। इसके साथ-साथ अनुभव भी इस तथ्य की पुष्टि करता है।

वेदान्त में जीव और ब्रह्म की एकता के विषय में यह कहा गया है कि अल्पज्ञता और सर्वज्ञता दोनों धर्म मायिक और बाधित हैं। इन धर्मों को हटा देने पर शुद्ध 'चैतन्यरूप' ही शेष रह जाता है जो वस्तुतः समान होने के कारण दोनों एक रूप ही हैं अर्थात् जीव और ब्रह्म की अभिन्नता ही वास्तविक है। इस मत को भी नीलकण्ठ ने अयथार्थ बताया। अपने मत के समर्थन में उसने यह तर्क भी प्रस्तुत किया - जो बात सैकड़ों प्रमाणों से सिद्ध की गयी है उसका बाध कथमपि नहीं हो सकता। जीव और ब्रह्म के धर्मों की भिन्नता और विरुद्धता प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। ऐसी दशा में वे किसी भी प्रकार बाधित नहीं हो सकते और बाध न होने के कारण वे मायिक भी नहीं कहे जा सकते हैं। ऐसी दशा में भी यदि बाध स्वीकार किया जायेगा तो जगत् से भेद को सदा के लिये विदाई ही देनी पड़ेगी। उदाहरण के लिये गौ और अश्व पर विचार कीजिए। इन दोनों में क्रमशः 'गोत्व' और 'अश्वत्व' परस्पर विरुद्ध धर्म रहते हैं। इन विरुद्ध धर्मों को यदि बाधित माना जाय तो गौ और अश्व के स्वरूप में एकत्व होने लगेगा। जिन पदार्थों

को हम प्रत्यक्ष रूप से भिन्न पाते हैं उनमें भी इस रीति से हमें बाध्य होकर अभिन्नता माननी पड़ेगी । इस प्रकार व्यवहारिक जगत् में नाना प्रकार के अनर्थों के उपस्थित होने की सम्भावना उपस्थित हो जायगी । अत: अद्वैतवाद की युक्ति नितान्त अग्राह्य है । यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अवगत वस्तु का त्याग अभीष्ट नहीं है तो जीव और ईश्वर के परस्पर भेद का त्याग भी क्यों अभीष्ट होना चाहिए ? यह भेद भी प्रत्यक्षसिद्ध है । नीलकण्ठ के उपर्युक्त आक्षेपों का समाधान शङ्कराचार्य ने बड़ी सरलता से कर दिया । प्रत्युत्तर के रूप में शङ्कराचार्य के निम्न तर्क थे - " तत्त्वमसि " वाक्य के वाच्यार्थ में ही विरोध है लक्ष्यार्थ में नहीं । जिस प्रकार सोऽयं इस वाक्य में वाच्य अर्थ करने पर विरोध प्रतीत होता है लेकिन लक्ष्यार्थ में किसी प्रकार का विरोध नहीं है । इसी प्रकार आपने जो " अतिप्रसङ्ग " दोष बताया है वह भी अयुक्त है क्योंकि गो और अश्व में अभिन्नता बतलाने वाला प्रमाण कोई भी नहीं है । इसके विपरीत ब्रह्म और जीव की एकता बतलाने वाला तो स्वयं उपनिषद् का " तत्त्वमसि " वाक्य ही है । ऐसी दशा में गो और अश्व में लक्षणा के द्वारा अभेद मानने का अवसर ही नहीं मिलता ।

शङ्कराचार्य के उत्तर को सुनकर नीलकण्ठ ने पुन: तर्क किया कि ईश्वर का स्वरूप सर्वज्ञता है और जीव का स्वरूप अल्पज्ञता है । इन स्वरूपों को छोड़कर इन दोनों का कोई स्वभावसिद्ध अन्य रूप विद्यमान ही नहीं है । अत: वाच्य अर्थ को छोड़कर लक्षणा करने का प्रसङ्ग ही नहीं आता है । इसके उत्तर में शङ्कराचार्य ने कहा कि " जीव और ईश्वर

का जो स्वरूप हमारे अनुभव में आता है वह उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार रजत में दिखलाई देने वाला शुक्ति का रूप । इसका जो अधिष्ठान है वही वास्तविक है , सत्य है । शुक्ति का अधिष्ठानरूप जिस प्रकार रजत ही सत्य है उसी प्रकार मूढ़ता तथा सर्वज्ञता का अधिष्ठानरूप चैतन्य ही वस्तुत: सत्य है ।

यह सिद्धान्त अद्वैतवेदान्त-सम्मत ही नहीं अपितु आपके द्वारा भी माननीय है क्योंकि आप भी अहङ्कार से युक्त इस दृश्य देह को जड़ ही मानते हैं । इसको छोड़कर जीव का परिशिष्ट रूप जो कुछ है वही उसका सत्य रूप है । यह भी आपको स्वीकार करना पड़ेगा । इसी युक्ति से अनिर्वचनीय होने के कारण यह जगत् भी कल्पित है तथा इस जगत् का अधिष्ठानभूत ईश्वर का जो स्वरूप है वही सत्य है । यह भी सिद्ध होता है । जीव और ब्रह्म की एकता को प्रकारान्तर से भी सिद्ध करने के लिये शङ्कराचार्य ने दूसरा तर्क दिया कि जीव और ब्रह्म के उपाधिरहितस्वाभाविक रूप का प्रतिपादन श्रुति स्वयं करती है । जिस प्रकार स्फटिक स्वभाव से ही उज्ज्वल तथा स्वच्छ रहता है लेकिन जपाकुसुम के सानिध्य से उसमें लालिमा प्रतीत होने लगती है । यह लालिमा उपाधिजन्य होने के कारण स्फटिक के शुद्ध रूप में दिखाई नहीं देती । ठीक इसी प्रकार मूढ़ता और सर्वज्ञता , जीव और ब्रह्म के शुद्ध रूप में भी दृष्टिगोचर नहीं होती । श्रुति में भी भेदज्ञान की यथार्थता को न मानने वालों को अभयी और भेदज्ञान को यथार्थ मानने वालों को भयी कहा गया है । अत: जो पुरुष भेदज्ञानी है उसे ही भय होता है तथा वही अनर्थ को प्राप्त करता है । इस प्रकार

श्रुति के द्वारा प्रतिपादित अभेदवाद असत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो अभेद के ज्ञान होने पर पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त होने की बात नहीं सुनी जाती । जबकि श्रुति का स्पष्ट कथन है कि एकत्व का ज्ञान रखने वाले पुरुष के लिये शोक और मोह का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । अतः इस प्रकार अभेदज्ञान होने पर पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है । ' मैं ईश्वर नहीं हूँ ' यह बुद्धि भ्रमरूप है जो शास्त्र के द्वारा बाधित होती है । अतः श्रुतिप्रतिपादित अभेद वास्तविक है । इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिए । आत्मा और ब्रह्म का ऐक्यज्ञान श्रुति के द्वारा प्रतिपादित होने के कारण किसी भी ज्ञान से बाधित नहीं हो सकता क्योंकि श्रुति सबसे प्रबल प्रमाण है अन्य प्रमाण दुर्बल ही होंगे ।

नीलकण्ठ ने पुनः आक्षेप किया कि कपिल , कणाद आदि अनेक ऋषियों ने परमात्मतत्व की अनेक प्रकार से व्याख्या की है तथा पुरुषार्थ के रहस्य को भी समझाया है । इन ऋषियों के कथनों के तात्पर्य भी द्वैतवाद में हैं , ऐसी अवस्था में बहुमत को ठुकराकर आप एक ही प्रकार के सिद्धान्त को मानने के लिये क्यों उद्यत हो रहे हैं ? इस पर शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया कि मीमांसा का यह सिद्धान्त है कि प्रबल श्रुति प्रमाण से विरुद्ध होने पर स्मृतिवाक्य दुर्बल होगा । इस सिद्धान्त के अनुसार ऋषियों का जो वचन वेद के विरुद्ध होगा वह प्रमाण कोटि में नहीं आ सकता ।

इसे सुनकर नीलकण्ठ ने महर्षियों के युक्तियुक्त वचन श्रुति के समान ग्राह्य हैं - इस तर्क को सिद्ध करने का प्रयास किया । उसके मतानुसार

महर्षियों के जो वचन युक्तियुक्त हैं उनका तिरस्कार हम लोग नहीं कर सकते हैं । न्याय तथा सांख्य दोनों आत्मा को प्रतिशरीर में भिन्न-भिन्न मानते हैं - यह सिद्धान्त युक्तियुक्त है क्योंकि हम लोग आत्मा में सुखदु:खादि नाना विचित्रताओं का अनुभव भी करते हैं । यदि आत्मा एक ही होता तो अत्यन्त दु:खी-निर्धन पुरुष भी युवराज के अतुलनीय सुख को प्राप्त करने में समर्थ होता । सुख और दु:ख को अभिन्न मानने पर अमुक पुरुष सुखी है और अमुक पुरुष दु:खी है इसका अनुभव व्यक्तियों को नहीं होना चाहिए परन्तु इसके विपरीत हमें कोई व्यक्ति सुखी और कोई व्यक्ति दु:खी दिखाई देता है । ऐसी परिस्थितियों में ऋषियों के वचन अवश्य माननीय हैं ।

वेदान्त का यह सिद्धान्त भी नीलकण्ठ को अमान्य था कि आत्मा अकर्ता है और अचेतन अन्त:करणादिकों में कर्तृत्वशक्ति है । इसके लिये वे तर्क देते हैं कि ऐसा मानने पर कर्ता को भिन्न और भोक्ता को भिन्न दो पदार्थ मानना पड़ेगा । ऐसी परिस्थिति में अतिप्रसङ्ग का दोष घटित होगा । अत: जो कर्ता है उसे ही भोक्ता मानना उपयुक्त है ।

वेदान्त सम्मत आत्मसिद्धान्त का खण्डन करने के पश्चात् नीलकण्ठ ने वेदान्त सम्मत मोक्ष सिद्धान्त पर आक्षेप किया । उन्होंने कहा - ' समस्त दु:खों का नाश होना ही पुरुषार्थ है अर्थात् मोक्ष में आनन्द की अनुभूति नहीं रहती केवल दु:खों का ही अभाव रहता है । समस्त संसार सुख और दु:ख से युक्त है । अत: मोक्ष सुख रूप नहीं हो सकता । जिस

प्रकार विष से युक्त अन्न हमारे लिये त्याज्य है , उसी प्रकार से दुःख से मिला हुआ सुख भी नितान्त हेय है ।"

शङ्कराचार्य ने नीलकण्ठ की उक्तियों को अग्र तर्कों से अनुचित ठहराया ।

सुखदुःख आदि की विचित्रता मन का धर्म है । यह केवल इतना ही बतलाती है कि एक मन दूसरे मन से भिन्न होता है । मन के धर्म से आत्मा के द्वैत का प्रतिपादन कथमपि नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार अचेतन देह को चेतन से युक्त होने पर उसे कर्ता मानना तथा चेतन के योग न होने से तृण आदि अचेतन पदार्थों के समान उसे अकर्ता मानने का सिद्धान्त ही उचित है क्योंकि यह श्रुति के अनुकूल है । आनन्दरूप मोक्ष का खण्डन भी जो आपके (नीलकण्ठ के) द्वारा किया गया है , उचित नहीं है क्योंकि विषयों से उत्पन्न सुख ही दुःख युक्त होता है । ब्रह्मसुख तो नाशरहित है । वह किसी प्रकार भी दुःखयुक्त नहीं हो सकता । अतः ब्रह्मप्राप्ति आनन्दरूप है इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए । इसे ही पुरुषार्थ मानना उचित होगा । मात्र तुच्छ दुःख के नाश को पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता । इस प्रकार शङ्कराचार्य ने श्रुति के अर्थ को प्रतिपादित करने वाली सैकड़ों तीक्ष्ण उक्तियों से अपने मत का समर्थन कर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया ।

ड०- शङ्कराचार्य का भट्टभास्कर से शास्त्रार्थ

वैष्णव , शैव , शाक्त और सौर आदि मत के अनुयायियों को परास्त कर शङ्कराचार्य उज्जयिनी

नगरी गये । वहाँ पर इनका भट्टभास्कर नामक ब्राह्मण विद्वान से घोर शास्त्रार्थ हुआ । भट्टभास्कर का मुख्य उद्देश्य अद्वैत-वेदान्त-सम्मत मायावाद का खण्डन करना था । अतः उन्होंने सर्वप्रथम मायावाद के ऊपर आक्षेप किया । भट्टभास्कर और शङ्कराचार्य के कथोपकथनों का एक संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

भट्टभास्कर ने कहा - प्रकृति ही जीव और ब्रह्म की भेदिका है वेदान्त का यह कथन उचित नहीं है क्योंकि जीवभाव और ईशभाव प्रकृति के पश्चाद्वर्ती हैं । प्रकृति की उत्पत्ति काल में न तो जीवभाव रहता है और न ही ईशभाव , जिसका आश्रय लेकर वह भेद उत्पन्न करती है ।

शङ्कराचार्य ने इस शङ्का का समाधान दर्पण के उदाहरण से किया - जिस प्रकार दर्पण बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद बताता है परन्तु वह दर्पण न तो बिम्बगत होता है और न प्रतिबिम्बगत । वह तो मुखमात्र का आश्रय लेकर भेद का प्रतिपादन करता है । ठीक इसी प्रकार चितिमात्र (ब्रह्म) का आश्रय लेकर यह प्रकृति भी जीव और ईश की भेदिका है ।

यदि प्रकृति चैतन्यमात्र का आश्रय लेकर भेद उत्पन्न करती है तब वह जीव की ही भाँति ब्रह्म में भी सुख-दुःख आदि भावों को क्यों नहीं उत्पन्न करती है ? इस आशङ्का से शङ्कराचार्य ने आगे कहा - जिस प्रकार दर्पण को मुख के सामने रखने पर भी वह दर्पण मुख में कोई विकार उत्पन्न नहीं करता अपितु प्रतिबिम्ब में ही मलिनता आदि विकारों को उत्पन्न करता है । ठीक इसी प्रकार चितिमात्र का आश्रय लेने वाली प्रकृति

बिम्बभूत परात्मा (ईश) में अपने पक्ष (सुख-दु:ख आदि विकारों) को नहीं उत्पन्न करती परन्तु प्रतिबिम्बभूत जीव में अपने पक्ष (सुख-दु:ख आदि विकारों) को उत्पन्न करती है । अत: इस विषय में दर्पण का दृष्टान्त सर्वथा अनुकूल है । यदि आप (भट्टभास्कर) यह कहें कि अविकारी असङ्ग और ज्ञानरूप आत्मा (ब्रह्म) का आश्रय विकारी और अज्ञानरूपा प्रकृति नहीं ले सकती है इस कारण वह प्रकृति अन्त:करण-विशिष्ट चेतन का आश्रय लेकर रहती है - तो अनुचित होगा । इस पक्ष के समर्थन में शङ्कराचार्य ने आगे तर्क दिया कि प्रकृति अन्त:करणविशिष्ट चैतन्यगत होती है - इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है । " मैं अज्ञानी हूँ " यह प्रतीति लोक में अवश्य होती है परन्तु इसकी सत्यता अन्य प्रमाणों से खण्डित हो जाने के कारण वह प्रमाण कथमपि नहीं हो सकती । यदि तुष्यतुदुर्जनन्याय से इसे प्रमाण मान भी लिया जाय तब भी प्रकृति की अन्त:करणविशिष्ट चेतनाश्रयता सिद्ध नहीं होती । इस पक्ष के समर्थन में शङ्कराचार्य ने यह तर्क दिया - " मैं अनुभवी हूँ " लोक की इस प्रतीति में अनुभव को अन्त:करणविशिष्ट चेतनगत होना चाहिए परन्तु जड़ अन्त:करण में अजड़ अनुभव की स्थिति कथमपि अभीष्ट नहीं हो सकती । अत: निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि प्रकृति अन्त:करणविशिष्ट चेतन का आश्रय लेकर ब्रह्म और जीव की भेदिका नहीं बन सकती ।

भट्टभास्कर शङ्कराचार्य के इस कथन कि जड़ अन्त:करण अजड़ अनुभव का आश्रय नहीं बन सकता - से सहमत नहीं हुए । उन्होंने इसके विपरीत अपने पक्ष के समर्थन में तर्क प्रस्तुत किया - जिस प्रकार अग्नि के

संयोग से दाहकता (दाहकशक्ति) से शून्य लोहे में दाहकता का व्यपदेश कर दिया जाता है उसी प्रकार अनुभूतिमान् चित्त के योग से जड़ अन्त:करण में अनुभूति का कथन कर दिया जाता है ।

शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया - ऐसा नहीं है । " मैं अज्ञानी हूँ " इस अनुभव में मायाश्रय चैतन्यमात्र के योग से अन्त:करण में अज्ञान का उपचार हो सकता है परन्तु उस चैतन्यमात्र की उपाधि जड़ माया के योग से जड़ अन्त:करण में अज्ञान का उपचार नहीं हो सकता । इसका कारण यह है कि उपचार के लिये आवश्यक शर्त है बाधक की उपस्थिति । मायाश्रय चैतन्यमात्र के योग से अन्त:करण में अज्ञान के उपचार में " बाधक " तत्व है - ज्ञानजनित चित्त में विद्या के आश्रय का योग न होना । परन्तु चिन्मात्र की उपाधि जड़ माया के योग से जड़ अन्त:करण तो अज्ञान की स्थिति स्वाभाविक है । यहाँ बाधक तत्व का सर्वथा अभाव है । ऐसी स्थिति में जड़ माया के योग से जड़ अन्त:करण में अज्ञान के उपचार का प्रश्न ही नहीं उठता है । अत: आप (भट्टभास्कर) का कथन अस्वीकार्य है ।

अन्त:करण को अज्ञान का आश्रय मानने में शङ्कराचार्य ने एक और आपत्ति उठायी - यदि प्रकृति (अज्ञान) को अन्त:करणविशिष्ट चेतनगत माना जाय तो उसे सुषुप्ति काल में भी चित्तवर्ती (अन्त:करणविशिष्ट चित्तवर्ती) होना चाहिए परन्तु प्रकृति का दृश्यविशिष्ट चैतन्य (जीव) निष्ठ होने में कोई प्रमाण नहीं है ।

इसे सुनकर भट्टभास्कर ने उत्तर दिया कि सुषुप्ति काल में जीव और ब्रह्म की एकता की प्रतिबन्धिका प्रकृति (या अज्ञान) रहती ही नहीं ।

इस बात की पुष्टि " यत्र सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति " अर्थात् सुषुप्तिकाल में जीव ब्रह्म के साथ एक होने की बात का अनुभव कर लेता है - इस श्रुति वाक्य से भी होती है । अतः सुषुप्तिकाल में अज्ञान का चित्तवर्तित्व तो स्वयं ही निरस्त हो जाता है ।

यदि आप (शङ्कराचार्य) यह कहें कि " सोऽस्मिमाः सर्वाः प्रजाः इति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति " अर्थात् परमात्मा के साथ एकता प्राप्त कर लेने पर जीव कुछ भी नहीं जानता - इस श्रुति वाक्य में अज्ञान की प्रतीति होती है तो मेरे अनुसार यह अनुपयुक्त है क्योंकि श्रुतिवाणी यहाँ ज्ञान का निषेध करती है । उस ज्ञान के अभाव का प्रतिपादन होने के कारण यहाँ ज्ञान का निषेध नहीं हुआ है ऐसा नहीं है । भट्टभास्कर अपने पक्ष के समर्थन में दूसरा तर्क प्रस्तुत किया कि अज्ञान नित्य है या अनित्य ? अज्ञान की नित्यता प्रमाण के अभाव में असिद्ध है । अविरोधी चित्प्रकाश साक्षिरूप से सदा अवभासित होता रहता है । अतः अज्ञान के साथ इसका कोई विरोध नहीं है । इसलिये यह अज्ञान को दूर नहीं हटाता । जड़प्रकाश भी अज्ञान को नहीं हटाता क्योंकि जड़ से जड़ का कोई विरोध नहीं होता है । अज्ञान जड़ है और जड़ प्रकाश भी जड़ है । अतः अज्ञान के निवर्तक के न रहने पर अज्ञान की अनित्यता भी सिद्ध नहीं होती है । ऐसी अवस्था में यह निर्णय किया जा सकता है कि अज्ञान की सत्ता ही नहीं होती है । भट्टभास्कर पूर्वपक्ष - यदि अज्ञान की शून्यता (अभाव) सिद्ध होती है तब जीव और ईश की एकता का प्रतिबन्धक कौन है?- को कल्पित करके उत्तर देते हैं - कि वह प्रतिबन्धक भ्रम (मिथ्या ज्ञान) और अग्रह

(ग्रहण न करना) आदि हैं जो जीव और ब्रह्म की एकता (किम्वा आत्मा के ज्ञान) के प्रतिबन्धक हैं ।

इसे सुनकर शङ्कराचार्य ने भट्टभास्कर का पक्ष कल्पित करके कहा कि भ्रम आप किसे कहते हैं ? यदि आप " मैं मनुष्य हूँ " आत्मा में मनुजत्व धर्म के आरोप के कारण - इस ज्ञान को भ्रम मानते हैं तो आप अपने सिद्धान्त " भेदाभेद " को भूल चुके हैं । आपने तो सभी पदार्थों के सङ्करत्व को स्वीकार कर लिया है ।

आपके (भट्ट भास्कर के) मत में सभी पदार्थ भेद और अभेद प्रत्यय वाले हैं । " यह खण्ड गाय है " - यहाँ खण्ड का गाय से भेद भी और अभेद भी दोनों मान्य है । आपके शास्त्र में यह वाक्य प्रमाण है । ठीक इसी प्रकार " मैं मनुष्य हूँ " यह वाक्य भी भेदाभेद-विषयक होने के कारण प्रमाण कोटि में गणनीय है । इसे " भ्रम " मानकर आप अपने शास्त्र-सम्मत प्रमाण की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? आपकी ओर से यह अनुमान-प्रकार सिद्ध होता है - अहं मनुजः इति बुद्धिः (अनुभवः) प्रमाणम् , भिन्नाभिन्नविषयत्वात् , खण्डोऽयमितिवत् ।

अर्थात् " मैं मनुष्य हूँ " यह बुद्धि (अनुभव) भेदाभेदविषयक होने के कारण प्रमाण मानी जायेगी , यह खण्ड गाय है इस प्रतीति के समान । इस प्रकार आपके अनुमान के द्वारा " भ्रान्ति " भी " प्रमिति " ठहरती है ।

इसे सुनकर भट्ट भास्कर ने कहा - आपके उपर्युक्त अनुमान में हेतु सत्प्रतिपक्ष है । इसकी सिद्धि इस प्रकार से की जा सकती है -

देहात्म बुद्धि: अप्रमाणम्
निषिध्यमाणाविषयत्वात्
इदं रजतमिति ज्ञानवत् ।

जिस प्रकार " इदं रजतं " ज्ञान का उत्तरवर्ती " नेदं रजतं " ज्ञान से निषेध हो जाने के कारण वह अप्रमाण है उसी प्रकार " अहं मनुज: " ज्ञान का उत्तरवर्ती " नाहं मनुज: " ज्ञान से निषेध हो जाने के कारण अप्रमाण है । अत: आपका अनुमान सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास से दूषित है । इस प्रकार पूर्वोक्त बुद्धि (अहं मनुज:) " भ्रान्ति " है न कि " प्रमा " ।

इसे सुनकर शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया - आपका (भट्ट भास्कर) हेतु असिद्ध है क्योंकि " नायं खण्डो गौ: , किन्तु मुण्डो गौ: " वाक्य में खण्ड का निषेध मुण्ड द्वारा किया गया है । अत: आपका हेतु निषिध्यमाणाविषय होने के कारण व्यभिचारी है ।

भट्ट भास्कर ने पुन: आक्षेप किया - मेरा हेतु मात्र निषिध्यमाणाविषय ही नहीं है अपितु उससे प्रतीत वस्तु के अधिष्ठान का निषेध भी विवक्षित है । " इदं रजतम् " इस ज्ञान में " इदम् " अंश में रजत की प्रतीति होती है । वहीं " नेदं रजतम् " इस ज्ञान से " नेदम् " अंश में उस रजत के अधिष्ठान का निषेध हो जाता है । ठीक इसी प्रकार " अहं मनुज: " इस ज्ञान में " अहम् " अंश अर्थात् अधिष्ठानभूत आत्मा में मनुजत्व की प्रतीति होती है परन्तु " नाहं मनुज: " इस ज्ञान

है " नास्ति " अंश अर्थात् अधिष्ठानभूत उसी आत्मा में मनुजत्व के अधिष्ठान का निषेध हो जाता है । अतः यह ज्ञान भ्रम है । इसके विपरीत " खण्डो गौः " दृष्टान्त में गाय अधिष्ठान में खण्डत्व का निषेध नहीं होता है । अतः यहाँ भ्रम नहीं है अपितु यथार्थ ज्ञान है ।

शङ्कराचार्य ने भट्ट भास्कर के इस हेतु को भी व्यभिचारी बताया ।

अब भट्टभास्कर ने तर्क दिया कि मेरा हेतु व्यभिचारी नहीं है क्योंकि " नायं खण्डः किन्तु मुण्डः " इस दृष्टान्त में गोत्व अधिष्ठान में खण्ड की प्रतीति होती है न कि उसका निषेध होता है । खण्ड का तो मात्र मुण्ड में निषेध होता है ।

शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया - आपका यह तर्क उपयुक्त नहीं है । आपके कथन में दो विकल्प सम्भव हैं । १- खण्ड का मुण्डमात्र में निषेध और २ - खण्ड का गोत्व विशिष्ट मुण्ड में निषेध । इसमें पहला विकल्प इसलिये अस्वीकार्य है क्योंकि मुण्ड में खण्ड की प्रसक्ति (सम्भावना) का अभाव होता है । इसलिये मुण्ड में खण्ड के निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता है । दूसरा विकल्प भी अस्वीकार्य है क्योंकि गोत्वविशिष्ट मुण्ड में खण्ड के निषेधकाल में मुण्ड के विशेषणभूत गोत्व में भी इस खण्ड का निषेध सुनाई देना (मान्य होना) चाहिए जिस प्रकार " इदं " अधिष्ठान में शुक्ति के व्यक्त होने पर रजत का निषेध सुनाई देता है परन्तु यहाँ निषिध्यमाणविषय अर्थात् अधिष्ठानभूत गोत्व में खण्ड का निषेध सुनाई नहीं देता है अर्थात् गोत्व में खण्ड की प्रतीति होती है । अतः आप (भट्टभास्कर) के नये

हेतु (प्रतीत वस्तु के अधिष्ठान का निषेध) का भी व्यभिचार पूर्ववत् है। यह वज्रलेप के समान दृढ़ है। आपके (भट्टभास्कर के) इस अनुमान में " अनुच्छिन्नैतद्व्यवहर्तृत्व " उपाधि है। " नायं खण्डो गौरिति " इस निषेध ज्ञान के पश्चात् भी खण्ड में गौत्व का व्यपदेश होता है क्योंकि गाय में गौत्व का व्यवहार देखा जाता है। परन्तु ब्रह्म-साक्षात्कार के पश्चात् आत्मा में मनुजत्व का व्यवहार नहीं होता। साधन में व्यापक होने के कारण यह उपाधि नहीं है। यदि आप भट्टभास्कर यह शङ्का करें कि ब्रह्म-साक्षात्कार के पश्चात् भी प्रारब्धकर्मवश " मैं मनुष्य हूँ " इस अनुभव से यह साधन-व्यापक है तो ऐसा नहीं है। प्रारब्ध कर्म की समाप्ति हो जाने पर व्यवहार और व्यवहर्ता दोनों का उच्छेद हो जाने से यह साधन व्यापक नहीं है। इसी आशय को बताने वाली श्रुति का यह वाक्य भी है जिसमें श्रुति कहती है कि जिस पुरुष का समस्त विश्व ही आत्मस्वरूप बन जाता है वह किस इन्द्रिय से किस पदार्थ को देखेगा ? इस प्रकार श्रुति के वाक्य से मोक्षप्राप्त व्यक्ति के समस्त व्यवहारों का उच्छेद सिद्ध होने पर व्यवहर्ता का उच्छेद कैसे नहीं होगा ? श्रुति का यह कथन हमारे अद्वैत मत के सर्वथा अनुकूल है क्योंकि हमारे मत में ब्रह्म के अबोध के कारण सम्पूर्ण जगत् विलसित होता है और उस ब्रह्म के बोध हो जाने पर विलसित होने वाला जगत् लीन हो जाता है। इसके विपरीत आपके (भट्ट भास्कर के) मत में जगत् की सत्ता यथार्थ है। ऐसी अवस्था में उस जगत् का उच्छेद नहीं होना चाहिए। अतः श्रुतिविरुद्ध होने से आपका भेदाभेद मान्य नहीं है। इसके साथ ही आपका भेदाभेद हेतु असिद्ध भी है। कारण यह है कि भेदाभेद तो केवल जाति व्यक्ति , गुण-गुणी , कार्य-कारण , विशिष्टस्वरूप

तथा अंशांशी सम्बन्ध में होते हैं , परन्तु देह (जीव) और देही (ब्रह्म) इन तथाकथित पाँच अंशों से भिन्न होने के कारण यहाँ भेदाभेदविषयत्व हेतु असिद्ध है । यदि तुष्यतुदुर्जन न्याय से भेदाभेद विषयत्व को स्वीकार कर भी लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त सभी मिलकर भेदाभेद के प्रयोजक हैं या प्रत्येक स्वतन्त्र रूप से भेदाभेद के प्रयोजक हैं । इनमें से पहला पक्ष उपयुक्त नहीं है क्योंकि ये सभी एक साथ मिलकर नहीं रह सकते हैं । दूसरा पक्ष भी अस्वीकार्य है क्योंकि गुण-गुणिभाव के समान अङ्ग-अङ्गी भाव को ही देह-देही के भेदाभेद का प्रयोजक क्यों न मान लिया जाय ? इससे नये प्रयोजक की कल्पना का दोष भी उत्पन्न नहीं होगा और देह-देही में भेदाभेद-भाव जो आपको (भट्टभास्कर को) अभीष्ट है - का भी प्रतिपादन हो जायेगा ।

यदि जाति-व्यक्ति आदि पूर्वकथित सम्बन्धों में से एक सम्बन्ध को भेदाभेद का प्रयोजक मानने में ही आपका (भट्टभास्कर का) अभिनिवेश है तो वह भी यहाँ अर्थात् देह-देही के दृष्टान्त में दुर्लभ नहीं है । यहाँ आत्मा और शरीर में कारण और कार्य-भाव है । यदि आप(भट्टभास्कर) यह शङ्का करें कि समस्त जगत् परमात्मा (ब्रह्म) से उत्पन्न होने के कारण परमात्मा ही इसका कारण है आत्मा (जीव) नहीं - तो उपयुक्त नहीं है । परमात्मा और जीव में अभेद होने के कारण परमात्मा के सभी कार्य जीव के भी कार्य हैं ।

इस प्रकार असिद्धि आदि अनुमान के दोष से रहित होने के कारण यह " अहं मनुज: " अनुमान शुद्ध है । इस प्रकार भ्रम की प्रमिति समझने वाले

आपके (भट्टभास्कर के) मतानुसार भ्रम पद के अर्थ की सिद्धि ही नहीं होती है। भ्रम को यदि मान भी लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि भ्रम अन्तःकरण का परिणाम है या चिदात्मा का? इसमें पहला पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि अनुभव (भ्रमज्ञान) आत्मा में होता है यह मत भङ्ग हो जायेगा। भ्रमज्ञान अन्तःकरण का परिणाम नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मिट्टी से उत्पन्न घड़ा तन्तु में आश्रय नहीं ले सकता।

यदि आप (भट्टभास्कर) यह उत्तर दें कि जिस प्रकार रक्तपुष्प के संयोग से स्फटिक शिला में रक्तिमा प्रकाशित होने लगती है उसी प्रकार भ्रम से संयुक्त चित्त के योग से " मैं मनुष्य हूँ " यह भ्रम ज्ञान आत्मा में होना चाहिए। तब शङ्कराचार्य ने कहा कि इस स्थिति में आप बताइए कि अन्तःकरण के आश्रित भ्रम का आत्मा के साथ सम्बन्ध सत् है या असत्? प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि अन्यथाख्यातिवादी आपके मत में संसर्ग शून्यस्वरूप है। दूसरा विकल्प भी अनुपपन्न है क्योंकि अपरोक्ष वस्तु की उत्पत्ति असम्भव है। यदि भ्रम का आत्मा से सम्बन्ध है ही नहीं तो उसका ज्ञान आत्मा में क्यों होता है? परन्तु होता है वह अवश्य। अतः भ्रम अन्तःकरण का परिणाम है यह सिद्ध नहीं होता है।

इस प्रकार प्रथम पक्ष - भ्रम अन्तःकरण का परिणाम है इसका खण्डन करके शङ्कराचार्य ने अब दूसरा पक्ष - भ्रम आत्मा का परिणाम है - का भी खण्डन किया। आत्मा असङ्ग और निरवयव द्रव्य है। इसमें परिणाम की योग्यता नहीं है। यदि आत्मा में परिणति की

योग्यता कल्पित कर भी ली जाय तब भी वस्तुत: ऐसा सम्बन्ध नहीं मान सकते हैं । इसका कारण उन्होंने प्रस्तुत किया है - जाग्रत , स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों कालों में नित्यज्ञान का आश्रय बनने वाला प्रत्यगात्मा अन्य ज्ञानात्मक अर्थात् प्रकृत भ्रमज्ञानात्मक परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकता । कारण यह है कि नित्य ज्ञान और भ्रम ज्ञान दोनों गुणता के अवान्तर जाति होने के कारण सजातीय हैं । अत: इन दोनों गुणों का एक साथ उदय समकाल में नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सजातीय किन्तु गुणतारूपी अवान्तर जाति वाले दो प्रकार की शुक्लताएँ समकाल में एक स्थान पर नहीं रह सकती हैं ।

शङ्०कराचार्य आगे कहते हैं कि अब यदि आप (भट्टभास्कर) यह कहें कि मेरे मत में ज्ञान गुण नहीं अपितु गुणी है इस कारण उक्त दोष नहीं होगा तो उचित नहीं है । इसका कारण यह है कि जिस प्रकार कटक के आश्रयभूत स्वर्ण में रुचक आभूषण धारण की योग्यता नहीं होती है उसी प्रकार नित्य ज्ञान के आश्रय आत्मा में ज्ञानान्तर (भ्रम ज्ञान) धारण की योग्यता कहाँ हो सकती है ?

यदि आप यह शङ्०का करें कि " भ्रम " शब्द के अर्थ की निरुक्ति सम्भव न होने पर उसके संस्कार अग्रह या अविद्यारूप में रहें तो भी उचित नहीं है क्योंकि भ्रम नामक पदार्थ के न रहने पर उसके द्वारा उत्पन्न संस्कार कैसे विद्यमान हो सकते हैं ?

तुष्यतुदुर्जनन्याय से यदि अग्रह को मान भी लिया जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अग्रह क्या आत्मा के स्वरूप का ग्रहण

न करना है या आगन्तुक (वृत्ति) का ग्रहण न करना है ? प्रथम विकल्प असम्भव है क्योंकि आत्मा में शुद्ध ज्ञान नित्य रहता है। अतः कदापि चितिरूप का ग्रहण न होना सम्भव नहीं है। द्वितीय विकल्प भी असम्भव है क्योंकि आगन्तुक अर्थात् चित्त की वृत्ति के अभाव में भी चिद्रूप आत्मा अवभासित होता रहता है।

यदि आप (भट्टभास्कर) यह कहें कि दुःख, जड़ और अनृत स्वरूप अज्ञान (माया) का आश्रय आत्मा मानने पर इस अज्ञान के भञ्जक उपाय के अभाव में आत्मा को मुक्त होने का अवसर नहीं मिलेगा तो अनुचित है। "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य के द्वारा अखण्डवृत्ति से परब्रह्म के ज्ञान के अज्ञान का निवर्तक होने के कारण आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है। भेदाभेद मानने पर तो जगत् के समस्त व्यवहारों का उच्छेद होने लगेगा। संसार में इष्टसाधनताज्ञान से प्रवृत्ति होती है और अनिष्टसाधनताज्ञान से निवृत्ति होती है। परन्तु तुम्हारे (भट्टभास्कर के) मत में सब व्यवहार सङ्कीर्ण होने लगेगा। ऐसी स्थिति में जीवन भी दूभर हो जायेगा। अतः समस्त व्यवहार के मूलोच्छेद होने के कारण भेदाभेद मान्य नहीं है।

इस प्रकार अनेक तर्कों से भट्टभास्कर के मत को खण्डित करके शङ्कराचार्य ने उपनिषदों के विरुद्ध अभिप्राय को प्रकट करने वाले उनके अनेक ग्रन्थों का भी खण्डन किया।

च- <u>शङ्कराचार्य का जैनियों से शास्त्रार्थ</u>

भट्टभास्कर को पराजित करने के पश्चात् शङ्कराचार्य ने अवन्ति देश के प्रसिद्ध विद्वानों बाण, मयूर

तथा दण्डी आदि की द्वैतविषयक शङ्काओं का समाधान किया । तत्पश्चात् ये महर्षि बाह्लीक देश गये । वहाँ पर इनका जैनियों से शास्त्रार्थ हुआ ।

जैनियों ने शङ्कराचार्य से स्वदर्शनसम्मत - जीव , अजीव , आस्रव , संवर , निर्जर , बन्धन और मोक्ष - इन सात पदार्थों और सप्तभङ्गी नय की मान्यता न प्रदान करने का कारण पूछा ।

इसे सुनकर शङ्कराचार्य ने जैनियों से उनके दर्शनसम्मत जीवास्तिकाय के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये कहा । जैनियों ने जीवास्तिकाय का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया ।

जीव देह के अनुसार आकार ग्रहण करने वाला है और यह आठ कर्मों से आबद्ध रहता है ।

इसके बाद शङ्कराचार्य ने जैनियों के जीवविषयक सिद्धान्त को मान्यता न प्रदान करने का कारण बताया । परिमाण वाले दो पदार्थ ही नित्य हैं । पहला महत् परिमाण वाले पदार्थ तथा दूसरा अणु परिमाण वाले पदार्थ । आपके अनुसार जीव देह के अनुसार आकार ग्रहण करता है - इस कारण वह न महत् परिमाण वाला है और न अणु परिमाण वाला है । इन दोनों से इतर मध्यम परिमाण वाला जीव सिद्ध होता है । फलस्वरूप इसकी अनित्यता भी अन्य मध्यम परिमाण वाले पदार्थ घट आदि की अनित्यता के समान सिद्ध होती है । आपके (जैनियों के) अनुसार महत् परिमाण वाले शरीर से जीव के लघु

परिमाण वाले शरीर में प्रवेश करने पर उस जीव के कुछ अङ्ग लुप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार लघु परिमाण वाले शरीर से उस जीव के महत् परिमाण वाले शरीर में प्रवेश करने पर उस जीव के कुछ नये अङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं। निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि जीव के अङ्ग आवश्यकतानुसार लुप्त और उत्पन्न होते रहते हैं। हमारे (शङ्कराचार्य के) मत में जीव के अङ्गों की उत्पत्ति और विनाश की कल्पना उसे अन्य नश्वर पदार्थों के समान ही अनित्य सिद्ध करती है। इसके साथ ही जीव के लघु परिमाण वाले शरीर से महत् परिमाण वाले शरीर में प्रवेश करने पर वह जीव महत् परिमाण वाले शरीर को व्याप्त न कर सकेगा। इसी प्रकार जीव के महत् परिमाण वाले हाथी के शरीर से लघु परिमाण वाले चींटी के देह में प्रवेश करने पर उस जीव के कुछ अङ्ग अप्रविष्ट ही रह जायेंगे।

इसे सुनकर जैनियों ने उत्तर दिया कि महत् परिमाण वाले अवयवियों के साथ जीव के सङ्गम होने पर जीव के कुछ अङ्ग उत्पन्न हो जाने और लघु परिमाण वाले अवयवियों के साथ उसके सङ्गम होने पर जीव के कुछ अवयव के लुप्त हो जाने के कारण यहाँ समान व्याप्ति है। अतः यहाँ जीव देह के समान सिद्ध होता है।

जैनियों के इस कथन से शङ्कराचार्य सहमत नहीं हुए। उन्होंने कहा कि ये जीव के अवयव एक शरीर से दूर और अन्य शरीर के निकट जाते हैं (वस्तुतः जीव अपने सम्पूर्ण स्वरूप से नहीं जाता है) और इस प्रकार उपर्युक्त जीव के अवयव जीव के स्थान पर क्रिया करते हैं। ऐसी स्थिति में तो तथाकथित जीव अनित्य सिद्ध होता है। शङ्कराचार्य ने पुनः शङ्का की कि ये आत्मा (जीव) के अवयव उस अनात्म शरीर से कैसे उत्पन्न होंगे?और कैसे उस अनात्म (अजीवभूत) शरीर में विलीन होंगे?

वे आत्मा के अवयव जन्म और विनाश से रहित अर्थात् नित्य होते हुए भी भली-भाँति शरीरों के निकट जाते हैं और शरीरों से दूर जाते हैं। जीव कुछ अवयवों से उपचित अर्थात् उनके साथ एकत्र होकर गज आदि महत् परिमाण वाले शरीर में सम्पूर्ण रूप से जाता है और कुछ अवयवों से अपचित अर्थात् उनसे हीन होकर चींटी आदि लघु परिमाण वाले शरीर में असम्पूर्ण रूप से जाता है। इस प्रकार उनमें व्याप्त होकर जीव देहानुसार परिमाण वाला हो जाता है।

इसे सुनकर शङ्०कराचार्य ने पुन: प्रश्न किया कि क्या वे जीव के अवयव चेतन हैं या अचेतन ? प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर विरुद्ध मति वाले ये अवयव शरीर को उच्छिन्न (नष्ट) कर देंगे। द्वितीय विकल्प स्वीकार करने पर अचेतन होने के कारण ये सब मिलकर भी शरीर में चेतनता उत्पन्न नहीं कर सकेंगे। फलत: शरीर में दृश्यमान क्रियमत्व जो चेतन का धर्म है उपपन्न नहीं होगा।

अब जैनियों ने उत्तर दिया कि जिस प्रकार एक दूसरे के अभिप्राय को न जानते हुए भी बहुत से घोड़े मिलकर ऐकमत्य से एक रथ को चलाते हैं परन्तु परस्पर उनमें अप्रतीत होने वाली चेतनता भी प्रतिपन्न होती है। हे तत्वज्ञाता ! शङ्०कराचार्य ठीक उसी प्रकार एक दूसरे के अभिप्राय को न जानने वाले जीव के अवयव चेतनता को प्राप्त कर शरीर को चलावें। इसमें आपको क्या विप्रतिपत्ति है ?

शङ्०कराचार्य ने उत्तर दिया - अनेक भिन्न मत वाले घोड़े सारथिरूप नियन्त्रक की उपस्थिति में ऐकमत्य से एक रथ को चलाते हैं

परन्तु यहाँ (आपके उदाहरण में) नियन्त्रक के अभाव में जीव के अङ्गों में ऐकमत्य कैसे स्थापित हो सकता है?

इसे सुनकर जैनियों ने कहा - ऐसा नहीं है। विशाल शरीर में जीव के अवयव आ जाते हैं और लघु शरीर में ये अवयव छूट जाते हैं। इस प्रकार विकसित और सङ्कुचित होने के कारण यहाँ जोंक का दृष्टान्त उपयुक्त है।

अब शङ्कराचार्य ने कहा जीव के अवयव विकास और सङ्कुचन जैसे विकार से युक्त होने के कारण घट के समान नश्वर होंगे। ऐसी परिस्थिति में किये हुए कार्य के फल का नाश (कृत प्रणाश) और न किये हुए कार्य के फल की प्राप्ति (अकृताभ्यागम) दो दोष उत्पन्न हो जायेंगे। अर्थात् जीव के अवयवों की अनश्वरता जो प्रतिपादित है उसका खण्डन और इनकी नश्वरता जो प्रतिपादित नहीं है उसका मण्डन करना ये दो दोष उत्पन्न हो जायेंगे। इसके साथ ही यह जीव आठ कर्मों के भार से इस संसार-सागर में डूबा रहता है। ऐसी अवस्था में तुम्हारे सिद्धान्त में अभ्युपेत मोक्ष तुम्बीफल के समान सतत उर्ध्वगतिस्वरूप वाला नहीं कहा जा सकता है।

सात पदार्थों की मान्यता को अस्वीकार करके अब शङ्कराचार्य ने जैन दर्शन सम्मत सप्तभङ्गी नय को अस्वीकार करने का कारण बताया - आपके सप्तभङ्गी नय के अनुसार एक धर्मी में अनेक धर्म रह सकते हैं परन्तु हमारे मत में परमार्थतः सत् और असत् धर्म विरोधी होने के कारण एक ही धर्मी में एक साथ नहीं रह सकते हैं।

सर्वज्ञपीठ पर आरोहण के पूर्व शङ्कराचार्य का विभिन्न दार्शनिकों से शास्त्रार्थ

शारदा देवी के मन्दिर में प्रवेश करने के पूर्व शङ्कराचार्य का विभिन्न दार्शनिकों से साक्षात्कार हुआ ।

सर्वप्रथम वैशेषिकों ने इनकी परीक्षा ली । उन्होंने इनसे प्रश्न किया कि दो परमाणुओं के संयोग से सूक्ष्म द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है , यदि आप सर्वज्ञ हैं तो यह बताइये कि द्व्यणुक का आश्रय लेने वाला अणुत्व कैसे उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर न देने पर हम लोग समझेंगे कि आपके शिष्य ही आपको सर्वज्ञ कहते हैं । वस्तुतः आप सर्वज्ञ नहीं हैं ।

इसे सुनकर शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया कि परमाणुनिष्ठ जो द्वित्व सङ्ख्या है वही द्व्यणुकगत उस अणुत्व का कारण है । इस सटीक उत्तर ने वैशेषिक को चुप करा दिया ।

इसके पश्चात् एक नैयायिक ने गर्वयुक्त होकर शङ्कराचार्य से प्रश्न किया कि वैशेषिक मत से नैयायिक मत में क्या विशेषता है ? इस प्रश्न का उत्तर न देने पर " आप सर्वज्ञ नहीं हैं " ऐसा हम समझेंगे । इस कारण आप सर्वज्ञ होने की प्रतिज्ञा छोड़ दें ।

इस गर्वोक्ति को सुनकर शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया कि वैशेषिकों के मत में आत्मा और गुण के सम्बन्ध के अत्यन्त नाश (सदा के लिये नाश) हो जाने पर आकाश के समान आत्मा की निर्लिप्तता

की जो स्थिति है वही आत्मा की मुक्ति है । नैयायिकों के मत में आत्मा की यह मुक्ति की स्थिति आनन्दयुक्त होती है । इतना ही भेद है । दोनों दर्शनों का पदार्थ - भेद तो स्पष्ट ही है । वैशेषिक मत में सात पदार्थ - द्रव्य , गुण , कर्म , सामान्य , विशेष , समवाय और अभाव हैं । न्याय मत में सोलह पदार्थ - प्रमाण , प्रमेय , संशय , प्रयोजन , दृष्टान्त , सिद्धान्त , अवयव , तर्क , निर्णय , वाद , जल्प , वितण्डा , हेत्वाभास , छल , जाति और निग्रहस्थान हैं। ईश्वर जगत् का विधाता है अर्थात् वह निमित्त कारण है । शङ्कराचार्य के इस उत्तर को सुनकर नैयायिक इनको रोकने से विरत हो गये ।

नैयायिकों के पश्चात् सांख्यवादियों ने शङ्कराचार्य से प्रश्न किया ~~किया~~ कि मूल प्रकृति स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण है या चिदारूढ़ होकर जगत् का कारण बनती है ? यदि आप इस प्रश्न का उत्तर नहीं देंगे तो आपका इस मन्दिर में प्रवेश दुर्लभ है ।

इसे सुनकर शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया कि जगत् का कारणभूत वह प्रकृति विश्व को उत्पन्न करने वाली है । सत्व , रज और तम इन तीनों गुणों के कारण वह त्रिगुणात्मिका है । स्वयं वह स्वतन्त्र है । परिणाम के कारण वह बहुत से रूपों को धारण करने वाली है । यह कपिल का मत है परन्तु वेदान्तमत में वह परतन्त्र मानी गयी है ।

इसके पश्चात् पृथ्वी पर फैले हुए बाह्यार्थवादी , विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्धों के द्वारा " परीक्षा देकर ही देवी के धाम में

प्रवेश करो " यह घोषा गर्वपूर्वक करते हुए शङ्कराचार्य का रास्ता अवरुद्ध कर लिया गया । इन लोगों ने शङ्कराचार्य से दोनों प्रकार के बाह्यार्थवाद को और उसके पश्चात् वेदान्तमत से बाह्यार्थवाद के अन्तर को स्पष्ट करने के लिये कहा ।

अब शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया कि सौत्रान्तिक सभी पदार्थों को लिङ्ग (अनुमान) गम्य मानते हैं परन्तु वैभाषिक सभी पदार्थों को प्रत्यक्षगम्य कहते हैं । सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनों पदार्थों की क्षणभङ्गुरता को मानने में अभिन्न मत हैं । बाह्य अर्थ की सत्ता कैसे ज्ञात की जाती है ? इस विषय में दोनों का मत-भेद है । विज्ञानवादी " विज्ञान " (चित्त) को क्षणिक और अनेक मानता है परन्तु वेदान्तवादी स्थिर और अखण्ड-स्वरूप ज्ञान को मानता है । इस प्रकार दोनों में महान भेद है ।

इसके पश्चात् दिगम्बर (जैन) ने शङ्कराचार्य से कहा कि यदि आप सब कुछ जानने वाले हैं तो मेरे मतानुसार " अस्तिकाय " शब्द का अर्थ बताइये ।

इसे सुनकर शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया कि आपके मत में अस्तिकाय शब्द का अर्थ है - जीवास्तिकाय , पुद्गलास्तिकाय , धर्मास्तिकाय , अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय । ये ही जीवादि-पन्चक कहे जाते है । जैनमत गर्हणीय है । इस कारण इसके विषय में जो कुछ पूछना है शीघ्र पूछो ।

अब मीमांसक ने शङ्कराचार्य से प्रश्न किया कि जैमिनीय मत में " शब्द " का स्वरूप क्या है ? वह द्रव्य है या गुण ?

शङ्कराचार्य ने इसका उत्तर दिया कि वर्ण नित्य , सर्वव्यापक और श्रवणेन्द्रिय के द्वारा प्रतीत्य हैं । यही इनका स्वरूप है । वर्णों का समूह शब्द है । वह भी सर्वव्यापी और नित्य द्रव्य है ।

इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य का क्रमश कापालिक और अभिनवगुप्त से भी शास्त्रार्थ हुआ था किन्तु विस्तार से इनकी चर्चा " श्रीशङ्करदिग्विजय " में नहीं हुई है ।

११- उग्रभैरव का वृत्तान्त

महाराष्ट्र देश में अपने ग्रन्थों का प्रचार करके अत्यन्त विद्वान् शङ्कराचार्य दूसरे मतावलम्बियों को परास्त करने के उद्देश्य से " श्रीशैल " पर्वत पर गये । वहाँ पर इनके निवास-काल में छद्मवेशधारी साधु के रूप में एक कापालिक इनके पास आया । आकर उसने शङ्कराचार्य से निवेदन किया - 'सशरीर कैलाशगमन और वहाँ शङ्करभगवान् के साथ रमण करने की कामना से मैंने सौ वर्षों तक शङ्कर भगवान की तपस्या की है । तपस्या से प्रसन्न होकर उन्होंने मेरी कामना की पूर्ति के लिये किसी सर्वज्ञ अथवा राजा के शिर को हवन करने के लिये कहा है । मुझे कोई दूसरा राजा या विज्ञानी उपलब्ध नहीं हुआ है । इस कारण परोपकारी और अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले आपके पास मैं आया हूँ । मुझे पूर्ण आशा है कि दयालु होने के कारण

आप मुझे अपना शिर अवश्य दान कर देंगे । " कापालिक ने शङ्करााचार्य को शिरोदान के लिये तरह-तरह के उदाहरणों के द्वारा प्रेरित किया ।

शङ्कराचार्य बिना किसी ननु नच के उसे अपना शिर देने के लिये तैयार हो गये परन्तु इन्होंने एक सीमा रखी । इन्होंने कहा -" मैं सबके समक्ष अपना शिरोदान करने का उत्साह नहीं रखता हूँ क्योंकि मेरे शिष्य मुझे ऐसा नहीं करने देंगे । अतएव अतएव आप एकान्त में मेरा शिर ले सकते हैं । "

शङ्कराचार्य के उत्तर से प्रसन्न होकर कापालिक अपने घर चला गया । इसके पश्चात् वह अपने हाथ में त्रिशूल लेकर , माथे में त्रिपुण्ड्र धारण कर , सामने की ओर मुख वाले शिर : अस्थियों की माला को गले में पहनकर , मदिरा के नशे में धुत होकर लाल-लाल आँखें घुमाता हुआ एकान्त समय में शङ्कराचार्य के पास आया ।

शङ्कराचार्य के ऊपर ज्योंहि वह कापालिक प्रहार करने वाला था त्योंहि " पद्मपाद " नामक उनके शिष्य ने कापालिक की वृत्ति भाँप ली । क्रोध से भरकर उसने नरसिंह भगवान् का ध्यान किया । क्षण भर में ही वह नृसिंहभाव को प्राप्त कर कापालिक के ऊपर झपट पड़ा । भयङ्कर गर्जन करते हुए अपने दाढ़ों के अन्दर कापालिक के शरीर को रखकर क्षण भर में पीस डाला । भयङ्कर अट्टहास सुनकर उनके सभी शिष्य एकत्रित हो गये । उन लोगों ने अपने सामने " भैरव " नामक कापालिक को मृत देखा ।

१२- हस्तामलक का वृत्तान्त

शङ्कराचार्य के अनेक शिष्यों में से हस्तामलक एक अत्यन्त विरागी शिष्य था । सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्यभाव होने के कारण उसका व्यवहार असमान्य था । बाल्यावस्था में , वह अन्य सामान्य बच्चों के समान खेलकूद , पढ़ने-लिखने यहाँ तक कि भोजन ग्रहण करने में भी कोई रुचि नहीं रखता था । बालक के इस व्यवहार को देखकर उसके माता-पिता ने उसे पागल या ग्रहग्रस्त समझ लिया था ।

एक दिन वह बालक शङ्कराचार्य के पास लाया गया । उसके माता-पिता ने उसे उनके चरणों में लिटा दिया । लेटने के पश्चात् अपनी जड़ता का परिचय देने के उद्देश्य से वह उठा ही नहीं । कुछ देर के बाद शङ्कराचार्य ने स्वयं उसे अपने हाथों से सहारा देकर उठाया । उठकर उस बालक ने शङ्कराचार्य को बारम्बार प्रणाम किया तथा दार्शनिक पदावलियों में इनकी स्तुति भी की । चैतन्यरूप आत्मा का परिचय उसने बारह श्लोकों में दिया । उन श्लोकों के अर्थ हाथ में रखे आँवले के समान अद्वैतपरमात्मतत्व को प्रकाशित कर रहे थे । श्लोक श्रवण से प्रसन्न होकर शङ्कराचार्य ने उसका " हस्तामलक " नामकरण कर दिया और उसे अपना शिष्य बना लिया ।

कभी भी वेद आदि का अध्ययन न करने वाला वह बालक शङ्कराचार्य के समक्ष बारह श्लोकों की रचना में कैसे समर्थ हुआ ? आश्चर्यान्वित शिष्यों के द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर शङ्कराचार्य ने

यह रहस्योद्घाटन किया कि वह हस्तामलक पूर्वजन्म में " ब्रह्मलीन " मुनि था । एक दिन कोई कन्या उसके संरक्षण में अपने पुत्र को छोड़कर गङ्गास्नान करने गयी हुई थी । समाधिस्थ होने के कारण उस मुनि ने बच्चे पर ध्यान नहीं दिया , फलस्वरूप वह नदी में चला गया और मर गया । बालक को मृत देखकर उसकी माँ अत्यन्त दु:खी हुई और करुण क्रन्दन करने लगी । इससे खिन्न होकर वह मुनि योगबल से स्वयं उस बच्चे के शरीर में प्रविष्ट हो गया । यही कारण है कि बिना उपदेश प्राप्त किये ही उसे परमात्मतत्व का बोध था ।

१३- तोटकाचार्य का वृत्तान्त

तोटकाचार्य का पूर्व नाम " गिरि " था । वह नितान्त जड़ प्रकृति वाला शङ्कराचार्य का शिष्य था । उसकी जड़बुद्धि के कारण ही " पद्मपाद " ने उसकी तुलना दीवार से कर दी थी । वह अपने गुरु का परमभक्त शिष्य था । वह गुरु का सदैव अनुगामी था - गुरु के स्नान करने पर स्नान करता था , उनके सम्मुख खड़े होकर कभी जम्हाई नहीं लेता था , गुरु के लिये दतुअन , मिट्टी आदि रखता था , गुरु के चलने पर चलता था , बैठने पर बैठता था और खड़े होने पर उनके पीछे खड़ा हुआ करता था । उसकी अलौकिक गुरुभक्ति से शङ्कराचार्य अत्यन्त प्रसन्न थे ।

पद्मपाद ने एक बार उसकी तुलना जड़त्व में दीवाल से कर दी थी । उस समय शङ्कराचार्य अपने प्रिय शिष्य (तोटकाचार्य) का

अपमान नहीं सह सके । उसी समय इन्होंने उसे मन ही मन चौदह विद्याओं का उपदेश दे डाला । परिणामस्वरूप उसने उसी क्षण ललित " तोटक " छन्द में शङ्कराचार्य की स्तुति की । उसे सुनकर सभी शिष्य आश्चर्यचकित रह गये । " तोटक " छन्द में शङ्कराचार्य की स्तुति करने के कारण इन्होंने उसका नाम " तोटकाचार्य " रख दिया ।

१४- पद्मपाद का वृत्तान्त

पद्मपाद का पूर्व नाम " सनन्दन " था एक बार शङ्कराचार्य ने दूर देश गये हुए अपने शिष्यों का आह्वान किया । उस समय गङ्गा नदी में बाढ़ आयी थी । इस कारण सभी शिष्य नदी पार करने के लिये वाहनों की खोज में जुट गये , परन्तु सनन्दन ने उपर्युक्त कार्य में समय व्यतीत करना उचित नहीं समझा । उसने गहरे जल की चिन्ता किये बिना नदी में गुरु का स्मरण करते हुए अपना पैर रख दिया । इस गुरु-भक्ति से प्रसन्न होकर गङ्गा नदी ने तत्क्षण उसके पैरों के नीचे कमलों को बिछा दिया । इस पर पैर रखकर उसने सुगमता से पलक झपकते ही नदी पार कर ली । इसी घटना के आधार पर गुरु ने उसका नाम " पद्मपाद " रख दिया ।

वह अपने गुरु का परम हितैषी शिष्य था । वह सदैव गुरु की रक्षा के प्रति सतर्क रहा करता था । इसका प्रमाण हमें कई स्थलों पर प्राप्त होता है । जब शङ्कराचार्य अमरुक राजा के शरीर में प्रवेश करने की इच्छा व्यक्त करते हैं तब गुरु कहीं राजसी वैभव से मोहित न

हो जायें - इस भय से उसने गुरु को ऐसा करने से विरत करने का असफल प्रयास मत्स्येन्द्रनाथ की कथा के माध्यम से किया ।

अमरुक के शरीर में प्रविष्ट शङ्कराचार्य के प्रत्यावर्तन की निश्चित अवधि समाप्त होने पर भी जब वे नहीं लौटे तब वह व्याकुल होकर गुरु की खोज में घर से बाहर निकल पड़ा था । आध्यात्मिक गायन के माध्यम से अपने गुरु को पूर्वजन्म का स्मरण दिलाकर वह इन्हें पूर्वशरीर में वापस ले आया ।

उग्रभैरव द्वारा शङ्कराचार्य पर प्रहार किये जाने पर उसने भयङ्कर नृसिंह का रूप धारण कर लिया था । उसके अट्टहास से सभी प्राणी भयभीत हो गये थे । उसने उग्रभैरव को मारकर अपने गुरु की प्राणरक्षा की ।

जीवन के अन्तिम समय में उत्पन्न भगन्दर रोग का कष्ट भी शङ्कराचार्य को झेलना पड़ा । उस समय भी पद्मपाद ने ही वैद्यों को बुलाने में अगवानी की थी । जब उसे यह मालूम हुआ कि यह रोग अभिनवगुप्त के अभिचार का फल है तो वह गुरु के बारम्बार मना करने पर भी अभिनवगुप्त के प्रति इस अभिचार को उलट दिया । इस प्रकार उपर्युक्त घटनाएँ पद्मपाद की गुरुभक्ति के ज्वलन्त प्रमाण हैं ।

१५- शङ्कराचार्य के जीवन की अन्तिम घटनाएँ

क भगन्दर रोग

सर्वदिग्विजयी शङ्कराचार्य से अधिकांश लोग ईर्ष्या करने लगे थे । पराजय के अपमान से लज्जित अतएव ईर्ष्याविष्ट

अभिनवगुप्त ने बदले की भावना से इनके प्रति अभिचार कर दिया था ।
इसके फलस्वरूप इन्हें " भगन्दर " नामक रोग उत्पन्न हो गया ।
शङ्कराचार्य रोग को पाप कर्मों का फल मानते थे । इनका मत था
कि पाप कर्मों के क्षय हो जाने पर रोग भी दूर हो जायेगा । अतः
रोग के उपचार के लिये ये औषधि प्रयोग को अनावश्यक समझते थे ।
शिष्यों के द्वारा हठ किये जाने पर इन्होंने बड़ी मुश्किल से उन्हें वैद्यों
को बुलाने का आदेश दिया । दुर्भाग्यवश वे वैद्यों की औषधि से स्वस्थ
नहीं हो पाये । इस कारण इन्होंने रोग निवृत्ति की कामना से महादेव
की आराधना की । इनकी आराधना से प्रसन्न होकर महादेव ने
आकाशवाणी की कि यह रोग अभिनवगुप्तकृत अभिचार का दुष्फल है ।
इसके उपचार के लिये कोई औषधि नहीं है । इस आकाशवाणी को सुनकर
शङ्कराचार्य के परमहितैषी शिष्य पद्मपाद ने अभिनवगुप्त के प्रति
अभिचार उलटने के लिये मन्त्र जपा । फलस्वरूप शङ्कराचार्य रोगमुक्त
हो गये और अभिनवगुप्त उसी रोग से मर गया ।

ख- गौड़पाद से शङ्कराचार्य की भेंट

शङ्कराचार्य के गुणों को सुनकर
उत्कण्ठित हृदय वाले गौड़पाद एक दिन इनसे मिलने गये । उस समय
शङ्कराचार्य ब्रह्म का ध्यान कर रहे थे किन्तु वायु के साथ गौड़पाद को
आये हुए देखकर इन्होंने उनके चरणों की वन्दना की और हाथ जोड़कर
उनके सामने खड़े हो गये । गौड़पाद ने इनसे आत्मविद्याविषयक प्रश्न
किया । शङ्कराचार्य ने उनके सभी प्रश्नों का उत्तर बड़ी सुगमता और

विनम्रता से दिया । गौड़पाद को इन्होंने अपना भाष्य भी पढ़कर सुनाया । माण्डूक्योपनिषद् और माण्डूक्यकारिका के भाष्यों को सुनकर गौड़पाद विशेष रूप से प्रसन्न हुए । उन्होंने इनको इनके मनपसन्द वर भी प्रदान किया ।

ग- शङ्कराचार्य का सर्वज्ञ पीठारोहण

एक दिन प्रात:काल शङ्कराचार्य स्नानादिकर्म करके ब्रह्म चिन्तन में प्रवृत्त होने ही वाले थे उसी समय इन्होंने काश्मीर के सर्वज्ञपीठ की कथा सुनी । कथा इस प्रकार थी - इस भूतल पर जम्बूद्वीप सर्वश्रेष्ठ है।उस जम्बूद्वीप में भारतवर्ष सर्वोत्तम है । उसमें भी काश्मीर मण्डल सबसे अधिक रमणीय है ॥ वहाँ पर वाणी की अधीश्वरी " शारदा देवी " निवास करती हैं । उस शारदा के मन्दिर में चार कपाट और अनेक मण्डप हैं । वहाँ सर्वज्ञपीठ भी है । उस पीठ पर आरोहण करने वाला मनुष्य सर्वज्ञ माना जाता है । सर्वज्ञ को छोड़कर कोई मनुष्य उसमें प्रवेश की योग्यता नहीं रखता । पूर्व के सर्वज्ञ लोग पूर्वी दरवाजे से , पश्चिम के सर्वज्ञ लोग पश्चिमी दरवाजे से , उत्तर के सर्वज्ञ लोग उत्तरी दरवाजे से उसमें प्रवेश करते हैं । परन्तु बन्द दक्षिण दरवाजा कभी नहीं खुल पाता क्योंकि दक्षिणवासी कोई भी सर्वज्ञ नहीं है ।

शङ्कराचार्य ने इस कथा की सत्यता के परीक्षण के लिये काश्मीर प्रस्थान किया । दक्षिणवासी होने के कारण शारदामन्दिर

के दक्षिणी दरवाजे को खोलने की इनकी उत्कट अभिलाषा थी ।
ये ज्योंहि दक्षिणी द्वार में प्रवेश करने के लिये अग्रसर हुए प्रतिपक्षियों
ने इन्हें तुरन्त रोक लिया । दक्षिणी द्वार में प्रवेश करने के पूर्व इन्हें
दर्शनशास्त्रविषयक अपने ज्ञान की परीक्षा देनि पड़ी । सर्वज्ञ सिद्ध होने
पर ये सरस्वती के भद्रासन पर बैठने के लिये आगे बढ़े ही थे कि आकाशवाणी
ने इन्हें फिर रोक लिया । आकाशवाणी यह थी - " इस पीठ पर
बैठने के लिये न केवल सर्वज्ञता वरन् शुद्धता भी आवश्यक है । आपने स्त्रियों
के संसर्ग से शुद्धता खो दी है । अतः आप इस पर बैठने के अयोग्य हैं ।"

आकाशवाणी के उत्तर में शङ्कराचार्य ने स्पष्ट किया
" मैंने इस शरीर से कोई पाप कर्म नहीं किये हैं । स्त्रियों का संसर्ग भी
मैंने दूसरे शरीर से किया है । अतः मैं पूर्णतः शुद्ध हूँ । "

इस प्रकार अनेक परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने के पश्चात् ही
शङ्कराचार्य सर्वज्ञपीठ पर बैठ पाये ।

घ- <u>शङ्कराचार्य का बदरी-क्षेत्र में निवास</u>

सर्वज्ञपीठ पर आरोहण
करने के पश्चात् अद्वैत मत की गुरुता को प्रदर्शित करने के उद्देश्य शङ्कराचार्य ने
कुछ शिष्यों को ऋष्यशृङ्ग आश्रम में नियुक्त किया । इसके बाद कुछ शिष्यों
को साथ लेकर इन्होंने बदरी क्षेत्र के लिये प्रस्थान किया । वहाँ पर

इन्होंने पातञ्जलशास्त्र में आस्था रखने वाले व्यक्तियों को अपना " शारीरकभाष्य " पढ़ाया । तदनन्तर वहाँ पर इन्होंने कुछ दिनों तक निवास किया ।

१०- शङ्कराचार्य की केदार यात्रा

बदरी क्षेत्र में निवास करने के पश्चात् शङ्कराचार्य " केदार " नामक स्थान पर पहुँचे । वहाँ पर इन्होंने अपने शिष्यों की ठण्ड से रक्षा करने के उद्देश्य से भगवान शङ्कर की स्तुति की और गर्मजल की धारा को प्रवाहित करवाया । इसी स्थान से वे स्वर्ग-धाम को चले गये ।

द्वितीय खण्ड

कथानक की समीक्षा

१- कथानक का निर्वाह

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में कथानक का निर्वाह ग्रन्थ के नाम को ध्यान में रखते हुए किया गया है । सम्पूर्ण ग्रन्थ में मात्र मण्डनमिश्र और उभयभारती का विवाह प्रसङ्ग ही कथानक से असम्बद्ध प्रतीत होता है क्योंकि इस अंश को पृथक् कर देने पर भी कथानक के सौन्दर्य की क्षति नहीं होती है । यह अंश तो नायक के पुरुषार्थ से भी सम्बद्ध नहीं है । यह अंश व्यासाचलकृत " शङ्करविजयः " ग्रन्थ से

गृहीत होने के कारण एक ओर माधवाचार्य की मौलिकता का परिचायक नहीं है दूसरी ओर विषयान्तर दोष को भी उत्पन्न करता है । तथापि महाकाव्य में अपेक्षित वर्णन-वैविध्य , रस-वैविध्य आदि की दृष्टि से मण्डनमिश्र और उभयभारती का विवाह प्रसङ्ग उचित ही है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में अनेक स्थलों पर दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है । ऐसे लगभग सभी स्थल माधवाचार्य की मौलिक उद्भावनाएँ हैं । इन स्थलों को माधवाचार्य ने बड़े रोचक ढङ्ग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और कहीं-कहीं जैसे - वर्षा-वर्णन , शरद्-वर्णन , शारदापीठ पर आरोहण के पूर्व दार्शनिक सिद्धान्तों के सरस प्रतिपादन में इन्हें अद्भुत सफलता मिली है परन्तु कहीं-कहीं जैसे - मण्डनमिश्र , नीलकण्ठ और भट्टभास्कर आदि से शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ के अवसरों पर वर्णित दार्शनिक सिद्धान्त कथानक के प्रवाह को मन्द कर देता है ।

२- कथानक में अलौकिक तत्व

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के कथानक में कहीं-कहीं अलौकिक घटनाओं का भी दर्शन होता है । जीव जन्तु मानव अभिप्राय के ज्ञाता हो ऐसा सामान्य जीवन में दिखाई नहीं देता शङ्कराचार्य के चरण ग्रहण और विमोचन के अवसरों पर जलचर का परिचित व्यक्ति की भाँति बालक शङ्कराचार्य के अभिप्राय को जानने और तदनुकूल आचरण करने में अलौकिकता का पुट है ।

इसी प्रकार शङ्०कराचार्य के द्वारा बाढ़ के जल को घड़े में भरना , शङ्०कराचार्य के द्वारा आकाशमार्ग से मण्डनमिश्र के घर पहुँचना , शङ्०कराचार्य के द्वारा मृत राजा अमरुक के शरीर में प्रवेश करना , ब्रह्मलीन मुनि (हस्तामलक) के द्वारा मृत बच्चे के शरीर में प्रवेश करना और जड़बुद्धि तोटकाचार्य में क्षणभर में चौदहों विद्याओं के ज्ञान का उदय होना आदि घटनाएँ लौकिक दृष्टि से साधारण घटनाएँ नहीं हैं । इसलिये इन्हें अलौकिक तत्त्व के रूप में निरूपित किया जा सकता है । इसी प्रकार मूकाम्बिका देवी के मन्दिर में सुनाई देने वाली भविष्यवाणी और शारदापीठ पर शङ्०कराचार्य के आरोहण के पूर्व सुनाई देने वाली भविष्यवाणी भी " श्रीशङ्०करदिग्विजय " में प्रयुक्त ऐसी अलौकिक घटनाएँ हैं जो सर्वथा विस्मय और सरसता का अद्भुत दृश्य उपस्थित करती हैं ।

३- कथानक की भाषा-शैली

कथानक में प्रसङ्०ग के अनुसार भाषा भी मिलती है । वार्तालाप के प्रसङ्०ग में प्राय: सरल पदों वाले और छोटे-छोटे वाक्य प्रयुक्त हुआ करते हैं । विवेच्य ग्रन्थ में भी इसी शैली को अपनाया गया है । शङ्०कराचार्य और उनकी माँ के वार्तालाप के प्रसङ्०ग , शङ्०कराचार्य और मण्डनमिश्र के वार्तालाप के प्रसङ्०ग , शङ्०कराचार्य और उभयभारती के वार्तालाप के प्रसङ्०ग इस दृष्टिकोण के सर्वोत्तम स्थल हैं , परन्तु शास्त्रार्थ में वादी-प्रतिवादी की विद्वत्ता प्रकट होने का अवसर होता है इस कारण ऐसे स्थलों पर विद्वत्ता के ज्ञापक कठिन पदावली का

प्रयोग हुआ है । अथ च ऐसे अंशों को सूत्र-शैली में प्रस्तुत किया गया है । अतः ऐसे स्थल साधारण पाठकों के लिये दुर्बोध हो गये हैं । शास्त्रार्थ के प्रसङ्ग में न्याय की शैली और उन-उन दर्शनों की पारिभाषिक पदावली का प्रयोग चित्ताकर्षक है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में पुराणों की चामत्कारिक शैली का भी दर्शन कहीं-कहीं होता है । इसमें शुष्क या अमूर्त पदार्थों को कथा के पात्र के रूप में इसलिये वर्णन किया जाता है जिससे श्रोता या पाठक के मन में निरन्तर कुतूहल और विस्मय आदि की मनःस्थिति बनी रहे ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में पुराणों के समान ही कहानी के रूप में कथानक का प्रारम्भ हुआ है । यह कहानी देवलोक से सम्बन्धित है । इसके सभी पात्र देवी-देवता के अवतार के रूप में चित्रित किये गये हैं । सामान्य पात्र में देवत्व के प्रकट होने से पाठक के मन में कुतूहल और विस्मय की स्थिति अन्त तक बनी रहती है । पूर्व वर्णित " कथानक में अलौकिक तत्व " नामक शीर्षक की सभी बातें इस प्रसङ्ग की पुष्टि करती हैं ।

४- कथानक में नाटकीय तत्व

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के कथानक में कई ऐसे वर्णन-प्रसङ्ग हैं जो पाठक को नाटकीय आनन्द प्रदान करते हैं । इसका सबसे पुष्ट उदाहरण शारदा के पीठ पर आरोहण करने के पूर्व विभिन्न दार्शनिकों द्वारा ली गयी शङ्कराचार्य की परीक्षा है । यहाँ

राजा के दरबार जैसा बिम्ब उपस्थित किया गया है । जिस प्रकार राजा के दर्शन करने के इच्छुक सामान्य व्यक्ति को उनके दरबानों द्वारा लगाये गये अनेक प्रतिबन्धों को झेलना पड़ता है उसी प्रकार शारदापीठ पर आरोहण के इच्छुक शङ्कराचार्य को विभिन्न दार्शनिकों के द्वारा स्वदर्शनविषयक प्रश्नोत्तररूप प्रतिबन्ध का सामना करना पड़ा । इस नाटकीय प्रश्नोत्तर का उद्देश्य जय-पराजय रूप फल की प्राप्ति नहीं अपितु बहुश्रुतता सामान्य दृष्टि से लोकरंजन और अलौकिकता का निर्वाह है ।

५- आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक वृत्त

साहित्याचार्यों ने इतिवृत्त (कथानक) को दो प्रकार का माना है - १- आधिकारिक २- प्रासङ्गिक ।

कथा के प्रधानफल का स्वामी अधिकारी कहा जाता है और उस अधिकारी के इतिवृत्त को आधिकारिक कथानक कहते हैं । आधिकारिक के लिये प्रसङ्गवश आया हुआ वृत्त प्रासङ्गिक कथानक कहलाता है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य कथा के प्रधानफल (अविद्या के विनाश) के स्वामी हैं । अतः इनका वृत्तान्त आधिकारिक इतिवृत्त है । प्रतिनायकवर्ग मण्डनमिश्र आदि एवं शिष्यवर्ग पद्मपाद आदि के अन्य अनेक वृत्तान्त प्रसङ्ग प्राप्त होने के कारण प्रासङ्गिक इतिवृत्त हैं । ये प्रधान इतिवृत्त के विकास में सहायक हुए हैं ।

यह उल्लेखनीय है कि मण्डनमिश्र और उभयभारती के विवाह का वर्णन जो प्रासङ्गिक इतिवृत्त के अन्तर्गत आता है - अनुपयुक्त प्रतीत होता है । इसका मुख्य कारण यह माना जा सकता है कि " श्रीशङ्करदिग्विजय " का मुख्य प्रतिपाद्यविषय शङ्कराचार्य के चरित का वर्णन करना है और यह प्रसङ्ग शङ्कराचार्य के चरित्र के विकास में कथमपि सहायक नहीं हुआ है । इस प्रसङ्ग का उद्देश्य महाकाव्य के लिये विहित " नानारसों की अनुभूति " नियम का पालन करना मात्र हो सकता है , परन्तु यह अनुभूति यथावसर हो रही है या अनवसर इससे ग्रन्थकार को कोई लेनादेना नहीं है ।

यहाँ यह शङ्का भी नहीं की जा सकती है कि माधवाचार्य ने अपनी विद्वत्ता और अनुभव को प्रकट करने के उद्देश्य से इस प्रसङ्ग का कथानक में समावेश किया है क्योंकि यह प्रसङ्ग व्यासाचलकृत " शङ्करविजय: " ग्रन्थ से उद्धृत है ।

६- " श्रीशङ्करदिग्विजय " में नाट्यसन्धियों की स्थिति

साहित्याचार्यों ने महाकाव्य के कथानक में भी नाट्यसन्धियों की अनिवार्य स्थिति मानी है । ये सन्धियाँ अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं के मेल से बनती हैं । इस कारण सन्धियों के विवेचन के अवसर पर प्रसङ्गप्राप्त अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं पर भी विचार करना उपयुक्त है परन्तु विवेच्यग्रन्थ " श्रीशङ्करदिग्विजय " इस दृष्टिकोण से नहीं रचा गया है । इसमें अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं का ठीक-ठीक विभाजन नहीं हो पाता है ।

अत: इस शोध-प्रबन्ध में " श्रीशङ्करदिग्विजय " के कथानक में उपन्यस्त केवल पञ्च सन्धियों का विवरण दिया गया है ।

किसी एक लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले परस्पर सम्बद्ध कथांशों को अन्य प्रयोजन से सम्बद्ध किये जाने पर जो अवान्तर सम्बन्ध स्थापित होता है उसे सन्धि कहते हैं ।[1] भरत के नाट्य शास्त्र में इतिवृत्त को काव्य का शरीर और सन्धियों को उसका अवयव कहा गया है ।[2] मुख्यत: सन्धियों की कुल संख्या पाँच है परन्तु अनेक सन्ध्यङ्गों का उल्लेख भी मिलता है । इन पाँचों सन्धियों के नाम हैं क्रमश: - मुख , प्रतिमुख , गर्भ , विमर्श और उपसंहृति या निर्वहण ।[3] " श्रीशङ्करदिग्विजय " के कथानक के परिप्रेक्ष्य में इन सन्धियों का अध्ययन आगे किया जा रहा है ।

क - मुखसन्धि

कथानक के जिस अंश में प्रयोजन को स्पष्ट करने वाली तथा अनेक रसों को व्यञ्जित करने वाली " बीज " नामक अर्थप्रकृति की उत्पत्ति " प्रारम्भ " नामक कार्यावस्था के समन्वय से हो वहाँ मुखसन्धि होगी ।[4]

१- अन्तरैकार्थसम्बन्ध: सन्धिरैकान्वये सति । दशरूपक , १-३०

२- इतिवृत्तं तु काव्यस्य शरीरं परिकीर्तितम् ।
पञ्चभि: सन्धिभिस्तस्य विभागा: परिकीर्तिता: ।।
भरतनाट्यशास्त्र , २१-१

३- मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृति: ।।
इति पञ्चाऽस्य भेदा: स्यु: ----- । सा० द० , ६-७५, ७६

४- यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् । सा० द०, ६-७६ , ७७

मुखसन्धि के दर्शन से पाठकों को पूरे कथानक का अनुमान हो जाता है।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " का प्रथम सर्ग मुखसन्धि कहा जा सकता है। इस सर्ग में बीज के रूप में संकेतित तत्व - नास्तिक पाखण्डियों के द्वारा पीड़ित देवों का शिव भगवान के पास गमन , उनसे अपनी व्यथा कहना तथा अन्त में भगवान शिव के द्वारा अन्य देवों के साथ स्वयं पृथ्वी पर जन्मग्रहण कर ज्ञानकाण्ड आदि के प्रचार से उनके कष्टों को दूर करने का आश्वासन देना आदि - न्यस्त है। इस सर्ग के अध्ययन से आगे वर्णित होने वाली सम्पूर्ण कथा की सूचना पाठकों को सहज में ही प्राप्त हो जाती है।

ख - प्रतिमुख सन्धि

प्रतिमुखसन्धि में बीज के रूप में संकेतित तत्व का ऐसा स्फुरण होता है जो कुछ स्पष्ट हो और कुछ अस्पष्ट हो।[१]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " का द्वितीय सर्ग से पञ्चमसर्ग तक का कथानक प्रतिमुखसन्धि का प्रतिनिधित्व करता है। इन सर्गों में बीज अर्थात् मुखसन्धि के अन्तर्गत वर्णित अर्थप्रकृति कुछ स्पष्ट तथा कुछ अस्पष्ट अवस्था में लक्षित होती है परन्तु पञ्चम सर्ग के अन्त में शङ्कराचार्य के गुरु

१- फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ।।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् । सा० द० ६-७७ , ७८

गोविन्दाचार्य के द्वारा अपने प्रति बहुत पहले की गयी - " हे वत्स उस भविष्यवाणी को सुनो । मेरे (व्यास के) ही समान समस्त विषयों का ज्ञाता तुम्हारा (गोविन्दाचार्य का) एक शिष्य होगा जो घट के अन्दर नदी की सम्पूर्ण जलराशि को समाविष्ट कर देगा । वह विपरीत मतों का खण्डन करेगा और कल्याणकारक भाष्य की रचना करेगा । " - व्यास की भविष्यवाणी शङ्कराचार्य को सुनाने , उनके ही द्वारा शिष्य शङ्कराचार्य को अनेक ग्रन्थों की रचना के लिये प्रेरणा दिये जाने , इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इन्हें काशी स्थित विश्वनाथ की अनुकम्पा-प्राप्ति को आवश्यक बताने तथा इनके काशी जाने के प्रस्ताव रखने आदि के वर्णनों में बीज का उद्भेद हुआ है जो कुछ स्पष्ट है और कुछ अस्पष्ट है ।

ग - गर्भसन्धि

गर्भसन्धि कथानक का वह अंश है जिसमें मुख और प्रतिमुखसन्धि में क्रमश: किञ्चिन्मात्र उद्भिन्न प्रधानोपाय रूप बीज का ऐसा समुद्भेदन हुआ करता है जिसमें बीज का ह्रास और विकास साथ-साथ परिलक्षित होता रहता है ।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में षष्ठ सर्ग से दशम सर्ग तक गर्भसन्धि का दर्शन होता है । षष्ठ सर्ग में शङ्कराचार्य के काशी-गमन तथा

1- फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ।।
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः । सा० द० , 6-78 , 79

विश्वनाथ को प्रसन्न करने का वर्णन है । विश्वनाथ के द्वारा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की प्रेरणा देने तथा भास्कर , अभिनवगुप्त , नीलकण्ठ , गुरुप्रभाकर और मण्डनमिश्र आदि धुरन्धर विद्वानों को जीतकर ब्रह्मतत्व की स्थापना करने की प्रेरणा देने के वर्णनों में बीज का अन्वेषण हुआ है । इसी सर्ग में शङ्कराचार्य द्वारा भाष्यरचनारूप कार्य का भी वर्णन हुआ है । सप्तम सर्ग में शङ्कराचार्य के प्रयाग में निवास करने का वर्णन है । इस वर्णन के अवसर पर बीज का ह्रास हुआ है परन्तु इसी सर्ग में व्यासजी और शङ्कराचार्य के कथोपकथन में बीज का विकास दृष्टिगोचर होता है । इसी सर्ग में कुमारिल भट्ट के आत्मदाह के वर्णन-प्रसङ्ग में पुन: बीज का ह्रास लक्षित होता है । शङ्कराचार्य द्वारा मण्डनमिश्र के गृहगमन और वहाँ दोनों के शास्त्रार्थ के प्रसङ्ग में बीज पुन: मुकुलित हो जाता है ।

घ - विमर्शसन्धि

विमर्श वह सन्धि है जिसमें गर्भसन्धि में उद्भिन्न प्रधानोपायरूप बीज और भी अधिक उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही साथ ब्राह्य परिस्थिति के कारण आने वाली विघ्न-बाधाओं से भी नायक जूझता रहता है ।[1] विमर्शसन्धि में नायक का पौरुष और भी अधिक उद्दीप्तरूप से प्रकाशित हुआ करता है ।

१- यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिक: ।।
शापाद्यै: सान्तरायश्च स विमर्श इतिस्मृत: । सा० द० ६-७९ , ८०

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में दशम सर्ग से पञ्चदश सर्ग और षोडश सर्ग का भी कुछ अंश विमर्शसन्धि के रूप में उपन्यस्त है। उभयभारती से शास्त्रार्थ करने के लिये अमरुक राजा के मृत शरीर में शङ्कराचार्य के प्रवेश का वर्णन उनके उद्दाम चरित्र को प्रदर्शित करने के अतिरिक्त उनकी बाह्य परिस्थितियों से जूझने की शक्ति को भी प्रकट करता है। इसी प्रकार एकादश सर्ग में उग्रभैरव , हस्तामलक और तोटकाचार्य आदि के वृत्तान्तों में भी नायक के पराक्रम का उत्कृष्ट परिचय मिलता है।

उ० - निर्वहणसन्धि

काव्य का वह अंश जिसमें विभिन्न सन्धियों में बिखरे हुए बीजादिरूप इतिवृत्तांश प्रधान प्रयोजन के साधक दिखलायी पड़ें उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं।[1] " श्रीशङ्करदिग्विजय " में सोलहवें सर्ग में निर्वहणसन्धि देखी जा सकती है। सर्वज्ञपीठ पर शङ्कराचार्य के आरोहण की वृत्तयोजना निर्वहणसन्धि के रूप में मानी जा सकती है। शङ्कराचार्य की प्रशंसा में वर्णित यह वाक्य कि शङ्कराचार्य ने ऐसा पाण्डित्यपूर्ण भाष्य निर्मित किया जो विद्वानों के द्वारा पूजनीय है , कलिमल को नष्ट करने वाला है और मोक्षदायक है। इन्होंने दुष्टों के द्वारा नमस्कृत होने के कारण अहङ्कारी पण्डितों के गर्व को चूर-चूर कर दिया है। विपक्षियों के मतों का खण्डन कर इन्होंने पवित्र मोक्षमार्ग को प्रकाशित कर दिया है। पण्डितों के लिये इससे अधिक सुखकारी कौन

- -

१- बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।।
एकार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् । सा० द० ६- ८०-८१

की वृद्धि थी जिसे शङ्कराचार्य करते - निश्चय ही निर्वहणसन्धिरूप रूपकार्थ है जिसके लिये विभिन्न सन्धियों में बीजादिमूल इतिवृत्तांश उन्मुख होते रहे हैं ।

तृतीय खण्ड

" श्रीशङ्करदिग्विजय " की काव्यता पर एक दृष्टि

१- सामान्य दृष्टि

" श्रीशङ्करदिग्विजय " का मुख्य उद्देश्य ऐसे महनीय चरित्र का वर्णन करना है जिसने अपने ज्ञानरूपी आलोक से लोगों के अज्ञानरूपी तिमिर को हटाने के लिये भागीरथ प्रयास किया था । इस प्रयास में शङ्कराचार्य को विभिन्न दार्शनिकों से समय-समय पर दार्शनिक शास्त्रार्थ करना पड़ा । इस प्रकार शास्त्रार्थ कर्म शङ्कराचार्य के जीवन का प्रमुख कृत्य सिद्ध होता है । नायक के चरित्र वर्णन की समग्रता और अपरिहार्यता के दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ में शङ्कराचार्य का विपक्षियों से शास्त्रार्थ वर्णित करते समय अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है ।

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि काव्य जो सरसता के लिये प्रसिद्ध है दर्शन जैसे नीरस तत्त्व का वर्णन कर क्या अपने स्वरूप की रक्षा कर पाया है या ध्वस्त हो गया ।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही है। अष्टम सर्ग में श्लोक संख्या ६१ से लेकर श्लोक संख्या १३० तक। इसके पश्चात् नवम सर्ग में श्लोक संख्या ४ से ९७ तक मण्डनमिश्र और शङ्कराचार्य का नीरस शास्त्रार्थ वर्णित है। पुनः इसी सर्ग में मण्डनमिश्र द्वारा शङ्कराचार्य की स्तुति के वर्णन में काव्यात्मकता का दर्शन होता है। दशम सर्ग में पद्मपाद के अध्यात्मिक गायन के वर्णनप्रसङ्ग में सरस दार्शनिक तत्वों का विवेचन हुआ है। इसी सर्ग में शङ्कराचार्य द्वारा मण्डनमिश्र को दिये गये वेदान्तसम्मत उपदेश में पुनः शुष्क दार्शनिक सिद्धान्त का वर्णन हुआ है। एकादश सर्ग में भी छिटपुट दार्शनिक तत्वों की झलक मिलती है। द्वादश सर्ग में मूकाम्बिका के स्तुतिवर्णन में सरस दार्शनिक तत्वों का वर्णन मिलता है। इसी सर्ग में हस्तामलक के चरितवर्णन के अवसर पर उच्चकोटि के साधक के गुणों का उल्लेख हुआ है। त्रयोदश सर्ग में वार्तिक आदि की रचना करने और करवाने के विचार-विमर्श के वर्णन-प्रसङ्ग में काव्य की सरसता लगभग लुप्त हो गयी है। चतुर्दश सर्ग को काव्यात्मक अंश कहा जा सकता है। पञ्चदश और षोडश सर्ग में कहीं-कहीं काव्यगत सरसता है तो अन्यत्र दार्शनिक विवेचन से उत्पन्न नीरसता भी विद्यमान है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि " श्रीशङ्करदिग्विजय " में नीरस दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रचुर वर्णन हुआ है। अतः इन वर्णन-प्रसङ्गों में काव्यगत सरसता की हानि स्पष्टतया लक्षित होती है। उदाहरणार्थ काव्य का प्रमुख उद्देश्य पाठकों को आनन्दानुभूति कराना जो कि अष्टम सर्ग में पूर्णतया लुप्त है।

किन्तु उपर्युक्त प्रसङ्ग को " श्रीशङ्करदिग्विजय " ग्रन्थ के नामकरण को ध्यान में रखकर सावधानीपूर्वक विचार किया जाय तो यह निर्णय देना अनुचित न होगा कि " श्रीशङ्करदिग्विजय " में भी दर्शनशास्त्रीय विवेचन न केवल अपेक्षित था वरन् अपरिहार्य भी था। यह ग्रन्थ महापुरुष शङ्कराचार्य का दिग्विजय वर्णित करने के लिये आरम्भ हुआ था और शङ्कराचार्य को दिग्विजय सभी दिशाओं में विद्यमान विपक्षियों को शास्त्रार्थ के माध्यम से पराजित करने के पश्चात् ही प्राप्त होनी थी। अतः ऐसी परिस्थिति में दर्शनशास्त्रीय प्रसङ्ग कदापि त्याज्य नहीं हो सकते।

२- विशेषदृष्टि

श्रीशङ्करदिग्विजयगत काव्य के अन्य तत्वों जैसे - रस, छन्द, अलङ्कार, गुण और दोष आदि की चर्चा शोध-प्रबन्ध के पृथक्-पृथक् अध्यायों में अन्यत्र विस्तार से की गयी है। श्रीशङ्करदिग्विजय " में लक्षणा और व्यञ्जना के बहुत अधिक स्थल प्राप्त नहीं होते हैं। इस कारण इसके विवेचन के लिये शोधकर्त्री को पृथक् से अध्याय बनाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। अतः यहाँ पर लक्षणा और व्यञ्जना के मनोरम उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए विशेष विचार किया जा रहा है।

शङ्कराचार्य की प्रशंसा के अवसर पर द्रष्टव्य शाब्दी - व्यञ्जना :
'मिथ्याप्रपञ्च में प्रेम न रखने वाले, भीतरी अज्ञानान्धकार के कारण मन्द होने वाली लोगों की ज्ञान दृष्टि को खोलने वाले, संसार के उपकारक

होने से जगत् के मित्र , मित्रमण्डली की घनीभूतपीड़ा को नष्ट करने वाले वे (शङ्कराचार्य) विद्वानों के लिए ज्ञेय परमार्थरूप ब्रह्म के एकत्व का बार-बार प्रतिपादन भी करते हैं।[1] यहाँ शङ्कराचार्यपरक वाच्यार्थ की प्रतीति हो चुकने के पश्चात् सूर्यपरक व्यंग्यार्थ की प्रतीति शाब्दी-व्यञ्जना से इस प्रकार हो रही है -

कमल का प्रेमी सूर्य बाहरी अन्धकार से मन्द पड़ने वाली लोगों की दृष्टि को खोल देने वाला , संसार के कल्याणकारक होने के कारण जगत् का मित्र , मित्रचक्रवाक की रात्रि के कारण उत्पन्न घनी पीड़ा को दूर करने वाला यह सूर्य जानने योग्य घटपटादि पदार्थों को भी प्रकाशित कर देता है। एक अन्य उदाहरण शरद्-ऋतु के वर्णन[2] में भी द्रष्टव्य है - ' ये मेघ चिरकाल से सञ्चित जल को पक्षियों को दान कर , विद्युतरूपी स्त्रियों को छोड़कर और उज्ज्वल बनकर मेघपंक्तिरूपी गृह से बाहर चले जा रहे हैं। यहाँ मेघपरक वाच्यार्थ की प्रतीति होने के पश्चात् कवि का अभिप्रेत वृद्धव्यक्ति परक व्यङ्ग्य अर्थ इस प्रकार अभिव्यञ्जित हो रहा है - ' दन्तहीन वृद्ध लोग घर में बहुत दिनों से एकत्रित धनधान्य ब्राह्मणों को दान कर चञ्चल स्त्रियों को त्यागकर शुद्ध अन्तःकरण होकर अनेक गलियों

- -

१- दृष्टिं यः प्रगुणीकरोति तमसा बाह्येन मन्दीकृतां
नालीकप्रियतां प्रयाति भवति मित्रत्वमभ्यागतम् ।
चिरवस्योपकृतेर्विलुम्पति सुहृच्चक्रस्य बाधिकां
सं सोऽयमभिव्यनक्ति महतां जिज्ञास्यमर्थं मुहुः ।। श्री श० दि०, ५-११७

२- नीरदाः सुचिरसम्भृतमेते जीवनं द्विजगणाय वितीर्य ।
त्यक्तविद्युदबलाः परिशुद्धाः प्रव्रजन्ति घनवीथिगृहेभ्यः ।।
श्रीश० दि० , ६-१४५

वाले घरों से संन्यास ग्रहण करने के लिये बाहर निकल पड़े हैं ।

उभयभारती की प्रशंसा के अवसर पर अर्थान्तर संक्रमितवाच्य ध्वनि का प्रयोग हुवा है - " ब्रह्मा के अवतार ग्रहण करने पर उनकी पत्नी सरस्वती ने भी जन्म ग्रहण किया । उन्हें " उभयभारती " संज्ञा प्राप्त हुई । वे वस्तुत: सरस्वती ही थीं । लोक भी उन्हें सरस्वती कहता था ।[1] यहाँ दो बार " सरस्वती " पद का प्रयोग हुवा है । द्वितीय " सरस्वती " पद का प्रयोग उभयभारती के नाम के लिये हुवा है परन्तु प्रथम " सरस्वती " पद से ज्ञान की देवी की विद्वता आदि सभी विशेषताएँ लक्षणामूला व्यञ्जना से व्यञ्जित हो उठती हैं ।

शङ्कराचार्य के चरणों की प्रशंसा के अवसर पर शुद्धा लक्षणा द्रष्टव्य है - " शङ्कराचार्य के चरण तत्वज्ञानरूपी फल को ग्रहण करने वाले हैं । अत्यन्त सघन अज्ञान को मुट्ठी में बन्द करके पीने वाले हैं । भक्तों के समस्त दु:खों से अपने उदर को पूरित करने वाले हैं । पाप के समुदाय को समूल नष्ट करने वाले हैं । मद-मत्सर आदि के समूह को लूटने वाले हैं । तीनों तापों - आधिभौतिक , आधिदैविक तथा आध्यात्मिक के मर्म को छिन्न करने वाले तथा करुणा से अत्यन्त उदार होकर जगत् का कल्याण करने वाले हैं ।[2]

- -

१- अथावतीर्णस्य विधि: पुरन्ध्री साऽभूदथाख्योभयभारतीति ।
सरस्वती सा खलु वस्तुवृत्त्या लोकोऽपि तां वक्ति सरस्वतीति ।।
श्रीश० दि० , ३-६

२- तत्वज्ञानफलग्रहिर्घनतरव्यामोहमुष्टिंधयो
नि:शेषव्यसनोदरंभरिरघप्राग्भारमूलंकष: ।
लुण्टाको मदमत्सरादिविततेस्तापत्रयारुंतुद:
पाद: स्यादमितंपच: करुणाया भद्रंकर: शाङ्कर: ।।
श्रीश० दि० , ४-४०

यहाँ प्रयुक्त ग्रहि: , मुष्टिंधय: , उदरं भरि , कूलंकषा: , लुण्टाको और अरुन्तुद: आदि क्रियाओं का सम्बन्ध चेतन प्राणी से है । इस चेतन प्राणी का एक अङ्ग जो स्वतन्त्रता से कुछ भी करने में असमर्थ अतएव अचेतनवत् में उपर्युक्त सम्बन्ध लक्षणा से ही किया जा सकता है । यहाँ " ग्रहि " पद के प्रयोग में प्रयोजन है स्थूलपदार्थवत् ज्ञान की सरलतया ग्राह्यता का बोध कराना , मुष्टिंधय: पद के प्रयोग में प्रयोजन है - अज्ञान नियन्तृत्व , " उदरं भरि " पद के प्रयोग में प्रयोजन है भक्ष्य पदार्थगत रोचकता आदि सभी विशेषताओं को दु:खनिवारण रूप फल में प्रतीति कराना , कूलंकषा: पद के प्रयोग का प्रयोजन है - पापों का नितान्त अभाव बताना , " लुण्टाको " पद के प्रयोग में प्रयोजन है - बलात् वशीकर्तृत्व और " अरुन्तुद: " पद के प्रयोग में प्रयोजन है - तापों का अपुनर्भवत्व ।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि का कई स्थलों पर प्रयोग हुआ है । इसका एक सुन्दर उदाहरण विवाह के पूर्व उभयभारती और उनके पिता के वार्तालाप के प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है :

'पिता जब पुत्री के वचनों को कर्णरूपी पुट से पी रहे थे उसी समय वर विश्वरूप के पिता के द्वारा सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए , चमकती हुई यष्टि लिये हुए पुत्र के विवाह के लिये प्रेषित दो ब्राह्मण आ गये'।[१]

- -

१- पुत्र्या वच: पिबति कर्णपुटेन ताते
श्रीविश्वरूपगुरुणा गुरुणा द्विजानाम् ।
आजग्मतु: सुवसनी विशदाभयष्टी
सम्प्रेषितौ सुवरोद्वहनक्रियायै ।। शं० दि० , ३-२८

यहाँ सुनने के अर्थ में " पा " धातु का प्रयोग हुआ है । " पा " धातु के प्रयोग से पुत्री के वचनों के प्रति स्नेह, अभिरुचि और ध्यानमग्नता आदि भाव एक साथ व्यक्त हो उठते हैं, जो श्रवणार्थक " श्रु " धातु के प्रयोग से असम्भव थे । सुनने के अर्थ में " पा " धातु का प्रयोग अनेक बार हुआ है । इसी प्रकार " दृश् " धातु के प्रसङ्ग में भी " पा " धातु का अनेकशः प्रयोग हुआ है ।

गौणी लक्षणा का यह उदाहरण देखना अनुपयुक्त न होगा । शङ्कराचार्य को भिक्षा देने में असमर्थ निर्धन ब्राह्मणी स्वयं को धिक्कारती हुई कहती है - " भाग्य के द्वारा निर्धन बनाकर हम लोग निश्चय ही ठग लिये गये हैं । अकिञ्चनता के कारण ब्रह्मचारी को भी भिक्षा देने में असमर्थ मेरे इस जन्म को धिक्कार है जो निरर्थक ही व्यतीत हो रहा है ।"[१] यहाँ " वञ्चिता " क्रिया का प्रयोग हुआ है । वञ्चनत्व तो चेतन (मनुष्यादि) का धर्म है अचेतन भाग्य में उसका सम्बन्ध लक्षणा से ही किया जा सकता है । इस लक्षणा से सादृश्यातिशय सम्बन्ध द्वारा सामान्य वञ्चकगत गुण अपरिचितत्व , निर्दयत्व , हानिग्रस्त करने के उद्देश्य से फुसलाना आदि अनेक गुण भाग्य में भी व्यञ्जित हो उठते हैं ।

चतुर्थ खण्ड

" श्रीशङ्करदिग्विजय " की महाकाव्यता

आचार्यों ने महाकाव्य के लिये जिन आवश्यक तत्वों का निर्देश

१- विधिना खलु वञ्चिता वयं विपरीतुं घटते न शक्नुमः ।
अपि भैक्ष्यमकिञ्चनत्वतो धिगिदं जन्म निरर्थकं गतम् ।।
श्रीश० दि० , ४-२३

किया है वे हैं १- सर्गबन्धता अर्थात् पूरा प्रबन्ध सर्ग में विभाजित होना चाहिए २- एक नायक का चरित्र वर्णित होना चाहिए । ३- नायक कोई देवविशेष या विख्यात राजवंश का राजा होना चाहिए । ४- नायक धीरोदात्त प्रकृति का चित्रित होना चाहिए । ५- महाकाव्य में एक राजवंश से उत्पन्न अनेकों कुलीन राजाओं की भी चरित्रचर्चा हो सकती है । ६- श्रृङ्गार , वीर और शान्त इन तीन रसों में से कोई एक रस अङ्गी अथवा प्रधान रूप से परिपुष्ट किया जाना चाहिए । ७- अङ्गी रस के अतिरिक्त अन्य सभी रस अङ्ग अथवा अप्रधानरूप से अभिव्यञ्जित होने चाहिए । ८- नाटक की सभी सन्धियों की योजना महाकाव्य में होनी चाहिए । ९- इतिवृत्त योजना की दृष्टि से कोई भी ऐतिहासिक अथवा किसी महापुरुष के जीवन से सम्बद्ध कोई लोकप्रसिद्ध वृत्त का भी निबन्धन किया जाना चाहिए । १०- धर्म , अर्थ , काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय का काव्यात्मक निरूपण होना चाहिए परन्तु परमफल के रूप में किसी एक का ही सर्वतोभद्र उपनिबन्धन होना चाहिए । ११- महाकाव्य का आरम्भ मङ्गलात्मक होना चाहिए । यह मङ्गल " नमस्कारात्मक " हो या " आशीर्वादात्मक " हो या " वस्तुनिर्देशात्मक " हो - यह कवि की इच्छा पर निर्भर होता है । १२- किसी-किसी महाकाव्य में खलनिन्दा तथा सत्प्रशंसा भी उपनिबद्ध रह सकती है । १३- प्रत्येक सर्ग एक वृत्तमयात्मक होना चाहिए परन्तु सर्ग के अन्त में सामान्यतया प्रयुक्त वृत्त से भिन्न वृत्त में पद्य की रचना होनी चाहिए । १४- महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए और वे न बहुत लघु और न बहुत विस्तृत होने चाहिए । १५- किसी-किसी महाकाव्य में भिन्न-भिन्न वृत्तों में रचे गये पद्यों से भी सर्ग निर्माण हुआ करता है । १६- प्रत्येक सर्ग के अन्त में अगले सर्ग में आने

वाले वृत्त की सूचना अवश्य होनी चाहिए। १७- महाकाव्य में यथास्थान वर्ण्य विषय हैं - सन्ध्याकालिक सूर्य , चन्द्र , रात्रि , प्रदोष , अन्धकार , दिन , प्रात:काल , मध्याह्न , मृगया , पर्वत , ऋतु , वन-उपवन , समुद्र , सम्भोग , विप्रयोग , मुनि , स्वर्ग , नगर , यज्ञ , संग्राम , यात्रा , विवाह , साम आदि उपाय चतुष्टय , पुत्रजन्म आदि । १८- महाकाव्य का नामकरण कवि के नाम पर , कथानक के आधार पर , नायक के नाम के अनुसार अथवा इनके अतिरिक्त किसी आधार पर होना चाहिए । १९- महाकाव्य के सर्गों का भी नाम रखा जाया करता है जो कि उसमें वर्ण्य वृत्त के अनुसार हुआ करता है।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " महाकाव्य ही है या अन्य काव्य-प्रकार इसके निर्णय के लिये यह आवश्यक होगा कि महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षण को " श्रीशङ्करदिग्विजय " के सन्दर्भ में परीक्षण किया जाय । अत: आगे ऐसा ही एक प्रयास किया जा रहा है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " एक सर्गबन्धात्मक काव्य है । इसमें कुल सोलह सर्ग है । ये सर्ग न बहुत बड़े हैं और न बहुत छोटे हैं ।

इसमें भगवत्पाद नामधारी महादेव नेता (नायक) बने हैं।[2] ये (नायक) न तो कोई देवविशेष हैं और न कोई राजा अपितु शङ्कर भगवान के अवतार हैं । इनमें धीरोदात्त और धीरप्रशान्त नायक के सभी गुण विद्यमान

- -

१- सा० द० , ६-३१५ से ३२५

२- नेता यत्रोल्लसति भगवत्पादसंज्ञो महेशः , श्रीश० दि० , १-१७

हैं जिनका प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में " श्रीशङ्करदिग्विजय के पात्रों का चरित्र - चित्रण "[1] नामक अध्याय अन्तर्गत विस्तार से अध्ययन किया गया है ।

इस ग्रन्थ में शान्तरस प्रधानतया (अङ्गीरस के रूप में) अभिव्यञ्जित हुआ है । शृङ्गार , वीर , करुण , अद्भुत , रौद्र और वीभत्स रस अप्रधानतया (अङ्गरसों के रूप में) अभिव्यञ्जित हुए हैं ।[2]

इसमें नाटक की सभी सन्धियाँ विद्यमान हैं जिनका इसी अध्याय में पूर्व पृ० सं०१२१-१२७ पर अध्ययन किया जा चुका है ।

इसमें प्रख्यात और आदर्श महापुरुष (शङ्कराचार्य) के ही चरित्र को कथानक का आधार बनाया गया है ।

इसमें परमफल के रूप में " मोक्ष " पुरुषार्थ का उपनिबन्धन हुआ है ।[3]

इसका प्रारम्भ नमस्क्रियारूप मङ्गलाचरण से हुआ है । यह नमस्क्रिया कवि माधवाचार्य के गुरु विद्यातीर्थ के लिये हुई है ।[4]

- -

१- द्रष्टव्य - प्रस्तुत शोध प्रबन्ध , पृ० सं० ४२६-४३३

२- शान्तिर्यत्र प्रकृति रसः शेषवानुज्ज्वलादिः । श्रीश० दि० , १-१७

३- यत्राविद्याक्षतिरपि फलं ---------- । श्रीश० दि० , १-१७

४- प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम् । श्रीश० दि० , १-१

इसमें कहीं-कहीं खलनिन्दा और सत्प्रशंसा भी हुई है। इसमें प्रत्येक सर्ग में एकवृत्तमय पद्यों की रचना नहीं हुई है। अपितु प्रत्येक सर्ग में अनेकवृत्तमय पद्य देखे जा सकते हैं। इनका विस्तार से विवेचन "श्रीशङ्करदिग्विजय में प्रयुक्त छन्द" नामक अध्याय[१] में किया गया है।

इसमें वर्षा-ऋतु, शरद्-ऋतु, त्रिवेणी, विवाह और पुत्र-जन्म आदि का संक्षिप्त वर्णन मिलता है।

महाकाव्य का नाम नायक शङ्कराचार्य के नाम के आधार पर हुआ है।

प्रत्येक सर्ग के अन्त में सर्ग का नामकरण उसमें वर्णित वृत्त के अनुसार ही हुआ है जैसे प्रथम सर्ग का नामकरण "श्रीशङ्करदिग्विजय" का उपोद्घात, द्वितीय सर्ग का नाम उसमें वर्णित शङ्कर के जन्म से सम्बन्धित होने के कारण शङ्कर की अवतारकथा नामकरण हुआ, तृतीयसर्ग में विभिन्न देवताओं का पृथ्वीतल पर आगमन प्रधानतया वर्णित होने के कारण इसका नाम भिन्न-भिन्न देवताओं का अवतार रखा गया है। चतुर्थ सर्ग में शङ्कराचार्य के बाल्यकाल का वर्णन होने के कारण इसका नाम आचार्य का आठवें वर्ष तक जीवनवृत्त रखा गया। पञ्चम सर्ग का नामकरण उसमें वर्णित कथा के अनुसार शङ्कर का संन्यासग्रहण

- -

१- द्रष्टव्य - प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, पृ० सं० २५३ से २८६

हुआ[१]। इसी प्रकार अन्य सर्गों में भी घटनाओं के आधार पर नामकरण हुआ है।

पञ्चम खण्ड

निष्कर्ष

" श्रीशङ्करदिग्विजय " महाकाव्य के कथानक में मण्डनमिश्र और उभयभारती के विवाह-वर्णन के अतिरिक्त उपन्यस्त सभी वर्ण्य-विषय उचित , स्वाभाविक और सुश्लिष्ट हैं। इसमें कथानक का निर्वाह भी समुचित ढङ्ग से किया गया है।

कथानक में नीरस दार्शनिक सिद्धान्तों का रोचक प्रस्तुतीकरण हुआ है तथापि कहीं-कहीं विशेषरूप से शास्त्रार्थ के अवसर पर शुष्क शास्त्रीय विवेचन से काव्य के आनन्द की हानि हुई है। ऐसे स्थलों पर कथानक का प्रवाह भी मन्द हुआ है।

१- इति श्रीमाधवीये तदुपोद्घातकथापरः।
संक्षेपशंकरजये सर्गोऽयं प्रथमोऽभवत् ।। श्रीश० दि० , प्रथम अध्याय की पुष्पिका

२ इति श्रीमाधवीये तदवतारकथापरः।
संक्षेपशंकरजये सर्गः पूर्णो द्वितीयकः ।। श्रीश० दि० , द्वितीय अध्याय की पुष्पिका

इति श्रीमाधवीये तद्देवावतारार्थकः।
संक्षेपशंकरजये तृतीयः सर्ग आभवत् ।। श्रीश० दि० , तृतीय अध्याय की पुष्पिका

इति श्रीमाधवीये तदाशुद्वाब्दमनुक्तः।
संक्षेपशंकरजये चतुर्थः सर्ग आभवत् ।। श्रीश० दि० , चतुर्थ अध्याय की पुष्पिका

इति श्रीमाधवीये तत्सुराश्रमनिवासगः।
संक्षेपशङ्करजये सर्गोऽयं पञ्चमोऽभवत् ।। श्रीश० दि० , पञ्चम अध्याय की पुष्पिका

कथानक में विस्मयजनक अनेक अलौकिक घटनाएँ उपन्यस्त हैं । इसके अतिरिक्त कथानक में कहीं-कहीं नाटकीय दृश्य भी उपस्थित हुआ है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के कथानक में पुराणों की शैली का भी दर्शन होता है ।

कथानक में व्यञ्जना और लक्षणा के सुन्दर निदर्शन कम प्राप्त होते हैं ।

साहित्याचार्यों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य की सभी विशेषताएँ इस ग्रन्थ में स्पष्टतया लक्षित होती हैं । अतः इसे पूर्णरूपेण महाकाव्य माना जा सकता है । यह अवश्य उल्लेखनीय है कि इसके कथानक में नाट्य-सन्धियों की अनुषाङ्गिनी अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं का न्यास सम्यक्तया दृष्टिगत नहीं होता है । इसी कारण प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में इनका अध्ययन नहीं किया जा सका है । पञ्च सन्धियों का अवश्य यथा-स्थान सन्निवेश हुआ है ।

तृतीय अध्याय

संस्कृत के कतिपय चरितवर्णनपरक काव्यों में श्रीशङ्करदिग्विजय का स्थान

प्रथम खण्ड

कतिपय अन्य कृतियों के परिप्रेक्ष्य में " श्रीशङ्करदिग्विजय "

१- अवतारणा

संस्कृतसाहित्य में शङ्कराचार्य के जीवनचरित को वर्णित करने वाले माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " के अतिरिक्त कई अन्य ग्रन्थ भी विद्यमान हैं । चूँकि शङ्कराचार्य का चरितवर्णन एक ऐतिहासिक प्रसङ्ग है इस प्रकारणविषयवस्तु की दृष्टि से यह सभी काव्यों में लगभग समान ही रहा है । शङ्कराचार्यपरक सभी काव्यों के कथानक शङ्कराचार्य के दिग्विजय का ही प्रमुखता से प्रतिनिधित्व करते हैं । आगे माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " से इतर तथा प्रमुख रूप से शङ्कराचार्य के दिग्विजय को वर्णित करने वाले कुछ काव्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

२- व्यासाचलकृत " शङ्करविजयः "

क- " शङ्करविजयः " का प्रतिपाद्य विषय

व्यासाचल कवि ने १२ सर्गों में शङ्कराचार्य के पावन चरित का वर्णन किया है । इस ग्रन्थ के अवलोकन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " इसके अतिनिकट है । आगे सप्रमाण इसका विवेचन किया गया है । व्यासाचलकृत " शङ्करविजयः " में जिन विषयों का वर्णन हुआ है उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:- प्रथम सर्ग में शङ्कराचार्य के पिता शिवगुरु द्वारा विद्याध्ययन हेतु गुरुगृह में निवास , शिवगुरु के विवाह के विषय में गुरु-शिष्यसंवाद ,

शिवगुरु के पिता विद्याधिराज द्वारा पुत्र के स्वगृहनिवर्तन तथा उसकी बुद्धिपरीक्षा , शिवगुरु द्वारा गृहस्थजनों के अनुभवों , पुत्रहीन शिवगुरु के विषाद और शिवगुरु की पत्नी द्वारा शिवगुरु के प्रति कहे गये उपाय आदि विषयों का वर्णन हुआ है ।

द्वितीय और तृतीयसर्गों में बालक उपमन्यु की दारिद्र्य दशा और उसके निवारण हेतु तप आदि का सविस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है । उपमन्यु के तप से भयभीत इन्द्र ने अपने अथक प्रयासों से शिव को प्रसन्न कर उनके माध्यम से उपमन्यु के तप में विघ्न पहुँचाने का असफल प्रयास किया था । परन्तु इन सब विघ्नों पर विजय प्राप्त कर उपमन्यु क्षीरसागर का स्वामी बन गया ।

चतुर्थ सर्ग में पुत्रप्राप्ति हेतु शिवगुरु और उनकी पत्नी की तपस्या, तपस्यारत शिवगुरु की पत्नी द्वारा स्वप्न में शिव के दर्शन और उनसे पुत्रप्राप्ति विषयक वरदान की प्राप्ति , वरदान के फलस्वरूप उन्हें (शिवगुरु की पत्नी को) पुत्र रूप में शङ्कराचार्य की प्राप्ति , शङ्कराचार्य के जन्म के समय होने वाली विचित्र घटनाओं , शङ्कराचार्य की बाललीलाओं , शङ्कराचार्य के पिता की मृत्यु , शङ्कराचार्य के उपनयन संस्कार , शङ्कराचार्य द्वारा गोविन्दभगवत्पाद के दर्शन और उनसे विद्याग्रहण , गोविन्दभगवत्पाद से संन्यासदीक्षा लेने के पश्चात् शङ्कराचार्य के " बदरी " क्षेत्र में गमन , श्रीव्यास और शङ्कराचार्य के संवाद , श्रीव्यासाचार्य द्वारा शङ्कराचार्य को वर प्रदान , सनन्दन द्वारा शङ्कराचार्य के शिष्यत्व ग्रहण , शङ्कराचार्य के " कालटी " क्षेत्र में गमन , माँ की मुक्ति के लिये शङ्कराचार्य द्वारा उन्हें " ब्रह्म " पद के उपदेश , माँ की मृत्यु के पश्चात् स्वजनों द्वारा दाहसंस्कार

शिवगुरु के पिता विधाधिराज द्वारा पुत्र के स्वगृहनिवर्तन तथा उसकी बुद्धिपरीक्षा , शिवगुरु द्वारा गृहस्थजनों के अनुभवों , पुत्रहीन शिवगुरु के विषाद और शिवगुरु की पत्नी द्वारा शिवगुरु के प्रति कहे गये उपाय आदि विषयों का वर्णन हुआ है ।

द्वितीय और तृतीयसर्गों में बालक उपमन्यु की दारिद्र्य दशा और उसके निवारण हेतु तप आदि का सविस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है । उपमन्यु के तप से भयभीत हरिह्य ने अपने अथक प्रयासों से शिव को प्रसन्न कर उनके माध्यम से उपमन्यु के तप में विघ्न पहुँचाने का असफल प्रयास किया था । परन्तु इन सब विघ्नों पर विजय प्राप्त कर उपमन्यु क्षीरसागर का स्वामी बन गया ।

चतुर्थ सर्ग में पुत्रप्राप्ति हेतु शिवगुरु और उनकी पत्नी की तपस्या, तपस्यारत शिवगुरु की पत्नी द्वारा स्वप्न में शिव के दर्शन और उनसे पुत्रप्राप्ति विषयक वरदान की प्राप्ति , वरदान के फलस्वरूप उन्हें (शिवगुरु की पत्नी को) पुत्र रूप में शङ्कराचार्य की प्राप्ति , शङ्कराचार्य के जन्म के समय होने वाली विचित्र घटनाओं , शङ्कराचार्य की बाललीलाओं , शङ्कराचार्य के पिता की मृत्यु , शङ्कराचार्य के उपनयन संस्कार , शङ्कराचार्य द्वारा गोविन्दभगवत्पाद के दर्शन और उनसे विधाग्रहण , गोविन्दभगवत्पाद से संन्यासदीक्षा लेने के पश्चात् शङ्कराचार्य के " बदरी " क्षेत्र में गमन , श्रीव्यास और शङ्कराचार्य के संवाद , श्रीव्यासाचार्य द्वारा शङ्कराचार्य को वर प्रदान , सनन्दन द्वारा शङ्कराचार्य के शिष्यत्व ग्रहण , शङ्कराचार्य के " कालटी " क्षेत्र में गमन , माँ की मुक्ति के लिये शङ्कराचार्य द्वारा उन्हें " ब्रह्म " पद के उपदेश , माँ की मृत्यु के पश्चात् स्वजनों द्वारा दाहसंस्कार

कर्म से रोके जाने पर शङ्कराचार्य द्वारा उन्हें शाप देने आदि विषयों का वर्णन हुआ है। पञ्चम सर्ग में शङ्कराचार्य के द्वारा भ्रमण करने के उद्देश्य से प्रयाग पहुँचने, तीर्थराज प्रयाग की महिमागान करने, यहाँ पर इनके द्वारा कुमारिलभट्ट के दर्शन तथा कुमारिलभट्ट और मण्डनमिश्र से इनके वार्तालाप करने का वर्णन हुआ है।

षष्ठ सर्ग में शङ्कराचार्य से विश्वरूप (मण्डन मिश्र) और उभयभारती के पराजय का वर्णन हुआ है। सर्वप्रथम विश्वरूप के गृह में शङ्कराचार्य के प्रवेश, विश्वरूप द्वारा शङ्कराचार्य के सत्कार, उभयभारती के पूर्वजन्म की कथा तथा उनके शापमोक्ष आदि विषयों का वर्णन उपलब्ध होता है।

सप्तम सर्ग में शङ्कराचार्य द्वारा सुरेश्वर नामक शिष्य के प्रति आत्मतत्त्व के उपदेश करने, शङ्कराचार्य द्वारा ब्रह्मसूत्रभाष्य पर वार्तिक रचना हेतु सुरेश्वर के नाम का प्रस्ताव रखने, शिष्यों द्वारा इसके विरोध करने, वार्तिक रचना से वञ्चित सुरेश्वर के द्वारा " नैष्कर्म्यसिद्धि " नामक ग्रन्थ की रचना करने, शङ्कराचार्य के दूसरे शिष्य पद्मपाद द्वारा " पञ्चपादिका " नामक ग्रन्थ की रचना करने का वर्णन हुआ है। इसके अतिरिक्त तीर्थयात्रा के गुण-दोषों और इसमें अपेक्षित सावधानियों, शङ्कराचार्य की आज्ञा से पद्मपाद के " कालहस्ती ", " काञ्चीक्षेत्र " और "यमपुरी " क्षेत्रों में भ्रमण आदि विषयों का वर्णन भी इसी सर्ग में हुआ है।

अष्टम सर्ग में पद्मपाद की तीर्थयात्रा का ही विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।

नवम सर्ग में पद्मपाद के उनके मामा के घर में जाने , वहाँ से शङ्कराचार्य के समीप जाने , शङ्कराचार्य की रक्षा हेतु पद्मपाद द्वारा उग्रभैरव के वध करने , भयभीत शङ्कराचार्य द्वारा नृसिंहरूपधारी पद्मपाद की स्तुति करने और शङ्कराचार्य के " तोटक " नामक शिष्य के वृत्तान्त का वर्णन उपलब्ध होता है ।

दशमसर्ग में शङ्कराचार्य के भगन्दर रोग , इस रोग के उपचारक वैद्यों को आहूत करने हेतु शङ्कराचार्य के शिष्यों द्वारा राजधानी जाने और इस यात्रा में आये हुए प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन उपलब्ध होता है ।

एकादश सर्ग में वर्षा , शरद् , हेमन्त और शिशिर ऋतुओं , शङ्कराचार्य और वैद्यों के वार्तालाप , वैद्यों की औषधियों से रोगमुक्ति असम्भव होने पर शङ्कराचार्य द्वारा भगवान शङ्कर की स्तुति , इस स्तुति से प्रसन्न अश्विनीकुमार के रूप में भगवान शङ्कर द्वारा शङ्कराचार्य के प्रति रोग के कारण के कथन का वर्णन हुआ है । इसी सर्ग में बृहस्पति के मुख से शङ्कराचार्य के पूर्वजन्म की कथा भी वर्णित हुई है ।

द्वादश सर्ग में शङ्कराचार्य के " श्रीबलि " क्षेत्र में गमन , इस क्षेत्र की महिमा के गान , हस्तामलक द्वारा शङ्कराचार्य के शिष्यत्व के ग्रहण , शङ्कराचार्य के काश्मीरगमन , वहाँ सर्वज्ञपीठ पर आरोहण करने के पूर्व शङ्कराचार्य का विभिन्न दार्शनिकों से शास्त्रार्थ , इस शास्त्रार्थ में दार्शनिकों के परास्त होने , इसी समय सर्वज्ञपीठ की देवी शारदा से शङ्कराचार्य के वार्तालाप का वर्णन हुआ है । इसी प्रसङ्ग में शङ्कराचार्य के परकाय (अमरुक के शरीर) में प्रवेश और शारदा (प्रसिद्ध नाम उभयभारती) के पराजय का भी उल्लेख हुआ है ।

स- माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " और व्यासाचलकृत " शङ्करविजय: " ग्रन्थों में विद्यमान समानताएँ

माधवाचार्य और व्यासाचल चूँकि एक ही परमपुरुष शङ्कराचार्य के ऊपर अपनी लेखनी चलाने वाले हैं। अत: इन दोनों कवियों के काव्यों में कुछ समानताओं का दृष्टिगोचर होना अत्यन्त स्वाभाविक है जिनका विवरण इस प्रकार है :-

१- काव्यविधा में समानता है। दोनों ही ग्रन्थ महाकाव्य के रूप में निबद्ध हैं।

२- वर्ण्यविषयों तथा घटनाओं के वर्णन में समानता है। व्यासाचल ने जिन विषयों का वर्णन अपनी कृति में किया उनमें से अधिकांश विषयों का वर्णन माधवाचार्य के ग्रन्थ में भी हुआ है।

३- दोनों ग्रन्थों में न केवल वर्ण्यविषयों की समानता ही परिलक्षित होती है अपितु कई श्लोक भी समान रूप से दोनों ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होते हैं। यथा -

व्यासाचलकृत ग्रन्थ के श्लोक	=	माधवाचार्यकृत ग्रन्थ के श्लोक
प्रथम सर्ग में स्थित श्लोक सं० २ से ४२	=	द्वितीय सर्ग में उपन्यस्त श्लोक संख्या ६ से ४६ तक
चतुर्थ सर्ग में ,, ,, ,, ३ से १८	=	द्वितीय सर्ग में ,, ,, ,, ४९ से ६५
चतुर्थ सर्ग में ,, ,, ,, २० से ३०	=	द्वितीय सर्ग में उपन्यस्त श्लोक सं० ७१ से ७५ तथा ७९ से ८४ तक
चतुर्थ सर्ग में ,, ,, ,, ४९ से ६१	=	पञ्चम सर्ग में उपन्यस्त श्लोक सं० ६८ से ८०

व्यासाचलकृत ग्रन्थ के श्लोक	=	माधवाचार्यकृत ग्रन्थ के श्लोक
चतुर्थ सर्गमें स्थित श्लोक सं० ६३ से ६४	=	पञ्चमसर्ग में उपन्यस्त श्लोक सं० १०५ , १०६
〃 〃 〃 〃 ८७ से ९१	=	षष्ठ सर्ग में उपन्यस्त 〃 〃 १ से ५ तक
〃 〃 〃 〃 ९२	=	〃 〃 〃 〃 २४
〃 〃 〃 〃 ९५	=	चतुर्दश 〃 〃 〃 ३०
〃 〃 〃 〃 ९६	=	〃 〃 〃 〃 ३५
〃 〃 〃 〃 〃 १०२	=	〃 〃 〃 〃 ४९
पञ्चम 〃 〃 〃 ३	=	सप्तम 〃 〃 〃 ६४
〃 〃 〃 〃 ५	=	〃 〃 〃 〃 ६६
〃 〃 〃 〃 ९	=	〃 〃 〃 〃 ७२
〃 〃 〃 〃 ११ से ३१	=	〃 〃 〃 〃 ८० से १००
षष्ठ 〃 〃 〃 १	=	अष्टम 〃 〃 〃 १
〃 〃 〃 〃 ९ के उत्तरार्द्ध से ७७ तक	=	तृतीय 〃 〃 〃 १० से ७७ तक

नोट - श्लोक के पंक्तियों के क्रम में कहीं-कहीं अन्तर अवश्य विद्यमान है ।

व्यासाचलकृत ग्रन्थ के श्लोक	=	माधवाचार्यकृत ग्रन्थ के श्लोक
〃 〃 〃 〃 ८६ से ८८	=	अष्टम सर्ग में उपन्यस्त श्लोक सं० ५६ से ४८
〃 〃 〃 〃 ९१ से ९५	=	〃 〃 〃 〃 ६२ से ६५
〃 〃 〃 〃 ९७ से १०१	=	〃 〃 〃 〃 ६७ से ७३
सप्तम 〃 〃 〃 १ से २७	=	दशम 〃 〃 〃 ७७ से १०३
〃 〃 〃 〃 २८ से ३०	=	त्र्योदश 〃 〃 〃 २ से ४
〃 〃 〃 〃 ३७ से ४५	=	〃 〃 〃 〃 ६ से १४
〃 〃 〃 〃 ४७ से ५४	=	〃 〃 〃 〃 ४१ से ४८
〃 〃 〃 〃 ५५ से ६५	=	〃 〃 〃 〃 ५१ से ६१
〃 〃 〃 〃 ६६ से ७०	=	〃 〃 〃 〃 ६४ से ६८
〃 〃 〃 〃 ७१	=	〃 〃 〃 〃 ७०
〃 〃 〃 〃 ७३ से ९८	=	चतुर्दश 〃 〃 〃 २ से २८
〃 〃 〃 〃 ९९ से १०१	=	〃 〃 〃 〃 ५६ से ५८

व्यासाचलकृत ग्रन्थ के श्लोक					=	माधवाचार्यकृत ग्रन्थ के श्लोक				
अष्टम	सर्ग में	स्थित	श्लोक सं०	३ से ९	=	चतुर्दश	सर्ग में	उपन्यस्त	श्लोक सं०	६२ से ६८
,,	,,	,,	,,	१९ और २०	=	,,	,,	,,	,,	७० और ७१
,,	,,	,,	,,	३६ से ४१	=	,,	,,	,,	,,	७४ से ७९
,,	,,	,,	,,	४४ से ५२	=	,,	,,	,,	,,	८२ से ९०
,,	,,	,,	,,	५३ से ७०	=	,,	,,	,,	,,	९२ से ११०
,,	,,	,,	,,	७४ से ८४	=	,,	,,	,,	,,	११४ से १२४
,,	,,	,,	,,	८६ से ९३	=	,,	,,	,,	,,	१२६ से १३३
नवम	,,	,,	,,	१४	=	,,	,,	,,	,,	५२
,,	,,	,,	,,	३९ से ४०	=	एकादश	,,	,,	,,	१६ और १७
,,	,,	,,	,,	४१	=	,,	,,	,,	,,	१९
,,	,,,	,,	,,	४३ से ४७	=	,,	,,	,,	,,	२८ से ३२
,,	,,	,,	,,	४८	=	,,	,,	,,	,,	३७
,,	,,	,,	,,	५२	=	,,	,,	,,	,,	४४
,,	,,	,,	,,	५४ से ६१	=	,,	,,	,,	,,	६० से ६७
,,	,,	,,	,,	८४ से ८८	=	द्वादश	,,	,,	,,	७० से ७४
दशम	,,	,,	,,	१ से ३	=	षोडश	,,	,,	,,	४ से ६
,,	,,	,,,	,,	५ से १२	=	,,	,,	,,	,,	७ से १४
एकादश	,,	,,	,,	११६ को छोड़कर ११३ से १२२	=	चतुर्थ	,,	,,	,,	१ से ३ और १२ से १७
,,	,,	,,	,,	१२४ से १२५	=	पञ्चम	,,	,,	,,	२ और ३
,,	,,	,,	,,	१२७ से १३४	=	,,	,,	,,	,,	६० से ६७
द्वादश	,,	,,	,,	२ से ४	=	द्वादश	,,	,,	,,	४० से ४२
,,	,,	,,	,,	१० से २९	=	,,	,,	,,	,,	४३ से ६२
,,	,,	,,	,,	३० से ३५	=	षोडश	,,	,,	,,	५५ से ६०
,,	,,	,,	,,	[illegible] और [illegible]	=	,,	,,	,,	,,	६२ से ८१
,,	,,	,,	,,	६२ और ६३	=	नवम	,,	,,	,,	६९ और ७०

व्यासाचलकृत ग्रन्थ के श्लोक	=	माधवाचार्यकृत ग्रन्थ के श्लोक
द्वादशसर्ग में स्थित श्लोक संख्या ६६ से ७०	=	नवम सर्ग में उपन्यस्त श्लोक सं० १०५, १०६
,, ,, ,, ,, ७० और ७१	=	दशम ,, ,, ,, १७ और १८
,, ,, ,, ,, ८१ और ८२	=	षोडश ,, ,, ८७ और ८८

ग- माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " और व्यासाचलकृत " शङ्करविजयः " ग्रन्थों में विद्यमान असमानताएँ

कुद्द वर्ण्यविषय जैसे ऋतुवर्णन और उपमन्यु की कथा आदि व्यासाचल के द्वारा विस्तार से वर्णित किये गये हैं परन्तु माधवाचार्य के द्वारा उनका वर्णन संक्षेप में किया गया है।

३- आनन्दगिरिकृत " शङ्करविजयः "

क- " शङ्करविजयः " का प्रतिपाद्य विषय

यह ग्रन्थ ७४ प्रकरणों में शङ्कराचार्य का दिग्विजय वर्णित करता है। इसमें वैदिकमार्ग को प्रशस्त करने हेतु शङ्कराचार्य के अथक प्रयासों का सविस्तार वर्णन मिलता है। उनका संक्षेप में परिचय इस प्रकार दिया जा सकता है :

पहले प्रकरण में ग्रन्थ की विषयवस्तु का संक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है।

दूसरे प्रकरण में तत्कालीन विकृत परिस्थितियों और शङ्कराचार्य के जन्म का वर्णन मिलता है। उस समय तक समाज में विभिन्न धर्मोपासकों का प्रादुर्भाव हो चुका था। सभी के आचार-विचार वेशभूषाएँ भिन्न-भिन्न थीं। सभी " स्व " को

श्रेष्ठ और " पर " को हीन समझने वाले हो गये थे । समाज की अनर्थकारी दुःस्थितियों से व्याकुल होकर नारदजी ब्रह्मा के पास गये और उनसे इन्होंने अपनी सारी व्यथा कही । ब्रह्मा नारदजी के साथ शिव की शरण में गये । शिव ने पृथ्वी की दुर्दशा के अपनयन हेतु इन्हें आश्वासन दिया । इसी आश्वासन के फलस्वरूप शिव भगवान ने " विशिष्टा " के गर्भ से शङ्कराचार्य के रूप में भूतल पर जन्म ग्रहण किया । शङ्कराचार्य को प्राप्त करने के लिये इनके पिता " विश्वजित् " और माता " विशिष्टा " ने चिदम्बरेश्वर की घोर तपस्या की थी । इनके निवास स्थल का नाम भी " चिदम्बरेश्वर " पुरी था ।

तीसरे प्रकरण में शङ्कराचार्य के विद्याध्ययन आदि विषयों का वर्णन हुआ है । बाल्यावस्था में ही इनके द्वारा सभी भाषाओं के ज्ञान प्राप्त करने , तीसरे वर्ष में शङ्कराचार्य के चूडाकरणसंस्कार और पाँचवें वर्ष में उपनयनसंस्कार होने , तत्पश्चात् विद्याध्ययन हेतु गुरुगृह में इनके निवास और इसी समय इनके अध्यापन कार्य करने का वर्णन इस प्रकरण में उपलब्ध होता है । इसीप्रकरण में आठ वर्ष की अवस्था वाले शङ्कराचार्य द्वारा गोविन्दाचार्य से संन्यासग्रहण करने की घटना भी वर्णित हुई है ।

चौथे प्रकरण से शङ्कराचार्य की दिग्विजययात्रा का वर्णन आरम्भ होता है । सर्वप्रथम शङ्कराचार्य के चिदम्बरेश्वर पुरी से शिव के आविर्भूतस्थल " मध्यार्जुन " जाने , वहाँ पर इनके द्वारा मध्यार्जुन की उपासना करने , इस उपासना से प्रसन्न लिङ्गरूपधारी शिव के द्वारा शरीर धारण कर इनके प्रति सत्य - अद्वैततत्त्व के उपदेश करने , शङ्कराचार्य द्वारा भी इस देश के निवासियों के प्रति अद्वैततत्त्व का उपदेश करके उन्हें अपना शिष्य बनाने , वहाँ से शङ्कराचार्य के अपने प्रमथगणों के साथ रामेश्वरम् जाने , वहाँ दो मास तक रहकर इनके द्वारा भीमेश्वर की आराधना करने और शैवमतावलम्बियों को परास्त करने का वर्णन इस प्रकरण में उपलब्ध होता है ।

पञ्चम प्रकरण में श्वेतभस्मधारी , रुद्राक्ष की माला पहनने वाले , भैरव की उपासना में रत रहने वाले शिवमतैकदेशियों से शङ्कराचार्य के वादविवाद और इनसे उन मतावलम्बियों के पराजित होने का वर्णन मिलता है ।

छठवें प्रकरण में शङ्कराचार्य के " रामेश्वरम " से " अनन्तशयन " की ओर प्रस्थान करने , वहाँ अच्युतमूर्ति के दर्शन करने , छ: मास तक वहाँ निवास करते हुए इनके द्वारा भक्त , भागवत , वैष्णव , पाञ्चरात्र , वैखानस तथा कर्महीन - इन छ: प्रकार के वैष्णव मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ किये जाने और अन्त में इनके विजेता होने का वर्णन प्राप्त होता है ।

छठवें के अतिरिक्त सात से दस तक के प्रकरणों में वैष्णवों के साथ शङ्कराचार्य के वाद-विवाद का सविस्तार विवेचन हुआ है । ग्यारहवें प्रकरण में शङ्कराचार्य के " सुब्रह्मण्य " देश में गमन और वहाँ स्थित हिरण्यगर्भ मतावलम्बियों से इनके वाद-विवाद का सविस्तार वर्णन हुआ है । " सुब्रह्मण्य " देश से शङ्कराचार्य " गणवर " देश गये ।

बारहवें प्रकरण में " अग्नि " की उपासना करने वाले लोगों के पराजय का वर्णन है ।

तेरहवें प्रकरण में " सूर्य " को ही सर्वश्रेष्ठ समझने वाले लोगों से शङ्कराचार्य की मुठभेड़ का वर्णन है ।

चौदहवें प्रकरण में प्रसन्न शिष्यों द्वारा शङ्कराचार्य की स्तुति वर्णित हुई है ।

पन्द्रहवें प्रकरण में " गणेश " को अद्वितीय मानने वाले लोगों से शङ्करकराचार्य का वार्तालाप वर्णित है।

सोलहवें प्रकरण में " हरिद्रागणपति " को सर्वश्रेष्ठ मानने वालों का शङ्करकराचार्य से पराजय वर्णित है।

सत्रहवें प्रकरण में " उच्छिष्ट गणपति " मत का निर्वहण वर्णित है।

अठारहवें प्रकरण में शङ्करकराचार्य का " नवनीत " आदि गणपति के उपासकों से वाद-विवाद वर्णित है।

उन्नीसवें प्रकरण में शङ्करकराचार्य का " गणवर " देश से " भवानीपुर " स्थान पर जाने, वहाँ एक मास तक निवास करने और इसी समय शाक्तमत के सन्देहों के निराकरण करने का वर्णन है। इसी प्रकरण में " भवानीपुर " के समीपस्थ " कुवलयपुर " नामक स्थान के निवासियों जो दुर्गा, माया, लक्ष्मी, सरस्वती और शारदा आदि शक्तियों की उपासना करने वाले थे - से भी शङ्करकराचार्य के वार्तालाप का वर्णन है।

बीस से बाइस तक के प्रकरणों में शक्ति की उपासना करने वालों के मतों और शङ्करकराचार्य द्वारा उनके उच्छेद का सविस्तार वर्णन हुआ है।

तेइसवें प्रकरण में शङ्करकराचार्य के " उज्जयिनी " नगर के निवासियों पर विजय प्राप्त करने का वर्णन है।

चौबीस से अठाइस तक के प्रकरणों में शङ्करकराचार्य द्वारा चार्वाकों, सौगतों, क्षपणकों, जैनों और बौद्धों को पराजित करने और अपना शिष्य बनाने का वर्णन है।

उन्तीसवें प्रकरण में शङ्करराचार्य के उज्जयिनी देश से उत्तरदिशा में स्थित " अनुमल्ल " नामक स्थान पर पहुँचने तथा वहाँ २१ दिन तक रहकर " मल्लारिमत " के निरीक्षण का वर्णन है । मल्लारिमत के अनुसार समस्त जगत् मल्लारिगर्भ के कोटर में स्थित है । वह ही जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और लय का कारण है । इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ।

तीसवें प्रकरण में शङ्कराचार्य के द्वारा " अरुन्ध " नामक स्थान पर जाने और वहाँ विष्वक्सेन नामक मतावलम्बियों के शङ्का समाधान का वर्णन है ।

इकतीसवें प्रकरण में " मन्मथ " की उपासना करने वाले लोगों के मतों और उनके निरास का वर्णन है ।

बत्तीसवें प्रकरण में शङ्कराचार्य के " अरुन्ध " देश से " यज्ञालय " नामक मन्दिर के स्थानभूत " मगधपुर " पहुँचने तथा वहाँ " कुबेर " की उपासना करने वाले लोगों से इनके वाद-विवाद का वर्णन है ।

तैंतीसवें प्रकरण में शङ्कराचार्य के द्वारा " इन्द्रप्रस्थ " देश में गमन और वहाँ " इन्द्र " मतावलम्बियों को परास्त करने का वर्णन है ।

चौंतीसवें प्रकरण में शङ्कराचार्य के " यमप्रस्थ " स्थान में गमन और वहाँ स्थित यमोपासकों पर विजय प्राप्त करने का वर्णन है ।

पैंतीसवें प्रकरण में शङ्कराचार्य के प्रयाग जाने और वहाँ पर वरुण , वायु , भूमि और उदक की सेवा करने वाले विपक्षियों से इनके निपटने का वर्णन है ।

छत्तीसवें प्रकरण में " निरालम्ब " नामक शून्यवादी से शङ्कराचार्य का टकराव वर्णित है ।

सैंतीसवें प्रकरण में " आदिवराह " के उपासकों का पराजय वर्णित है ।

अड़तीसवें प्रकरण में चौदहलोकों की उपासना करने वाले"कामकर्मी " नामक व्यक्ति से शङ्कराचार्य का वाद-विवाद वर्णित है ।

उन्तालीसवें प्रकरण में गुणोपासकों के मत के निवर्हण का वर्णन है ।

चालीसवें प्रकरण में सांख्यवादियों के मत का निराकरण हुआ है ।

इकतालीसवें प्रकरण में योगमतावलम्बियों का शङ्कराचार्य से वाद-विवाद वर्णित है ।

बयालीसवें प्रकरण में पीलुवादियों के मत का निरास वर्णित है ।

तैंतालीसवें प्रकरण में शङ्कराचार्य का " प्रयाग " से " काशी " जाने तथा वहाँ तीन मास तक रहकर " कर्म " की उपासना करने वाले लोगों के मत का निराकरण वर्णित है ।

चौवालीसवें प्रकरण में काशी में व्याप्त चन्द्रमत , पैंतालीसवें प्रकरण में भौमादिग्रहोपासकों के मतों , छियालीसवें प्रकरण में क्षपणकों के मत , सैंतालीसवें प्रकरण में पितृमत , अड़तालीसवें प्रकरण में शेष और गरुड़ की उपासना करने वालों के मतों , उन्चासवें प्रकरण में सिद्धमत , पचासवें प्रकरण में गन्धर्वमत और इक्यावनवें प्रकरण में " भूतराट् " के उपासकों के मत का निराकरण शङ्कराचार्य के द्वारा किये जाने का वर्णन है ।

बावनवें प्रकरण में मणिकर्णिका तट पर शङ्०कराचार्य द्वारा व्यास जी के दर्शन करने , व्यासजी द्वारा शङ्०कराचार्य की ब्रह्मसूत्र विषयक परीक्षा लेने तथा शङ्०कराचार्य द्वारा व्यासजी की स्तुति करने आदि विषयों का वर्णन है ।

तिरपनवें प्रकरण और चौवनवें प्रकरण में क्रमश: ब्रह्मदेव के वचनों और व्यासद्वारा शङ्०कराचार्य को अतिरिक्त आयु प्रदान करने का वर्णन है ।

पचपनवें प्रकरण में शङ्०कराचार्य के द्वारा काशी से कुरुक्षेत्र होते हुए बदरीनारायण के दर्शन और वहाँ गर्म जल की धारा प्रवाहित करने , वहाँ से " द्वारका " स्थल का दर्शन करते हुए " अयोध्या " देश पहुँचने , वहाँ से जगन्नाथ होते हुए " श्रीपर्वत " पर पहुँचने , महादेव मल्लिकार्जुन और उनकी शक्ति अद्वैतविद्यारूपिणी भ्रमराम्बा के दर्शन करने का वर्णन है । वहाँ इनके एक मास तक निवास करने तथा इसी समय इन्हें " रुद्राख्यपुर " के निवासियों से कुमारिलभट्ट के विषय में जानकारी प्राप्त होने का वर्णन है । कुमारिलभट्ट से मिलने के लिये शङ्०कराचार्य का " रुद्राख्यपुर " की ओर प्रस्थान और वहाँ दोनों के बीच हुई वाक्शृङ्०खला का भी उल्लेख मिलता है ।

छप्पनवें प्रकरण में कुमारिलभट्ट की सम्मति से शङ्०कराचार्य के उत्तरदिशा का आश्रय लेकर " हस्तिनापुर " पहुँचने का वर्णन है । यहीं पर मण्डनमिश्र का धाम था । यहीं पर मण्डनमिश्र और शङ्०कराचार्य में शास्त्रार्थ होने का भी वर्णन है ।

सत्तावनवें प्रकरण में पराजित हुए पति के संन्यासी बनने पर वैधव्य शोक के डर से पहले ही स्वर्गलोक की ओर जाने वाली सरसवाणी (उभय भारती)

को दुर्गामिश्र से शङ्करााचार्य द्वारा रोक लेने तथा उनसे शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट करने का वर्णन है ।

अठावनवें प्रकरण में सरसवाणी के प्रश्नों के उत्तर देने के लिये अमरुक राजा के मृतशरीर में शङ्कराचार्य के लिङ्ग शरीर के प्रवेश करने का वर्णन है ।

उन्सठवें प्रकरण में अमरुक राजा के शरीर में छिपे हुए शङ्कराचार्य को उनके शिष्यों द्वारा अवबोधित किये जाने का वर्णन है ।

साठवें प्रकरण में पुराने शरीर में लौटने से पूर्व शङ्कराचार्य के शरीर को शिष्यों के द्वारा जलाने, ~~तथा~~ उस जलते हुए शरीर में शङ्कराचार्य के कपाल के मध्य से प्रवेश करने, ~~तथा~~ उनके द्वारा लक्ष्मीनृसिंह की स्तुति करने, अग्निशान्त होने तथा वर प्राप्त करने का वर्णन है ।

एकसठवें प्रकरण में काम-कला सीखने के पश्चात् प्रत्यावर्तित शङ्कराचार्य द्वारा सरसवाणी पर विजय प्राप्त करने का वर्णन प्राप्त होता है ।

बासठवें प्रकरण में शङ्कराचार्य द्वारा सरसवाणी को मन्त्रबद्ध करने, शृङ्गपुर के समीप तुङ्गभद्रा नदी के तट पर चक्र के आगे कल्पपर्यन्त उन्हें रहने के आदेश देने, इस स्थान को अपने मठ के रूप में स्वीकृत करने, इस मठ में विद्यापीठ के निर्माण करने तथा अनेक सम्प्रदायों के शङ्कराचार्य के शिष्य बनने का वर्णन उपलब्ध होता है ।

तिरसठवें प्रकरण में शङ्कराचार्य द्वारा १२ वर्षों तक शृङ्गगिरि में निवास करने, तत्पश्चात् " सुरेश्वर " नामक शिष्य को पीठाध्यक्ष बनाकर

स्वयं " अहोबल " नामक स्थान में जाने , वहाँ " नृसिंह " भगवान की स्तुति करने , तदनन्तर " वेंकल्यगिरि "[१] जाने , वहाँ अद्वैतमत के प्रचार करने , अतःपर " काञ्चीनगर " जाने , वहाँ एक मास तक निवास करने , इसी समय वहाँ " शिवकाञ्ची और ब्रह्मयज्ञ-कुण्ड से उत्पन्न " विष्णु वरदराज " के नाम का आश्रय लेकर " विष्णुकाञ्ची " की स्थापना करने आदि विषयों का वर्णन हुआ है ।

चौसठवें प्रकरण में परादेवता " कामाक्षी " की प्रतिष्ठा करने का वर्णन है ।

पैंसठवें प्रकरण में पराशक्ति के अभिव्यञ्जक " श्री चक्र " के निर्माण का वर्णन है । इसमें ६ चक्रों का उल्लेख हुआ है । इनमें कुछ शैव और कुछ शाक्त मतों के प्रतीक हैं ।

छाछठवें प्रकरण में शङ्०कराचार्य के द्वारा आनन्दगिरि के प्रश्नों के उत्तर में मोक्ष के मार्ग का स्पष्टीकरण हुआ है ।

सड़सठ से बहत्तर तक के प्रकरणों में कलियुग में लोकरक्षा हेतु वर्णाश्रमधर्म की स्थिति बनाये रखने के लिये शङ्०कराचार्य के द्वारा अपने एक-एक शिष्य के माध्यम से शैव , वैष्णव , सौर , शाक्त , गाणपत्य और कापालिक मतों की स्थापना करवाने का वर्णन है । इन मतों का मुख्य तात्पर्य अद्वैतसिद्धि में ही था ।

तिहत्तरवें प्रकरण में शिष्यों के द्वारा शङ्०कराचार्य की स्तुति करने का वर्णन है ।

चौहत्तरवें प्रकरण में काञ्ची स्थान पर शङ्०कराचार्य की ऐहिक लीला समाप्त होने का वर्णन है ।

- -

१- वेंकल्यगिरि (?)

ख- आनन्दगिरिकृत " शङ्करविजय: " और माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " में विद्यमान समानताएँ

दोनों ही ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य शङ्कराचार्य के दिग्विजय का वर्णन करना होने के कारण दोनों में कुछ घटनाओं तथा वर्णनों की समानता भी दृष्टिगोचर होती है जिनका उल्लेख इस प्रकार है -

१- शङ्कराचार्य के जन्म से पूर्व भारत की धार्मिक और सामाजिक दुरवस्थाओं के चित्रण में ।

२- शङ्कराचार्य को प्राप्त करने के लिये उनके माता-पिता के तप के वर्णन में ।

३- शङ्कराचार्य द्वारा अल्पायु में सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लिये जाने के चित्रण में ।

४- चूडाकरण और उपनयन संस्कार के काल-निर्णय में ।

५- आठवें वर्ष में गोविन्दाचार्य से संन्यासदीक्षा ग्रहण करने के चित्रण में ।

६- शङ्कराचार्य द्वारा सर्वत्र भ्रमण करते हुए विभिन्न सम्प्रदायों को अपना शिष्य बनाने के वर्णन में ।

७- व्यासजी द्वारा आयुवृद्धि का वरदान देने और ब्रह्मसूत्र के भाष्य विषयक परीक्षा लेने के चित्रण में ।

८- सरसवाणी (उभयभारती) को स्वर्गलोक जाने से रोकने के लिये दुर्गामन्त्र को माध्यम चुना गया था — इस घटना के चित्रण में ।

९- सरस्वाणी के प्रश्नों का उत्तर देने के लिये अमरुक राजा के मृतदेह में संन्यासी शङ्कराचार्य के प्रवेश करने के चित्रण में ।

१०- शिष्यों द्वारा उन्हें अमरुकराजा के दरबार में चेतावनी देने के प्रयासों के वर्णन में ।

११- कामकला के शिक्षण के लिये निश्चित एक माह की अवधि व्यतीत हो जाने पर भी शङ्कराचार्य के द्वारा अमरुक के शरीर को त्याग कर अपने पूर्व शरीर में न लौटने के कारण निराश उनके शिष्यों के द्वारा उनके पूर्व शरीर को अग्नि में समर्पित करने , उसी समय शङ्कराचार्य के उस अग्निसमर्पित शरीर में प्रवेश करने , लक्ष्मी की स्तुति करने तथा अग्नि शान्त करने आदि घटनाओं के वर्णन में ।

१२- बदरीक्षेत्र में गर्म जल की धारा शङ्कराचार्य के द्वारा प्रवाहित करने की घटना के चित्रण में समानता है ।

ग- आनन्दगिरिकृत ग्रन्थ और माधवाचार्यविरचित ग्रन्थ में विद्यमान असमानताएँ

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में जहाँ एक और अनेक समानताएँ हैं वहाँ दूसरी ओर पर्याप्त असमानताएँ भी विद्यमान हैं । दोनों ग्रन्थों में जिन तत्वों में भिन्नताएँ हैं उनका उल्लेख आगे किया जा रहा है -

१- काव्य-विधा में अन्तर

अ- जहाँ आनन्दगिरि का ग्रन्थ गद्यपद्य के मिश्रण होने से " चम्पूकाव्य " का प्रतिनिधित्व करता है वहाँ माधवाचार्य का ग्रन्थ " महाकाव्य " का प्रतिनिधित्व करता है ।

ब- आनन्दगिरि के ग्रन्थ में पौराणिक इतिवृत्त अधिसंख्य मात्रा में विद्यमान हैं। माधवाचार्य में इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है।

स- आनन्दगिरिकृत ग्रन्थ में शङ्कराचार्य के बाह्य सौन्दर्य पर प्रकाश न डालकर उनके आन्तरिक सौन्दर्य (गुणों) पर प्रकाश डालने का मुख्य प्रयास किया गया है। परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थ में शङ्कराचार्य के शारीरिक सौन्दर्य का खूब आलङ्कारिक भाषा में रोचक वर्णन हुआ है। इस कारण हमें आनन्दगिरि के ग्रन्थ की अपेक्षा माधवाचार्य के ग्रन्थ में अलङ्कारों का प्रचुर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

२- <u>शङ्कराचार्य के माता-पिता व जन्मस्थान के नामों में अन्तर</u>

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में शङ्कराचार्य के माता-पिता के नामों की भिन्नता विद्यमान है। जहाँ आनन्दगिरि के ग्रन्थ में शङ्कराचार्य के पिता का नाम " विश्वजित् " और माता का नाम " विशिष्टा " बताया गया है वहाँ माधवाचार्य के ग्रन्थ में इनके पिता का नाम " शिवगुरु " और माता का नाम " सती " उल्लिखित हुआ है।

इसी प्रकार इनके जन्मस्थान में भी अन्तर पाया जाता है। आनन्दगिरि के ग्रन्थ में शङ्कराचार्य का जन्मस्थल " चिदम्बरेश्वर " उल्लिखित हुआ है। माधवाचार्य के ग्रन्थ में इनका जन्मस्थान " कालटी " नामक ग्राम कहा गया है।

३- <u>संन्यासग्रहण करने की परिस्थितियों में अन्तर</u>

आनन्दगिरि के ग्रन्थ में शङ्कराचार्य के द्वारा संन्यासग्रहण करने के पूर्व किसी भी दुःस्थिति से जूझने

का वर्णन नहीं प्राप्त होता है । माधवाचार्य के ग्रन्थ में शङ्कराचार्य के संन्यासग्रहण के अवसर पर उनकी माँ एक विघ्न के रूप में उपस्थित हुई हैं । माँ किसी प्रकार भी शङ्कराचार्य को संन्यासग्रहण करने की आज्ञा नहीं देना चाहती थीं । इस विघ्न के अपनयन के लिये माधवाचार्य के ग्रन्थ में शङ्कराचार्य को नदी में कूदना पड़ा और जलचर का शिकार बनना पड़ा । जलचर द्वारा शङ्कराचार्य का चरण उस समय मुक्त किया गया जब इन्हें इनकी माँ से संन्यासग्रहण की आज्ञा मिल गयी ।

पुत्र के संन्यासजन्य वियोग से व्याकुल माँ के शोक और शङ्कराचार्य द्वारा उन्हें आश्वासन देने के वर्णन को माधवाचार्य के ग्रन्थ में रोचक ढङ्ग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है । आनन्दगिरि के ग्रन्थ में इसका सर्वथा अभाव लक्षित होता है ।

४- आनन्दगिरि के ग्रन्थ में मण्डनमिश्र और उभयभारती के विवाह का प्रसङ्ग नहीं मिलता । परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थ में पूरे एक सर्ग में दोनों के विवाह का वर्णन उपलब्ध होता है ।

५- आनन्दगिरि ने शङ्कराचार्य से विश्वनाथ (चाण्डालवेशधारी शिव) की भेंट नहीं करवायी है परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थ में इस घटना का उल्लेख हुआ है । इसके माध्यम से पाठकों को कुछ दार्शनिक तथ्य सुरुचिपूर्ण ढङ्ग से समझने का अवसर प्राप्त हुआ है ।

६- आनन्दगिरि ने सभी अद्वैतबाह्य मतावलम्बियों से शङ्कराचार्य का वाद-विवाद विस्तार के साथ वर्णित किया है । यह उपयुक्त भी था । माधवाचार्य ने केवल मण्डनमिश्र , भट्टभास्कर और नीलकण्ठ से ही शङ्कराचार्य का विस्तृत शास्त्रार्थ वर्णित किया है । अन्य मतावलम्बियों का नामोल्लेख या अतिसंक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर आगे बढ़ गये हैं ।

७- आनन्दगिरि ने शङ्कराचार्य से कुमारिलभट्ट का साक्षात्कार " रुद्रास्यपुर " नामक स्थान में वर्णित किया है परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थ में " प्रयाग " नामक स्थान में दोनों का मिलन वर्णित हुआ है । शङ्कराचार्य द्वारा उन्हें पुनर्जीवित करने के प्रस्ताव का उल्लेख माधवाचार्य के ग्रन्थ में मिलता है परन्तु आनन्दगिरि के ग्रन्थ में वह लुप्त है ।

८- आनन्दगिरि ने शङ्कराचार्य के द्वारा माँ के दाहसंस्कार किये जाने वाली घटना का उल्लेख नहीं किया है जबकि माधवाचार्य के ग्रन्थ में इस घटना का उल्लेख हुआ है ।

९- आनन्दगिरि ने शङ्कराचार्य के दया-दाक्षिण्य आदि गुणों का वर्णन नहीं किया है । परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थ में कई घटनाएँ जैसे - निर्धनब्राह्मणी की कथा , क्रकच कापालिक को सिरदान की कथा तथा मूकाम्बिका मन्दिर में गूँगेबालक को वाचाल बनाने की कथा - शङ्कराचार्य के दया-परोपकार आदि मानवीय भावनाओं को सङ्केतित करती हैं ।

१०- आनन्दगिरि ने शङ्कराचार्य को अन्तिम समय में होने वाले भगन्दर रोग का वर्णन नहीं किया है जबकि माधवाचार्य के ग्रन्थ में इनके रोग और इसके निदान आदि का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है ।

११- आनन्दगिरि के ग्रन्थ में शङ्कराचार्य के सर्वज्ञपीठ पर आरोहण की घटना का उल्लेख नहीं हुआ है इसके विपरीत माधवाचार्य के ग्रन्थ में इसका वर्णन मिलता है ।

१२- आनन्दगिरि के ग्रन्थ में शङ्कराचार्य द्वारा विमलाकामाक्षी की प्रतिष्ठा और उसके अभिव्यञ्जक १ श्रीचक्रों के निर्माण की घटनाएँ दो प्रकरणों में वर्णित हुई हैं परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थ में मात्र मन्दिर की स्थापना का सङ्केत एक श्लोक में प्राप्त होता है ।

१३- आनन्दगिरि के ग्रन्थ में शङ्कराचार्य की ऐहिकलीला समाप्त होने का स्थल " काञ्ची " बताया गया है परन्तु माधवाचार्य के ग्रन्थ में " केदार " नामक स्थान में इनकी ऐहिक लीला समाप्त होने का उल्लेख हुआ है ।

४- श्रीस्वामी सत्यानन्दसरस्वतीविरचित " श्रीशङ्करदिग्विजय "

क- " श्रीशङ्करदिग्विजय " की भूमिका , प्रतिपाद्य और उसकी समीक्षा

हिन्दी पाठकों की सुविधा हेतु सत्यानन्द सरस्वती ने " श्रीशङ्कर-दिग्विजय " काव्य की विस्तृत हिन्दी टीका भी लिखी है । इन्होंने अपने ग्रन्थ में शङ्कराचार्य के चरित्र का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्रस्तुत करने के लिये उपनिषद् , गीता , ब्रह्मसूत्र - शाङ्करभाष्य और माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्कर-दिग्विजय " आदि ग्रन्थों का सहारा लिया है ।

सरस्वतीजी के ग्रन्थ में कुल अठारह सोपान हैं । इन सोपानों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

प्रथम सोपान में मङ्गलाचरण और शङ्कराचार्य के जन्म के पूर्व भारत की स्थिति का वर्णन है । इस सोपान में माधवाचार्य के ग्रन्थ से आहृत पाँच श्लोकों का उपन्यास किया गया है । इसके अतिरिक्त गीता का यह उद्धरण - " यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत " भी उल्लिखित हुआ है ।

द्वितीय सोपान में शङ्कराचार्य का जन्म वर्णित है । इस सोपान में माधवाचार्य के ग्रन्थ के २० श्लोक दिखायी पड़ते हैं । जाबालोपनिषद् ,

स्कन्दपुराण , वायुपुराण , भविष्यपुराण , सौरपुराण , शिलालेख और ताम्रलेख का भी इसमें उल्लेख हुआ है ।

तृतीय सोपान में मण्डनमिश्र आदि के रूप में देवों का भारत भूमि पर आगमन , मण्डनमिश्र और उभयभारती के विवाह और उनके पिता के द्वारा विवाह के समय किये गये उपदेशों का वर्णन है । इसमें १३ श्लोक माधवाचार्य के ग्रन्थ से गृहीत हैं ।

चतुर्थ सोपान में शङ्कराचार्य के बालचरित , विद्याध्ययन , भिक्षाटन और गुणों का वर्णन हुआ है । शङ्कराचार्य के बालचरितवर्णन में माधवाचार्य के ग्रन्थसे५ श्लोक , विद्याध्ययन में १३ श्लोक , गुणवर्णन में ५ श्लोक और यशवर्णन में २ श्लोक आहृत हुए हैं । इनके विद्याध्ययन के वर्णन में एक स्थान पर गीता का उद्धरण भी उपलब्ध होता है ।

पञ्चम सोपान में शङ्कराचार्य के संन्यास ग्रहण , राजसम्मान , विद्यादान , ऋषियों के आगमन , संन्यासग्रहण के लिये माँ से अनुमति लेने , गुरु की खोज , गोविन्दपाद की स्तुति , गोविन्दपाद से अद्वैतवेदान्त के अध्ययन और उनसे संन्यास की दीक्षा लेने , वर्षावर्णन तथा काशी जाने की घटनाओं का वर्णन हुआ है । इस सोपान में शङ्कराचार्य के संन्यासग्रहण शीर्षक में माधवाचार्य के ग्रन्थ से १० श्लोक , शङ्कराचार्य के विद्याध्ययन में १ श्लोक , ऋषियों के आगमन के वर्णन में ११ श्लोक , गुरु के अन्वेषण शीर्षक में ५ श्लोक , शङ्कराचार्य द्वारा गोविन्दपाद से अद्वैतवेदान्त के अध्ययन और उनसे संन्यासदीक्षा लेने के वर्णन में १७ श्लोक , वर्षावर्णन में १४ श्लोक ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिये गये हैं । इसके अतिरिक्त एक स्थान पर

" जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी " - यह प्रसिद्ध श्लोकांश भी मिलता है । कठोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् के अंशों का भी ग्रहण इस सोपान में हुआ है ।

षष्ठ सोपान में शङ्कराचार्य द्वारा आत्मविद्या की प्रतिष्ठा करने , सनन्दन द्वारा शङ्कराचार्य से संन्यासदीक्षा लेने , भगवान विश्वनाथ से शङ्कराचार्य के साक्षात्कार करने , शङ्कराचार्य द्वारा भाष्य रचना करने और पाशुपतमत की समीक्षा करने का वर्णन उपलब्ध होता है । इस सोपान के कुल ३४ श्लोक माधवाचार्य के ग्रन्थ से लिये गये हैं । ऋग्वेद , गीता , उपदेशसाहस्री और स्कन्दपुराण के उद्धरण भी यथास्थान सन्निविष्ट हुए हैं ।

सप्तम सोपान में शङ्कराचार्य के केदार आदि तीर्थस्थानों में भ्रमण , वहाँ व्यास के दर्शन और स्तुति , प्रयागतीर्थ के माहात्म्य , प्रयाग में ही कुमारिलभट्ट से शङ्कराचार्य की भेंट और कुमारिलभट्ट द्वारा इनसे अपनी व्यथा के कथन आदि विषयों का वर्णन उपलब्ध होता है । इस सोपान को भी माधवाचार्य के ग्रन्थ ने ३४ श्लोक प्रदान किये हैं । छान्दोग्योपनिषद् , मनुस्मृति , पराशरस्मृति , मुण्डकोपनिषद् और तैत्तिरीयोपनिषद् आदि के उद्धरण भी यत्र-तत्र छिटके हैं ।

अष्टम सोपान में शङ्कराचार्य का मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ वर्णित है । इस सोपान के ४० श्लोकों का माधवाचार्य के ग्रन्थ से आहरण किया गया है । जाबालोपनिषद् , महानारायणोपनिषद् , ईशावास्योपनिषद् , भगवद्गीता , मुण्डकोपनिषद , तैत्तिरीयोपनिषद् और कठोपनिषद् ग्रन्थ के श्लोकांश भी इस सोपान में उद्धृत हुए हैं ।

नवम सोपान में मीमांसासम्मत ईश्वर के तात्पर्य से शङ्कराचार्य ने मण्डनमिश्र को अवगत कराया । मण्डनमिश्र द्वारा शङ्कराचार्य की स्तुति की गयी । मण्डनमिश्र के पराजित हो जाने पर उनकी पत्नी उभयभारती से शङ्कराचार्य ने वादविवाद किया । उभयभारती के प्रश्नों का उत्तर जानने के लिये शङ्कराचार्य को परकाय में प्रवेश करना पड़ा । इन सभी घटनाओं के वर्णन इसी सोपान में हुए हैं । इस सोपान में कुल २६ श्लोक माधवाचार्य के ग्रन्थ से उद्धृत हुए हैं । ब्रह्मसूत्रभाष्य , पतञ्जलि के " परमार्थसार " का अंश और योगसूत्र का अंश भी यत्र-तत्र उपन्यस्त है ।

दशम सोपान में शङ्कराचार्य के कामकला में निपुणता प्राप्त करने का वर्णन है । भोगविलासरत अमरुक राजा के वेश में शङ्कराचार्य द्वारा अपने कर्तव्य को विस्मृत कर दिये जाने पर इनके शिष्य पद्मपाद द्वारा इनको बोधित किये जाने तथा शङ्कराचार्य द्वारा मण्डनमिश्र के प्रति किये गये उपदेश का उल्लेख मिलता है । इस सोपान में ३२ श्लोक माधवाचार्यग्रन्थ के हैं । कठोपनिषद् , बृहदारण्यकोपनिषद् , शङ्करविजय: (आनन्दगिरिकृत) और ब्रह्मवैवर्तपुराण का अवलम्बन भी इस सोपान में लिया गया है ।

एकादश सोपान में उग्रभैरव के पराजय और नृसिंह भगवान की स्तुति आदि का वर्णन है । इस सोपान में कुल तीन श्लोक हैं । ये सभी माधवाचार्य के कृतिगत श्लोक ही हैं ।

द्वादश सोपान में हस्तामलक और तोटकाचार्य की कथा , हरिशङ्कर और मूकाम्बिका देवी की शङ्कराचार्य द्वारा की गयी स्तुति , प्रभाकर और हस्तामलक की शङ्कराचार्य से भेंट वर्णित है । २२ श्लोक माधवाचार्य के ग्रन्थ से आहृत हैं ।

त्रयोदश सोपान में शङ्कराचार्य का शिष्यों के साथ वार्त्तिकरचना के विषय में विचार-विमर्श और हस्तामलक के पूर्वजन्म का वृत्तान्त वर्णित है। इसमें ८ श्लोक आकृत हैं।

चतुर्दश सोपान में तीर्थयात्रा के इच्छुक पद्मपाद के प्रति शङ्कराचार्य द्वारा दिये गये उपदेश, माँ के अन्तिम दर्शन के लिये शङ्कराचार्य के स्वगृहगमन, पद्मपाद के दक्षिण देशों की यात्रा और उनके प्रत्यागमन की चर्चा हुई है। इसमें ३३ श्लोक माधवाचार्य के ग्रन्थ के हैं।

पञ्चदश सोपान में शङ्कराचार्य का दिग्विजय और क्रकचकापालिक की कथा वर्णित है। शङ्कराचार्य ने दिग्विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से नीलकण्ठ, भट्टभास्कर, जैनों और बौद्धों से शास्त्रार्थ किया था। इसमें कठ, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, मुण्डक और छान्दोग्य उपनिषदों, नारदीयपुराण, ब्रह्मसंहिता, जैमिनीयसूत्र, ब्रह्मसूत्र और गीता के उद्धरणों के अतिरिक्त माधवाचार्य के ग्रन्थ का भी ग्रहण भूरिशः किया गया है।

षोडशसोपान में शङ्कराचार्य के सर्वज्ञपीठाधिरोहण, गौड़पाद से इनकी भेंट, काश्मीर के सर्वज्ञ पीठ पर बैठने के पूर्व विभिन्न दार्शनिकों से शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ, शङ्कराचार्य द्वारा सर्वज्ञपीठारोहण के पश्चात् वैदिकधर्म के प्रचार, शङ्कराचार्य की बदरी और केदार तीर्थों की यात्रा तथा वहाँ इनके उपदेश का वर्णन उपलब्ध होता है। इसमें १८ श्लोक माधवाचार्य के ग्रन्थ के हैं। भागवत और स्कन्दपुराण के अंश भी उद्धृत हैं।

सप्तदश सोपान में शङ्कराचार्य और उनके अद्वैतवाद, शङ्कराचार्य के पूर्व के वेदान्ताचार्यों और शङ्कराचार्योत्तर वेदान्ताचार्यों का वर्णन उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त सोपान में सरस्वतीजी ने माधवाचार्य का अनुकरण नहीं किया है । इसमें विवेकचूडामणि , नारदीयपुराण , अध्यात्मरामायण , ब्रह्मसूत्रभाष्य , उपनिषदों , स्कन्दपुराण , गीता , संक्षेपशारीरकभाष्य शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह , शङ्कराचार्य द्वारा रचित शिवाष्टक , गङ्गाष्टक स्तोत्रों के श्लोकों का अवलम्बन किया गया है ।

अष्टादश सोपान में मठाम्नायों और शृङ्गेरीमठ की आचार्य परम्परा का वर्णन हुआ है । इस सोपान में भी सरस्वतीजी ने माधवाचार्य से स्वतन्त्र होकर वर्णन किया है ।

स- निष्कर्ष

सत्यानन्दसरस्वतीकृत ग्रन्थ के सम्यक् अवलोकन से इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि वे माधवाचार्य से अत्यधिक प्रभावित थे । इन्होंने माधवाचार्य के ग्रन्थ के अनेक श्लोकों को बिना किसी परिवर्तन के अपने ग्रन्थ में न्यस्त कर लिया है । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इन श्लोकों से उल्लिखित वर्ण्यविषय को इन्होंने माधवाचार्य के भावों का अनुकरण करते हुए हिन्दी गद्य के रूप में प्रस्तुत किया है ।

जिन स्थानों पर माधवाचार्य ने अधिक महत्त्व प्रदान करने के उद्देश्य से शङ्कराचार्य का परिचय कई श्लोकों में कराया है वहीं पर सरस्वतीजी ने एक या दो श्लोकों से ही अपना काम चला लिया है । इस संक्षेपीकरण में सरस्वतीजी का उद्देश्य सम्भवतः पाठक को मात्र विषयवस्तु का दिग्दर्शन कराना होगा न कि उसके मन में नायक के प्रति श्रद्धा , आनन्द आदि भावों का दृढ़ीकरण ।

सरस्वतीजी ने शङ्कराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों को सुग्राह्य बनाने के लिये उपनिषदों और पुराणों का भी आश्रय लिया है। ऐसा करना सर्वथा उचित भी था क्योंकि उपनिषद् वेदान्तदर्शन का मूल है और अद्वैतवेदान्त ही शङ्कराचार्य का जीवनदर्शन था। ऐसी परिस्थिति में साधारण पाठकों के लिये दर्शन जैसे दुरूह विषय का उपनिषद् और पुराणों की पंक्तियों के माध्यम से विशद विवेचन करना बहुत ही श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है। यहाँ पर सरस्वतीजी की मौलिकता का परिचय भी प्राप्त होता है।

सरस्वतीजी की मौलिकता का परिचय सप्तदश और अष्टादश सोपानों में भी प्राप्त होता है। इन दोनों सोपानों में वर्णित विषय के ज्ञान के बिना शङ्कराचार्य के सम्पूर्णव्यक्तित्व का परिचय अधूरा ही रह जाता है। माधवाचार्य के ग्रन्थ में इन वर्ण्य विषयों का अभाव परिलक्षित होता है।

माधवाचार्य और सरस्वतीजी की कृतियों की तुलना करने पर माधवाचार्य अधिक समीचीन लगते हैं। उनका लक्ष्य शङ्कराचार्य के विजय का ऐतिहासिक परिचय देने के साथ-साथ सामान्यजनों के मन में उनके प्रति प्रीति और श्रद्धा उत्पन्न करना था। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से इन्होंने अपने नायक के अङ्गों के सौन्दर्य, वाणी और उनके क्रियाकलापों का सर्वोत्कृष्ट रूप में बहुविध वर्णन प्रस्तुत किया है जैसा कि 'बुद्धचरित' में अश्वघोष द्वारा, 'रामचरितमानस' आदि काव्यों में उनके कवियों द्वारा अपने आराध्यदेव के वर्णन में किया गया है।

माधवाचार्य के मत में शङ्कराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों का अलग से विवेचन अनावश्यक था क्योंकि इनके दर्शन के ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक शङ्कराचार्य की ही कृतियों का अवलोकन करेगा यही उसके लिये उचित भी होगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि माधवाचार्य के ग्रन्थ में शङ्करकराचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों की पूर्णतः उपेक्षा कर दी गयी है अपितु यथास्थान उसे भी उल्लिखित कर इनके दिग्विजय के आधार को स्पष्ट और पुष्ट किया है।

हाँ यह बात अवश्य है कि इसमें " शङ्करकराचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त " नामक अलग से किसी सर्ग की रचना नहीं हुई है। जैसा कि सरस्वतीजी ने सप्तदशसोपान में किया है। माधवाचार्य का यह प्रयास उचित भी है क्योंकि काव्य में दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन न केवल प्रधानतया विवादित शङ्करकराचार्य के व्यक्तित्व की महनीयता को संकुचित कर देता अपितु काव्य में उत्पन्न नीरसता उसे उसके मुख्य उद्देश्य आनन्दानुभूति से भी च्युत कर देती।

५- <u>बालगोदावरीविरचित " श्रीशङ्करकराचार्यचम्पूकाव्यम् "</u>

क- <u>" श्रीशङ्करकराचार्यचम्पूकाव्यम् " का प्रतिपाद्य विषय</u>

बालगोदावरी जी ने कुल पाँच स्तबकों में शङ्करकराचार्य के पवित्र चरित्र को उपन्यस्त किया है। इस पर आनन्दगिरिकृत ग्रन्थ और व्यासाचलविरचित कृति की भी अत्याधिक छाप पड़ी है। इस काव्य का वर्ण्य-विषय संक्षेप में इस प्रकार है -

बौद्ध धर्म के प्रबल प्रचार के कारण वैदिक कर्मों के सम्पादन की प्रवृत्ति लुप्तप्राय हो गयी थी। इससे देवगण अत्यन्त विक्षुब्ध हुए। विक्षुब्ध देवगण ने वैदिक धर्म के उत्थान हेतु भगवान शङ्कर से प्रार्थना की। इस प्रार्थना से प्रसन्न होकर शङ्कर भगवान ने पृथ्वी पर जन्म ग्रहण किया।

इनकी सहायता के लिये पृथ्वीतल पर अन्य देवता भी मनुष्य बने । शङ्कर भगवान ने मनुष्यदेहधारी देवों के कार्य को सुनिश्चित किया । इसी स्तबक में राजा सुधन्वा और कुमारिलभट्ट का प्रसङ्ग भी वर्णित है । इसी वर्ण्यविषयमाधवाचार्यकृत ग्रन्थ के समान ही हैं । यह बात अवश्य है कि माधवाचार्यकृत ग्रन्थ के समान यहाँ सविस्तार वर्णन नहीं हुआ है ।

द्वितीय स्तबक में शङ्कराचार्य के जन्म ग्रहण करने का वर्णन है । सुविख्यात " चिदम्बर " नामक स्थान में " शिवगुरु " नाम से प्रसिद्ध ब्राह्मण श्रेष्ठ के गृह में शङ्कराचार्य का जन्म हुआ । इनकी माता का नाम " सताम्बिका " था । दोनों दम्पत्ति (सताम्बिका और शिवगुरु) की भयङ्कर तपस्या के फलस्वरूप भगवान शङ्कर ने शङ्कराचार्य के रूप में इनके घर में जन्म लिया । इन वर्ण्य विषयों में माधवाचार्य से इनका साम्य लक्षित होता है । पुत्र शङ्कराचार्य के जन्म के समय होने वाली घटनाएँ भी " श्रीशङ्करदिग्विजय " के समान ही हैं । बारहवें दिन शङ्कराचार्य का नामकरण संस्कार हुआ । चौथे वर्ष में पिता शिवगुरु की मृत्यु और पाँचवें वर्ष में इनके उपनयन संस्कार होने का वर्णन उपलब्ध होता है । अल्पायु में ही इन्होंने वेदाङ्ग सहित चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था । निर्धन ब्राह्मणी के घर भिक्षा याचना के लिये गये हुए शङ्कराचार्य का वृत्तान्त भी माधवाचार्यकृत ग्रन्थ में वर्णित वृत्तान्त के समान ही उल्लिखित है ।

शङ्कराचार्य की कीर्तिकथा के ज्ञाता केरलनरेश का इनके पास आगमन , साक्षात् शङ्करभगवान ही इस भूतल पर अवतरित हुए हैं ऐसा जानकर ऋषियों का इनके पास आगमन , ऋषियों का इनके द्वारा स्वागत करने और ऋषियों द्वारा इनकी अल्पायु के विषय में भविष्यवाणीकथन आदि के वर्णन भी माधवाचार्य के और इस ग्रन्थ में समान हैं ।

संन्यासग्रहण करने के उद्देश्य से शङ्कराचार्य के नदी में प्रवेश की घटना का उल्लेख " श्रीशङ्करदिग्विजय " के समान ही हुआ है परन्तु शङ्कराचार्य को संन्यासीजीवन से विरत करने हेतु माँ के प्रयास (विलाप) का विस्तार से वर्णन नहीं हुआ है । माधवाचार्य के ग्रन्थ में इस घटना के विस्तृत वर्णन का मुख्य उद्देश्य महाकाव्यलक्षण के अनुरूप रसवैविध्य के सिद्धान्त को घटित कराना तथा शङ्कराचार्य के चरित्र को निखारना ही सकता है ।

माँ से आज्ञा प्राप्त कर शङ्कराचार्य संन्यासदीक्षा लेने के लिये गुरु गोविन्दनाथ के आश्रम गये । गोविन्दनाथ की आज्ञानुसार ये काशी गये । वहाँ पर इन्होंने कुछ दिनों तक निवास किया और वहीं ब्रह्मसूत्र पर भाष्य की रचना की ।

तृतीय स्तबक में काशी में निवास करते हुए ही शङ्कराचार्य से सनन्दन के संन्यास की दीक्षा लेने , चाण्डालवेशधारी विश्वनाथ से शङ्कराचार्य की भेंट , विश्वनाथ की आज्ञा से ब्रह्मसूत्रभाष्य की रचना करने , भास्कर , अभिनवगुप्त , प्रभाकर और मण्डनपण्डित आदि मतवादियों को पराजित करने का शङ्कराचार्य द्वारा बीड़ा उठाने का वर्णन है । शिष्यों के साथ भ्रमण करते हुए शङ्कराचार्य के हिमालय पर स्थित बदरिकाश्रम पहुँचने , वहाँ पर ब्रह्मसूत्र , ईश , केन और कठ आदि दस उपनिषदों पर भाष्य , श्रीमद्भगवद्गीता , महाभारत के अन्तर्गत सनत्सुजातीय , नृसिंहतापिनी और उपदेशसाहस्री आदि ग्रन्थों की व्याख्या लिखने का उल्लेख हुआ है । शङ्कराचार्य द्वारा अपने शिष्यों को उपदेश देने , इसी समय इनके व्यासजी के दर्शन और उनसे की गयी वार्तालाप का प्रसङ्ग वर्णित है ।

व्यास-दर्शन के पश्चात् शङ्कराचार्य के मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ हेतु प्रस्थान , मार्ग में कुमारिलभट्ट द्वारा किये जा रहे प्रायश्चित्तकाण्ड विषयक वृत्तान्त के श्रवण , कुमारिलभट्ट से इनकी भेंट , कुमारिलभट्ट द्वारा शङ्कराचार्य के वार्तिक रचना के प्रस्ताव के ठुकराये जाने , इसके पश्चात् निराश शङ्कराचार्य के मण्डनमिश्र की नगरी " माहिष्मती " में पहुँचने और वहाँ मण्डनमिश्र से सरस्वती मण्डनमिश्र की पत्नी की मध्यस्थता में शास्त्रार्थ करने का वर्णन है । इस ग्रन्थ में " श्रीशङ्करदिग्विजय " के समान शास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हुआ है ।

इसी प्रसङ्ग में सरस्वती से शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ , अमरुक नृप के शरीर में शङ्कराचार्य के प्रवेश और पद्मपाद द्वारा गुरु को बोधित करने वाले आध्यात्मिक गायन का वर्णन भी हुआ है । मण्डनमिश्र और सरस्वती को अपना शिष्य बनाने के पश्चात् शङ्कराचार्य के महाराष्ट्र आदि दक्षिण देशस्थ लोगों को पराजित करते हुए " श्रीशैल " पर्वत पर जाने और वहाँ लोगों की शङ्काओं को दूर करने के लिये कुछ दिन तक इनके निवास करने का वर्णन है । इसी स्थान पर शङ्कराचार्य के ऊपर प्रहार करने वाले दुष्ट कापालिक का वृत्तान्त वर्णित है ।

" श्रीशैल " पर्वत से शङ्कराचार्य के पापों के विनाशकर्ता गोकर्ण नामक स्थान में जाने , वहाँ से " श्रीबलि " ग्राम जाने और वहाँ कुछ दिन तक निवास करने का उल्लेख हुआ है । वहीं पर शङ्कराचार्य की शरण में प्रभाकर नामक ब्राह्मण के आने तथा अपने पुत्र को शङ्कराचार्य के चरणों में समर्पित करने , शङ्कराचार्य के द्वारा उसे हस्तामलक नाम देने और उसे अपना शिष्य बनाने की घटनाएँ भी वर्णित हुई हैं ।

" कालिग्राम " स्थान से शङ्कराचार्य तुङ्गभद्रातट पर स्थित " शृङ्गवेर " नगरी पहुँचे । इन्होंने यहाँ मठ स्थापित करके सुरेश्वर (मण्डनमिश्र) को इसका मठाधिकारी नियुक्त किया ।

इसी स्तबक में तोटकाचार्य के वृत्तान्त , सुरेश्वर के द्वारा शङ्कराचार्य के भाष्य पर वार्तिक लिखे जाने के लिये गुरु शङ्कराचार्य के प्रस्ताव तथा इस विषय में शिष्यों द्वारा उठायी गयी शङ्कायें, सुरेश्वर द्वारा " नैष्कर्म्यसिद्धि " ग्रन्थ की रचना आदि वर्ण्य-विषय माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " के समान ही उपलब्ध होते हैं ।

चतुर्थ स्तबक में पद्मपाद की तीर्थयात्रा , इस यात्रा में आयी हुई दु:स्थितियों के वर्णन के अतिरिक्त शङ्कराचार्य के द्वारा सर्वदिग्भ्रमण तथा वहाँ उनके सिद्धान्त के प्रचार का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है । इसी स्तबक में शङ्कराचार्य के द्वारा अपनी वृद्धा माँ के दाह संस्कार करने का उल्लेख हुआ है ।

दिग्विजय के उद्देश्य से भ्रमण करने वाले शङ्कराचार्य सर्वप्रथम रामेश्वरम् गये । मार्ग के मध्य में स्थित मध्यार्जुनलिङ्ग नाम से विख्यात शङ्कर भगवान की स्तुति की । इनकी स्तुति से प्रसन्न शिवमध्यार्जुनलिङ्ग से तुरन्त देहरूप में प्रकट हो गये और इन्होंने शङ्कराचार्य को शुद्ध-सत्य-अद्वैत तत्त्व का उपदेश भी दिया । यहीं पर शाक्तों से शङ्कराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ जिनमें लक्ष्मी और शारदा के उपासक प्रमुख थे । यहाँ से शङ्कराचार्य काशी गये । काशी में जङ्गम नामक शिव के भक्तों से इनका शास्त्रार्थ हुआ । काशी से शङ्कराचार्य " अनन्तशयन " नामक स्थान पर पहुँचे । यहाँ इन्होंने एक मास तक निवास किया । इसी समय इन्होंने यहाँ पर स्थित छ: प्रकार के

वैष्णवों को शास्त्रार्थ में पराजित करके उन्हें अपना शिष्य बनाया ।
" अनन्तशयन " से शङ्करकराचार्य " काञ्ची " नगर पहुँचे । यहाँ पर सुन्दर रमणीय शिवालय में शिव को स्थापित करके शङ्कराचार्य एक मास तक रहे । इन्होंने इस नगरी का नाम " शिवकाञ्ची " रखा । इसी के समीप सुन्दर मन्दिर में इन्होंने विष्णु को स्थापित किया और इस स्थान का नाम " विष्णुकाञ्ची " रखा । यहाँ पर भी शङ्कराचार्य का मैववादियों से शास्त्रार्थ हुआ । " विष्णुकाञ्ची " स्थान से शङ्कराचार्य " विदर्भ " देश गये । यहाँ से " कर्नाटक " गये । " कर्नाटक " में कापालिकों के अड्डों का सफाया किया । यहाँ न केवल कापालिक ही शङ्कराचार्य के शिष्य बने अपितु चार्वाक , क्षपणक , जैन आदि मतावलम्बियों ने भी इनके शिष्यत्व को ग्रहण किया । " कर्नाटक " से शङ्कराचार्य " अनुमल्ल " नामक स्थान पर गये । इस स्थान के पश्चिमी भाग में विद्यमान विष्वक्सेन और मन्मथ को पराजित करके ये " मगध " देश पहुँचे । यहाँ से " यमप्रस्थ " गये । यहाँ के निवासियों पर विजय प्राप्त कर ये " प्रयाग " आये । यहाँ पर वरुण , वराह , सांख्य और कापालिक मतावलम्बियों को अपना शिष्य बनाकर ये पुनः " काशी " प्रत्यावर्तित हुए । यहाँ तीन मास तक रहकर " कर्म को ही मोक्ष का साधन मानने वालों " को अपना शिष्य बनाया । यहाँ पर शङ्कराचार्य का नीलकण्ठ से विवाद हुआ । वाराणसी से शङ्कराचार्य " द्वारकापुरी गये । यहाँ पर श्रीमहाकालेश्वर का दर्शन किया । यहाँ पर भट्टभास्कर को शङ्कराचार्य ने शास्त्रार्थ में पराजित किया । यहाँ से शङ्कराचार्य " दरद " देश गये । यहाँ " श्रीहर्ष " और " अभिनवगुप्त " को हराया । यहाँ से " अंगवंगकलिंग " आदि स्थानों पर गये । यहाँ पर अद्वैतमत का प्रचार किया ।

इसी स्तबक में पराजय के अपमान से लज्जित अभिनवगुप्त द्वारा शङ्कराचार्य के प्रति किये गये अभिचार , फलस्वरूप शङ्कराचार्य में उत्पन्न भगन्दर रोग , इसकी चिकित्सा के लिये राजधानी से वैद्यों के आगमन , वैद्यों के रोगनिवारण में असमर्थ होने पर शिष्य पद्मपाद द्वारा अभिनवगुप्त से लिये गये प्रतिकार और शङ्कराचार्य की गौड़पाद से हुई भेंट का वर्णन हुआ है ।

पञ्चम स्तबक में शङ्कराचार्य के शारदापीठ पर आरोहण की घटना , शृङ्गेरीमठ में सुरेश्वर (मण्डनमिश्र) को नियुक्त कर कुछ शिष्यों के साथ शङ्कराचार्य के केदारनाथ गमन , वहाँ शीत से पीड़ित भक्तों की रक्षा के लिये उष्ण जल की धारा प्रवाहित करने आदि विषयों का वर्णन है । इसी स्तबक में शङ्कराचार्य द्वारा अपनी आयु की समाप्ति होने पर स्वधाम कैलासलोक गमन करने की चर्चा भी हुई है ।

ख- माधवाचार्य और बालगोदावरीकृत ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन

उपर्युक्त काव्य के अवलोकन से कुछ बातें प्रकाश में आती हैं ।

१- काव्यविधा में अन्तर

माधवाचार्यकृत ग्रन्थ महाकाव्य है और बालगोदावरीकृत रचना चम्पू काव्य है ।

२- वर्ण्यविषयों में अन्तर

बालगोदावरी ने अपने काव्य में प्राकृतिक दृश्यों , शङ्कराचार्य के पिता शिवगुरु के विद्याध्ययन , उनकी संन्यासाश्रम में रुचि ,

उनके विवाह , मण्डनमिश्र और उभयभारती के विवाद प्रसङ्ग , देवी-देवताओं की शङ्कराचार्य द्वारा की जाने वाली स्तुतियों , गुरु की महिमा और तीर्थयात्रा आदि की महिमा जैसे वर्ण्यविषयों पर अपनी लेखनी नहीं चलायी है जबकि माधवाचार्यकृत ग्रन्थ में इन सभी विषयों का रोचक वर्णन हुआ है ।

शास्त्रार्थ के प्रतियोगियों के रूप में गोदावरीजी ने माधवाचार्य के काव्य में वर्णित प्रतियोगियों के अतिरिक्त लक्ष्मी के उपासकों , शिव के भक्तों , वैष्णवों , जीव और ईश्वर में भेद मानने वाले अर्थात् भेदवादियों से भी शङ्कराचार्य का शास्त्रार्थ वर्णित किया है ।

उपर्युक्त वर्ण्यविषयों में अन्तर होना प्रायेण समीचीन है क्योंकि काव्यविधा में अन्तर उसके वर्ण्यविषयों की सीमा भी बाँध देती है ।

३- माता के नाम व जन्मस्थान में अन्तर

बालगोदावरीजी ने शङ्कराचार्य की माता का नाम " तथाम्बिका " और उनका जन्मस्थान " चिदम्बरेश्वर " बताया है परन्तु माधवाचार्य ने माँ का नाम " सती " और जन्मस्थान " कालटी " बताया है ।

४- काव्यशैली में अन्तर

एक ही वर्ण्यविषय पर लेखनी चलाने वाले दोनों कवियों के काव्यों की तुलना हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाती है कि जहाँ

शब्दों के उचित चयन , अलङ्कारों के यथास्थान प्रयोग और नवीनभावों की उद्भावना माधवाचार्य की शैली को हृदयावर्जक बना देती है वहीं बालगोदावरीजी की काव्यशैली में विद्यमान इन सबका अभाव पाठकों को आनन्दानुभूति से च्युत कर देता है ।

६- <u>माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " और महामुनिमेधाव्रतकृत " दयानन्ददिग्विजयम् "</u>

बीसवीं शताब्दी में महामुनिमेधाव्रत ने " श्रीशङ्करदिग्विजय " को आदर्श मानकर " दयानन्ददिग्विजयम् " नामक ग्रन्थ की रचना की है । इसमें इन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के पावन चरित को सत्ताइस सर्गों में निबद्ध किया है । " श्रीशङ्करदिग्विजय " और " दयानन्ददिग्विजयम् " में पर्याप्त समानताएँ दृष्टिगत होती हैं जिनका विवरण इस प्रकार है :

क- <u>" श्रीशङ्करदिग्विजय " और " दयानन्ददिग्विजयम् " में विद्यमान समानताएँ</u>

१- <u>ग्रन्थों के नामकरण में समानता</u>

" श्रीशङ्करदिग्विजय " चौदहवीं शताब्दी में रचित ग्रन्थ है और " दयानन्ददिग्विजयम् " बीसवीं शताब्दी में रची गयी कृति है । दोनों ग्रन्थों के नामकरण नायक और उसके दिग्विजय के आधार पर रखे गये हैं । चूँकि पूर्ववर्ती ग्रन्थ का अनुकरण पश्चाद्वर्ती ग्रन्थ करता है इसलिये यह निर्णय दिया जा सकता है कि " श्रीशङ्करदिग्विजय " ग्रन्थ के नाम को दयानन्ददिग्विजयकार ने चुराया है ।

२- नायक के दिग्विजय के प्रकार में समानता

जिस प्रकार शङ्कराचार्य ने सभी अद्वैतवाद विपक्षियों को शास्त्रार्थ में पराजित करके सर्वत्र अपनी विजयपताका फहरायी है उसी प्रकार इस काव्य में दयानन्दसरस्वतीजी ने तत्कालीन सभी धर्मावलम्बियों और पौराणिक पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित कर वैदिक धर्म की विजयपताका फहरायी है ।

३- अङ्गीरस की एकता

दोनों ग्रन्थों के अङ्गीरस एक हैं । यह अङ्गी रस शान्त है ।

४- वर्ण्यविषय के प्रस्तुतीकरण में समानता

जिस प्रकार " श्रीशङ्करदिग्विजय " में सर्वप्रथम शङ्कराचार्य के जन्म के पूर्व भारत की परिस्थितियों का वर्णन हुआ है उसी प्रकार " दयानन्ददिग्विजयम् " में सर्वप्रथम भारत के प्राचीन गौरव और भारत की राजनीतिक , सामाजिक , धार्मिक और आर्थिक दुर्दशाओं का चित्रण हुआ है ।

दयानन्द के जन्म , बाललीला , वैराग्य और गृहत्याग , योगियों के खोज में भ्रमण , नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के दीक्षा-ग्रहण , विरजानन्द से आर्षविद्या ग्रहण , दक्षिणा के रूप में स्वसमर्पण और वैदिक धर्म के प्रचार हेतु गुरु की आज्ञा से प्रस्थान करने आदि विषयों के वर्णन में " श्रीशङ्करदिग्विजय " ग्रन्थ के वर्णन क्रम का अनुकरण स्पष्टतया परिलक्षित होता है ।

५- श्लोकों के भावों में समानता

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' के कुछ श्लोकों के भाव भी ' दयानन्ददिग्विजयम् ' में देखे जा सकते हैं । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

कहाँ ब्रह्मचारी , तपस्वी महात्माओं का समुद्र के समान गम्भीर और हिमालय के समान उन्नत चरित्र और कहाँ मात्र नदी को पार करने वाली छोटी नौका के समान मेरी अल्पबुद्धि । फिर भी कृपालु गुरुजनों की सेवा से प्राप्त कृपारूपी नौका पर आरूढ़ होकर दयानन्दचरित्ररूपी महासमुद्र को पार करने का मैं साहस करता हूँ और कविजनों के योग्य कीर्ति की कामना करता हूँ[1] ।

' दयानन्ददिग्विजयम् ' के उपर्युक्त दोनों श्लोकों के भाव ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' के इस श्लोक में विद्यमान हैं:-

कहाँ दिशाओं के किनारों को तोड़ने वाले , वसन्त में खिलने वाली मालती के गन्ध के समुदाय से अधिक सुगन्धित शङ्कराचार्य के सद्गुण और कहाँ मैं (कवि) तथापि मुझमें वर्णन की प्रशस्त योग्यता सद्गुरु के कृपारूपी

- -

१- महात्मनां ब्रह्मविदां तपोजुषां क्व सिन्धुगम्भीरचरित्रमुन्नतम् ।
तरङ्गिणीसन्तरणैकहेतुका क्व चाल्पनौरिव मदीयशेमुषी ॥
गुरोः कृपालोः परिचर्ययाऽर्जितां कृपातरिं तामधिरुह्य दुस्तराम् ।
अयं दयानन्दचरित्रसागरं तितीर्षतीयं कविकीर्तिकामुकः ॥

द० दि० , १-४ , ६

अमृत के प्रवाह में मग्न और उन्मग्न होने वाले कटाक्षों के द्वारा देखने का फल है ।[१]

दोनों ग्रन्थों के नायकों के तेज वर्णन में उपलब्ध भाव की समानता -

ब्राह्मणवंश के भूषण उस बालसूर्य ने प्रसूतिगृह के दीपकों को अपने तेज से सचमुच निस्तेज कर दिया ।[२]

" दयानन्ददिग्विजयम् " काव्य के उपर्युक्त श्लोक का भाव " श्रीशङ्करदिग्विजय " के इस श्लोक में विद्यमान है -

उस सूतिकागृह में दीपक नहीं था बल्कि उस तेज से जो वह घर रात के समय सुशोभित हो रहा था परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जो-जो घर दीपक से रहित थे उन घरों के अन्धकार को दूर कर उस बालक ने उन्हें भी प्रकाशित कर दिया ।[३]

- -

१- क्वैमे शङ्करसद्गुरोर्गुणगणा दिग्जालकूलंकषाः
कालीन्धीक्षितमालतीपरिमलावष्टम्भमुष्टिंधयाः ।
क्वाहं हन्त तथाऽपि सद्गुरुकृपापीयूषपारम्परी -
मग्नोन्मग्नकटाक्षवीक्षणबलादस्मि प्रवृत्ताऽधुना ।। श्रीश० दि० ,१-६

२- ब्रह्मवंशावतंसेन शिशुसूर्येण तेजसा ।
निष्कान्तयः कृता नूनं सूतिकागृहदीपिकाः ।। द० दि०, ३-५२

३- तत्सूतिकागृहमवेदात नप्रदीपं तत्तेजसा यदनमातमभूत्क्षपायाम् ।
आश्चर्यमेतदजनिष्ट समस्तजन्तोस्तन्मन्दिरं वितिमिरं यदभूददीपम् ।।
श्रीश० दि० , २-८२

दोनों ग्रन्थों के नायकों के जन्म के समय होने वाली घटनाओं के वर्णन में प्राप्त श्लोकों के भावों में समानता -

दयानन्द के जन्म के समय पानी स्वच्छ हो गया , वायु सुखदायक होकर चलने लगी और अग्नि हव्य-कव्य द्रव्यों द्वारा अनुकूल ज्वाला वाली हो गयी । इस बालकदेव को धारण करके पृथ्वी भी शस्य के समान हरी-भरी शोभा वाली हो गयी और आकाश स्वच्छ होकर सुन्दर शोभा वाला हो गया ।[1]

' दयानन्ददिग्विजयम् ' ग्रन्थ के उपर्युक्त श्लोकों के भाव ' श्रीशङ्कर दिग्विजय ' ग्रन्थ में निम्न श्लोकों में देखे जा सकते हैं ।

वृक्षों और लताओं ने फल-फूलों की राशि गिराई । सब नदियों का पानी प्रसन्न और निर्मल हो गया । मेघ ने भी बारम्बार जल वर्षा की और पर्वतों से भी जल सहसा गिरने लगा । सभी दिशाएँ नितान्त निर्मल हो गयीं तथा वायु अद्भुत दिव्य गन्ध को चारों ओर बिखेरने लगी । अग्नि जल उठी और उसकी विचित्र ज्वालाएँ दाहिनी ओर से निकलने लगीं ।[2]

- -

१- सलिलं निर्मलं जज्ञे ववौ वायुः सुखावहः ।
अनलो हव्यकव्यैश्च प्रदीप्तो दक्षिणोऽजनि ।।
वसुमेनं वहन्तीयं वसुधासस्यशालिनी ।
विरराज मनोज्ञाभं प्रसन्नं गगनं तदा ।। द० दि० , ३-५८, ५९

२- वृक्षा लताः कुसुमराशिफलान्यमुञ्चन्
नद्यः प्रसन्नसलिला निखिलास्तथैव ।
वाता मुहुर्जलधरोऽपि निर्जं विकारं
भूभृद्गणादपि जलं सहसोत्पपात ।।
सर्वाभिराशाभिरलं प्रसेदे वातैरमाव्यद्भुतदिव्यगन्धैः ।
प्रजज्वलेऽपि ज्वलनैस्तदानीं प्रदक्षिणीभूतविचित्रकीलैः ।।

श्रीश० दि० , २-७४ , ७६

ख- निष्कर्ष

पर्याप्त समानताओं के रहते हुए भी " दयानन्ददिग्विजयम् " की अपनी मौलिकता लुप्त नहीं हुई है । " दयानन्ददिग्विजयम् " के परवर्तिकाव्य होने के कारण माधवाचार्य ने इससे कुछ ग्रहण किया हो ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती अपितु " दयानन्ददिग्विजयम् " ही इनके ग्रन्थ से उपकृत हुआ है । अतः " श्रीशङ्करदिग्विजय " का प्रभाव अपने पश्चाद्वर्ती काव्यों पर पड़ा है इसे निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है ।

द्वितीय खण्ड

माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " महाकाव्य का उपजीव्य काव्य कौन?

१- भूमिका

माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ के मङ्गलाचरण में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि उनका ग्रन्थ " प्राचीनशङ्करजय " का सारांश है । शङ्कराचार्य के विजय को वर्णित करने वाले कई ग्रन्थ विद्यमान होने के कारण यह प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि कवि ने किस रचनाकार की कृति की ओर सङ्केत किया है?

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के संस्कृत टीकाकार धनपतिसूरि और इसी ग्रन्थ के हिन्दी अनुवादक पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार " प्राचीनशङ्करजय "

से कवि का तात्पर्य आनन्दगिरिकृत " शङ्करविजय: " नामक ग्रन्थ से है । अत: माधवाचार्य ने आनन्दगिरि के ग्रन्थ का सारांश लिया है - यह निष्कर्ष प्राप्त होता है ।

व्यासाचल के ग्रन्थ का सम्यक् परिशीलन करने के पश्चात् शोधकर्त्री को जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ है वह उपर्युक्त दोनों विद्वानों के मतों से भिन्न है । माधवाचार्य ने उपर्युक्त स्थल पर " व्यासाचलकृत " शङ्करविजय:" ग्रन्थ की ओर सङ्केत किया है न कि आनन्दगिरिकृत ग्रन्थ " शङ्करविजय: " की ओर । इन्होंने इसी ग्रन्थ को उपजीव्य बनाकर अपने काव्य की रचना की है । इस विषय में प्रमाण भी उपलब्ध है । इसे प्रमाणित करने के लिये सर्वप्रथम आनन्दगिरिकृत ग्रन्थ को उपजीव्य मानने में होने वाली कठिनाइयों पर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा ।

२- <u>आनन्दगिरिकृत " शङ्करविजय: " को माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " ग्रन्थ का उपजीव्य मानने में उत्पन्न होने वाली आपत्तियाँ</u>

क- काव्यविधा में अन्तर विद्यमान है । आनन्दगिरिकृत ग्रन्थ चम्पू काव्य है तो माधवाचार्यकृत ग्रन्थ महाकाव्य है ।

ख- माधवाचार्य ने आनन्दगिरि और उनके काव्य की चर्चा भी कहीं नहीं की है ।

ग- माधवाचार्य के ग्रन्थ में आनन्दगिरि के ग्रन्थ के श्लोक उपलब्ध नहीं होते हैं ।

घ- आनन्दगिरि का मुख्य उद्देश्य अपने नायक शङ्कराचार्य का अविद्या पर ही महत्त्वपूर्ण विजय दिखाना था । अत: उन्होंने कुल ५० प्रकरणों में

शङ्कराचार्य के विभिन्न सम्प्रदायों से शास्त्रार्थ और अन्त में विजय को वर्णित किया है । इसके विपरीत माधवाचार्य का मुख्य उद्देश्य शङ्कराचार्य को न केवल शास्त्रार्थ द्वारा ही विजय दिलाना वरन् मानवीय गुणों द्वारा भी सब प्राणियों पर विजय दिलाना था । इसलिये उनके ग्रन्थ में शास्त्रार्थप्रयुक्त दिग्विजय आनन्दगिरि की अपेक्षा अव्यापक हो रह गया है ।

ङ०- आनन्दगिरिकृत ग्रन्थ पौराणिक उद्धरणों को बाहुल्येन सङ्गृहीत करने के कारण चरितकाव्य कम धार्मिक ग्रन्थ अधिक बन गया है । माधवाचार्य ने शङ्कराचार्य के समग्र चरित पर प्रकाश डालते हुए ही पौराणिक आख्यानों को यथोचित स्थान दिया है ।

च- पूर्वोल्लिखित[१] " आनन्दगिरिकृत ग्रन्थ और माधवाचार्यकृत ग्रन्थ में विद्यमान असमानताएँ " शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित बातें भी माधवाचार्यकृत ग्रन्थ को आनन्दगिरिकृत ग्रन्थ से दूर हटाती हैं ।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि आनन्दगिरि के ग्रन्थ के पक्ष में उठने वाली आपत्तियाँ इतनी गम्भीर हैं कि उनका निराकरण सम्भव नहीं है । अत: इसे " श्रीशङ्करदिग्विजय " ग्रन्थ का उपजीव्य काव्य नहीं माना जा सकता है ।

३- <u>व्यासाचलकृत ग्रन्थ को माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " ग्रन्थ का उपजीव्य मानने के पक्ष में तर्क</u>

क- माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ में व्यासाचल और उनकी कृति की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है ।[२]

१- द्रष्टव्य पृ० सं० १४६

२- भेत्ता यत्रोल्लसति भगवत्पादवंशो महेश:
शान्तिर्यत्र प्रकपति रस: शेषपानुज्ज्वलाभि: ।
यत्राविषादान्तिरपि फलं तस्यकाव्यस्य कर्ता
धन्यो व्यासाचलकविवरस्तत्कृतिश्चास्य धन्या: ।। श्रीश० दि० , १-३७

ख- उपर्युक्त तर्क से व्यासाचल का माधवाचार्य से पूर्व अस्तित्व सिद्ध होता है ।

ग- माधवाचार्य ने जो यह इङ्गित किया है कि वे " प्राचीनशङ्करजय " का सारांश लिख रहे हैं इसमें प्रयुक्त " प्राचीन ". पद की सार्थकता भी अनेक तर्कों से सिद्ध होती है ।

व्यासाचलकृत ग्रन्थ की प्रस्तावना में डॉ० चन्द्रशेखर ने इसकी प्राचीनता को बिना किसी सन्देह के स्वीकार किया है । कई शङ्कराचार्य विषयक काव्यों का परिचय देने के पश्चात् उनका कथन है - In this connection, it has to be pointed out that the overlooking of 'ŚAṄKARAVIJAYA', a very ancient work, by Vyāsācala, is to be regretted and it is indeed very surprising that a work of this kind did not come into print earlier. The fact that the work is very ancient is attested by Śrī Mādhavācharya in his introductory Chapter of the SAṂKṢEPAŚAṄKARAVIJAYA - Introductory P.No.III .

इसके साथ-साथ इन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि माधवाचार्य ने इसी " व्यासाचल " का नाम उद्धृत किया है दूसरे किसी " व्यासाचल " नामक कवि की ओर उनका सङ्केत नहीं है ।

इसके अतिरिक्त डॉ० चन्द्रशेखर ने प्राचीन कवियों द्वारा व्यासाचल की प्रशंसा में कहे गये श्लोकों का विवरण भी प्रस्तुत किया है जिससे इनके ग्रन्थ की प्राचीनता ही पुष्ट होती है :

३- Śrī Govindanatha, in his work, ŚANKARĀCHĀRYA CHARITA, gives a brief resume of the life of the great Philospher in its frist Chapter and herein he refers to Vyāsācala with great respect :-

सर्वागमास्पदं वन्दे व्यासाचलमिमं कविम् ।
बभूव शङ्कराचार्यकीर्तिकल्लोलिनी यतः ॥

४- The Keralīya ŚANKARAVIJAYA also gives the following verse which praises the poet Vyāsācala in high terms :-

अत्युन्नतस्य काव्याद्रेर्व्यासाचलमहीरुहः[१] ।
अर्थप्रसूनान्यादातुमसमर्थोऽस्म्यद्भुतम् ॥

शङ्करविजयः , Introductory P. No.- III

४- दोनों ग्रन्थ महाकाव्य होने के कारण काव्यविधा में भी समानता लक्षित होती है ।

५- माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ में व्यासाचल के ग्रन्थ से प्रचुर मात्रा में श्लोकों का आहरण किया है , जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

द्वितीय सर्ग में श्लोक संख्या[२] - ६ से ६५ , ७१ से ७५ , ७८ से ८४
तृतीय ,, ,, ,, - १० से ७७

१- काव्याद्रेर्व्यो -----(?)
२- ये श्लोक माधवाचार्यकृत ग्रन्थ के हैं ।

चतुर्थ सर्ग में श्लोक संख्या – १ से ३ , १२ से १७

पञ्चम ,, ,, ,, – २ , ३ , ६० से ८० , १०५ , १०६

षाष्ठ ,, ,, ,, – १ से ५ , १४

सप्तम ,, ,, ,, – ६४ , ६६ , ७२ , ८० से १००

अष्टम ,, ,, ,, – २ , ६१ से ६५ , ६७ से ७३

नवम ,, ,, ,, – ७० , १०५ , १०६

दशम ,, ,, ,, – १७ , १८ , ७७ से १०३

एकादश ,, ,, ,, – १६ , १७ , १९ , २८ से ३२ , ३७ , ४४
६० से ६७

द्वादश ,, ,, ,, – ४० से ६२ , ७० से ७४

त्रयोदश ,, ,, ,, – २ से ४ , ६ से १४ , ४१ से ४८ , ५१ से
६१ , ६४ से ६८ , ७०

चतुर्दश ,, ,, ,, – २ से २८ , ३० , ३५ , ४२ , ४९ , ५२ ,
५६ से ५८ , ६२ से ६८ , ७० , ७१ ,
७४ से ७९ , ८२ से ९० , ९२ से ११० ,
११४ से १२४ , १२६ से १३२

षोडश ,, ,, ,, – ४ से १४ , ५५ से ६० , ६२ से ८१ , ८७ से
८८ ।

इतनी अधिक संख्या में माधवाचार्य के द्वारा श्लोकों का आहरण यह पुष्ट करता है कि माधवाचार्य ने व्यासाचल के ग्रन्थ का ही सारांश लिखा है ।

उपर्युक्त आकृत श्लोकों को देखकर बहुत से लोग यह अनुमान कर सकते हैं कि माधवाचार्य की अपनी कोई मौलिकता ग्रन्थ में प्रकट नहीं हुई होगी परन्तु ऐसा अनुमान करना इनके प्रति अन्याय होगा । इनके ग्रन्थ का सम्यक् अनुशीलन करने पर इनकी अनेक मौलिकताओं और कुशल कवि होने का सहज-भान होने लगता है । अनेक नीरस दार्शनिक सिद्धान्तों को भी सरस काव्य का रूप देना माधवाचार्य जैसे कुशल कवि का ही कार्य हो सकता है । इसका प्रमाण एवं शरद्वर्णन आदि के अवसर पर उपलब्ध होता है ।

तृतीय खण्ड

निष्कर्ष

अब तक के अध्ययन से अग्रलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं :

१- माधवाचार्य ने व्यासाचल के ग्रन्थ का ही सारांश ग्रहण किया है न कि आनन्दगिरि के ग्रन्थ का । अतः यह माना जा सकता है कि " श्रीशङ्करदिग्विजय " का उपजीव्य व्यासाचलकृत " शङ्करविजयः " ग्रन्थ है और आनन्दगिरिकृत " शङ्करविजयः " ग्रन्थ इसका उपजीव्य नहीं है ।

२- स्वामी सत्यानन्द सरस्वतीकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " और मेधाव्रतमुनिकृत " दयानन्ददिग्विजयम् " ग्रन्थ का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि इन ग्रन्थों पर माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्करदिग्विजय " की पर्याप्त छाप पड़ी है । इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि माधवाचार्यकृत ग्रन्थ " श्रीशङ्करदिग्विजय " संस्कृतसाहित्य का एक लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है ।

चतुर्थ अध्याय

श्रीशङ्करदिग्विजय में रसाभिव्यक्ति

प्रथम खण्ड

अङ्गीरस – सैद्धान्तिक विवेचन

१- अवतारणा

काव्य और जीवन का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यक्ति अपने जीवन में जिन-जिन भावों का अनुभव करता है कवि उन्हीं भावों को अपने काव्य के माध्यम से सुखात्मक अनुभूति का रूप दे देता है। जिस प्रकार एक ही भाव की सदैव अनुभूति कराने वाला जीवन व्यक्ति को उबाऊ और नीरस प्रतीत होगा उसी प्रकार एक ही भाव की अभिव्यञ्जना कराने वाला काव्य नीरस और आकर्षणहीन ही होगा। अत: काव्य को उपर्युक्त दोष से बचाने के लिये कवि कभी प्रेम-भाव को, कभी उत्साह-भाव को, कभी शोक-भाव को और कभी क्रोध आदि भावों की अनुभूति अपने काव्य में कराता है और इसके लिये वह तत्तत् भावों के व्यञ्जक रसों की योजना अपने काव्य में करता है।

कवि का मुख्य प्रयास जिस प्रमुख भाव की व्यञ्जना कराना होता है उसे स्थायी-भाव कहा जाता है। सामान्यत: ये स्थायी-भाव संस्कृतसाहित्य में कुल ९ माने गये हैं – रति-हास-शोक-क्रोध-उत्साह-भय-जुगुप्सा-विस्मय और शम[१] या निर्वेद। कोई भी भाव स्थायी-भाव की कोटि में तभी गिना

१- रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥
सा० द०, ३-१७५

जा सकता है जबकि उसमें विपरीत तथा अनुकूल भावों से अविच्छिन्नता का गुण विद्यमान हो । इसके साथ ही वह दूसरे भावों को आत्मरूप बनाने में समर्थ भी हो ।[1]

इन स्थायी भावों की व्यञ्जना जिन विभिन्न अवयवों के संयोग से होती है उन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या सञ्चारी भाव की संज्ञा प्राप्त हुई है ।[2]

लोक में जिनकारणों से स्थायी-भाव उद्बुद्ध होता है उन्हें काव्यशास्त्र की भाषा में " विभाव " कहा जाता है । यह दो प्रकार का होता है - १ आलम्बनविभाव २ उद्दीपन विभाव[3] ।

लोक में जिस नायक-नायिका आदि चेतन या जड़ पदार्थ के माध्यम से रस की अभिव्यक्ति होती है उसे काव्यशास्त्र की भाषा में " आलम्बनविभाव " कहा जाता है ।[4] जिसके आश्रय से रस उद्दीप्त होता है उसे काव्यशास्त्र की भाषा में " उद्दीपनविभाव[5] " कहा जाता है ।

१- विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः ।। दशरूपकम्, ४-३४

२- विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः । भरत-ना०शा०,६-३१ की वृत्ति

३- रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ।। सा० द०, ३-२९

४- आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ।। सा० द०, ३-२९

५- उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ।। सा० द०, ३-१३१ ।

यह उद्दीपनविभाव भी दो प्रकार का है - (१) आलम्बनविभाव की चेष्टाएँ (२) बाह्य वातावरण जैसे - सूर्योदय , चन्द्रोदय और उद्यान आदि । लोक में नायक आदि की जो चेष्टाएँ हैं वही काव्य में ' अनुभाव ' की संज्ञा प्राप्त करती हैं ।[१]

वे भाव जो किसी एक रस में स्थिरता से विद्यमान न होकर विभाव और अनुभाव की अपेक्षा से विभिन्न रसों में अनुकूल होकर सञ्चरण करते रहते हैं ' व्यभिचारी ' भाव कहलाते हैं ।[२]

२- ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में अङ्गीरस

क- प्रस्तावना

यों तो महाकाव्यों अथवा नाटकों में अनेक रसों का निबन्धन होता है परन्तु प्रधान रूप से एक अङ्गीरस का निबन्धन करके की गयी रचना श्रेष्ठ और आह्लादक मानी गयी है । इस एक मुख्य रूप से विवक्षित रस को ही अङ्गीरस और अन्य रस उसके अङ्ग कहे जायेंगे ।

अङ्ग और अङ्गी रस का निर्णय नायकनिष्ठ रस के आधार पर भी हो सकता है ऐसा ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त का मत

- -

१- उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ।।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।
सा० द० , ३-१३२ , १३३

२- विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः ।
भरत - ना० शा० , ७-२७ की वृत्ति

है ।[1] जो रस प्रधान नायक निष्ठ है वह अङ्गीरस होगा तथा अन्य प्रतिनायकनिष्ठ जो रस होंगे वे अङ्ग रस होंगे ।

आचार्यों ने सभी रसों के अङ्गित्व को महाकाव्य या नाटक में स्वीकार नहीं किया है अपितु शृङ्गार , वीर और शान्त मात्र इन्हीं तीन रसों को यह अधिकार प्रदान किया है । अन्य सभी रसों के अङ्ग के रूप में रखने का विधान किया है ।[2]

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शृङ्गार , वीर और शान्त में से कौन " श्रीशङ्करदिग्विजय " का अङ्गीरस है ?

स- अन्त: साक्ष्य के आधार पर

स्वयं कवि माधवाचार्य ने अपने काव्य के प्रथम सर्ग में इसके अङ्गीरस की ओर सङ्केत करते हुए लिखा है - " इस काव्य में भगवत्पादनाम वाले महेश नायक हैं और शृङ्गार आदि अन्य रसों से संवलित शान्तरस ही प्रकाशित हो रहा है ।[3] " अत: इस कथन से स्पष्ट हो रहा है कि इस काव्य में " शान्त " ही अङ्गीरस के रूप में अभिप्रेत है ।

- -

१- अङ्गाङ्गिभावेनैत्येकनायकनिष्ठत्वेन ।

ध्वन्यालोक - लोचन , पृ० सं० ४१६

२- शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गीरस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसा: ------------ ।। सा० द० , ६-३१७

३- नेता यत्रोल्लसति भगवत्पादसंज्ञो महेश: ।
शान्तिर्यत्र प्रभवति रस: शेषवानुज्ज्वलार्थ: ।

श्रीश० दि० , १-१७

अन्य प्रमाणों से भी इस ग्रन्थ में शान्तरस के अङ्गीत्व की पुष्टि होती है -

ग- मोक्ष पुरुषार्थ की प्रधानता

शास्त्रों में मानव जीवन के चार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थों का वर्णन मिलता है। साहित्यशास्त्र में इन पुरुषार्थों का सम्बन्ध काव्यरसों से भी उपपन्न किया गया है।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में ग्रन्थ की समाप्ति सभी प्राणियों में विद्यमान अविद्या के क्षयरूप क्रिया के सम्पन्न हो जाने पर हुई है। अविद्या का क्षय होना मोक्ष पुरुषार्थ का प्रथम सोपान है। अविद्या के कारण सांसारिक जन सदैव धोखा खाते रहते हैं। उन्हें ब्रह्म और जगत् के विषय में मिथ्या ज्ञान (अज्ञान) भ्रमित किये रहता है जिससे वे असत् को सत् समझ कर अनेकों दुःखों को भोगते रहते हैं। प्राणियों की इस अनन्त दुःख से निवृत्ति का एक मात्र उपाय यही है कि उनमें विद्यमान ब्रह्म और जगत् विषयक अज्ञानता (भ्रम) को हटाने का प्रयास किया जाय जिससे वे मुमुक्षु बन सकें। "श्रीशङ्करदिग्विजय" में पूर्वोक्त प्रयास का सर्वत्र अनुकरण देखा जा सकता है।

शङ्कराचार्य (नायक) ने तो अपने जीवन काल में ही मोक्ष को प्राप्त कर लिया था, परन्तु इन्होंने मोक्ष की शाश्वत स्थिति बनाये रखने के लिये न केवल तत्त्वज्ञानप्रतिपादक अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया अपितु सर्वत्र भ्रमण करते हुए शास्त्रार्थ के माध्यम से प्राणियों के अज्ञानान्धकार

को भी दूर किया । वस्तुत: ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है । इसकी निवृत्ति होने पर पश्चाद्वर्ती अस्मिता , राग , द्वेष और अभिनिवेशसंज्ञक चारों क्लेश नहीं होते । इस क्लेश के न रहने पर कर्मों के परिणाम नहीं होते । इस प्रकार अधिकार समाप्त हो जाने के कारण इस अवस्था में गुण (किम्वा त्रिगुणात्मक पदार्थ) पुरुष के दृश्य रूप से सामने नहीं आते । यही पुरुष का कैवल्य है । अत: स्पष्ट है कि विवेच्य ग्रन्थ के कथानक का सम्बन्ध मोक्ष पुरुषार्थ से होने के कारण इसमें शान्त ही अङ्गीरस है ।

घ- नायक की मनोवृत्ति के आधार पर

चूँकि आचार्यों ने काव्य में नायक निष्ठ प्रधान रस को अङ्गीरस मानने का अधिकार प्रदान किया है । इसलिये काव्य में अङ्गीरस के निर्णय करने के अवसर पर कथानक के नायक की मनोवृत्ति पर भी ध्यान देना आवश्यक होगा । इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो " श्रीशङ्करदिग्विजय " के कथानक के प्रत्येक मोड़ पर शङ्कराचार्य की प्रवृत्ति निर्वेद या शम[१] मूलक ही रही है । आठ वर्ष की अवस्था में ही ये संन्यासग्रहण हेतु आज्ञा प्राप्त करने के लिये अपनी माँ से जिद करने लगे थे । धन-धान्य की इन्हें तनिक भी चाह नहीं थी तभी तो ये केरलनरेश

१- शम-भाव का लक्षण इस प्रकार है -

न यत्र दु:खं न सुखं न चिन्ता ,
न रागद्वेषौ न काचिदिच्छा ।
रसस्तु शान्त: कथितो मुनीन्द्रै: ,
सर्वेषु भावेषु शम: प्रधान: ।।

दशरूपकम् , ४-४५ की वृत्ति ।

के द्वारा प्रेषित स्वर्णमुद्राओं और घोड़े-हाथियों को ठुकरा देते हैं। कथानक में इनके द्वारा पालित योग के अष्टांग मार्ग जिन्हें मोक्ष का साधन कहा गया है - का भी कथन हुआ है।

क्रूर कापालिक द्वारा शिरोयाचना किये जाने पर ये " यह शरीर नाना अपायों का निधान है " कहकर सहर्ष उसे सिर देने के लिये तैयार हो जाते हैं।

अपने प्रति अभिचार करने वाले अभिनवगुप्त से बदला लेने के इच्छुक पद्मपाद द्वारा मन्त्रप्रयोग उपक्रम के आरम्भ किये जाने पर ये अपनी क्षमाशीलता के कारण ही तो उसे ऐसा करने से रोकते हैं। इस वृत्ति से इनकी द्वेषहीन प्रवृत्ति का परिचय मिलता है जो कि इनके " शम " भाव को ही परिपुष्ट करता है।

३- शान्तरस के विषय में मतवैभिन्न्य

साहित्यशास्त्र में अन्य रसों की अपेक्षा शान्तरस अत्यधिक विवादास्पद रहा है। भरत के नाट्यशास्त्र में शान्तरस का उल्लेख[१] न होने के कारण बहुत से परम्परावादियों ने

- -

१- चौखम्बा से प्रकाशित भरत के नाट्यशास्त्र में शान्तरस विषयक प्रकरण लुप्त है। परन्तु गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज के संस्करण में शान्तरस विषयक पाठ उपलब्ध होता है। प्रायः विद्वानों का यह मत है कि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाट्य के लिये केवल आठ रसों को ही उल्लेख किया है। राघवन इसी मत के समर्थक हैं।

शान्तरस के अस्तित्व को ही नकार दिया है । कालान्तर में काव्य और नाट्य दोनों में शान्तरस की प्रधानता को मान्यता मिली । अस्तु । नाट्य में भले ही शान्तरस के निबन्धन का विरोध किया गया हो परन्तु काव्य में इसकी प्रधानता को शान्तरस के प्रमुख विरोधी धनिक-धनञ्जय[1] ने भी स्वीकार किया है । भरत ने भी अनभिनेयता आदि के कारण नाट्यरसों की चर्चा के प्रसङ्ग में शान्तरस का उल्लेख नहीं किया है परन्तु काव्यरसों के प्रसङ्ग में भी तो शान्तरस के विषय में उनका मत अप्रकट ही रहा है । इसका कारण स्पष्ट है क्योंकि उस समय काव्यचर्चा नाट्यचर्चा की अनुषाङ्गिनी थी । इस प्रकार अनभिनेय काव्य में शान्तरस की प्रधानता का अवकाश भरत ने भी प्रदान कर दिया है । " श्रीशङ्करदिग्विजय " भी एक अनभिनेय काव्य है । इसमें अभिव्यञ्जित शान्तरस काव्यरस है न कि नाट्यरस । अतः इसकी प्रधानता भी निर्विवाद है ।

४- शान्तरस के विभावादि

क्षणभङ्गुर या अनित्यरूप से प्रतीत होने वाले समस्त लौकिक पदार्थ ही शान्तरस के आलम्बनविभाव बन जाते हैं । उपदेश रूप में उक्ति , सज्जनों की सङ्गति , तीर्थाटन , धर्मशास्त्र , दर्शनशास्त्र और पुराण आदि का अध्ययन , मृत्यु या अन्य कोई खिन्नताजनक तात्कालिक प्रसङ्ग उद्दीपनविभाव बन जाते हैं । यम-नियम आदि का अनुकरण , सब प्राणियों में समदृष्टि रखना , सुख-दुःख में कोई अन्तर न समझना आदि इसके अनुभाव हैं । धृति-मति आदि इसके सञ्चारी-भाव के रूप में परिगणित हुए हैं ।

- -

१- शान्तरसस्य चाऽनभिनेयत्वात् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यते -------- । दशरूपकम् , पृ० सं० २५१ ।

द्वितीय खण्ड

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में अभिव्यञ्जित रसों का विवेचन

१- शृङ्गीरस (शान्त)

भ्रमतां भववर्त्मनि भ्रमान्न हि किञ्चित्सुखमण्वपि लदायै ।
तदवाप्य चतुर्थमाश्रमं प्रयतिष्ये भवबन्धमुक्तये ॥

श्रीश० दि० , ५-५४

उपर्युक्त उद्गार दृढ़ विरागी शङ्कराचार्य के हैं । इनका सम्पूर्ण जीवनचरित हमें संसार की झञ्झटों से दूर कहीं अलौकिक आनन्दोपलब्धि के लिये प्रेरित करता है । बाल्यकाल में ही संन्यासग्रहण की इच्छा वाले इन्होंने अनेक विघ्नों का सामना धैर्यपूर्वक किया । शास्त्रों से परिष्कृत बुद्धि वाले शङ्कराचार्य को माँ की ममता अत्यन्त तुच्छ प्रतीत हुई तभी तो इन्होंने माँ से यह कहा कि आपके पास रहकर जितना फल प्राप्त किया जा सकता है उससे सौ गुना अधिक फल संन्यास ग्रहण करके प्राप्त किया जा सकता है ।[१]

शङ्कराचार्य की अल्पायु को जानकर इनकी माँ अत्यधिक दुःखी होती हैं , परन्तु ये स्वयं दुःखी नहीं होते हैं । माँ को सान्त्वना देते हुए इनका यह कहना कि 'वह कौन मूर्ख है जो आँधी के वेग से हिलाये गये ,

---

१- श्रीश० दि० , ५-७२ ।

चीनांशुक की ध्वजा के कोने के समान चञ्चल इस शरीर में स्थिर होने का विचार करता है।[1] कितने पुत्रों का लालन-पालन नहीं किया गया है ; कितनी स्त्रियों का भोग नहीं किया गया है ; कहाँ लड़के ? कहाँ स्त्रियाँ ? और कहाँ हम लोग ? इस संसार में तो एक दूसरे का समागम पथिकों के मिलन के समान है[2] निश्चय ही शम या निर्वेद मूलक प्रवृत्ति के कारण ही सम्भव है।

इसी प्रकार धन-सम्पत्ति लेकर आये हुए केरल-नरेश के मन्त्री को दिये गये शङ्कराचार्य के इस उत्तर - " हे दातृवर ! परमसुखदायक वेदों के अर्थबोध में निपुण ब्रह्मचारियों के लिये भिक्षा से प्राप्त ही अन्न भोजन है , मृगचर्म ही वस्त्र है और अत्यन्त कष्टसाध्य त्रिकालस्नानादि ही कर्तव्य कर्म है - ऐसा आप कहते हैं। इन सब स्वकर्मों को त्याग कर आश्चर्य है कि हम ब्रह्मचारी पृथ्वी के भोगों में अग्रगण्य हाथियों को लेकर क्या करेंगे ? क्या इन कुभोगों की इच्छा से सुख मिल सकता है ? हे अमात्य ! जिस प्रकार आप आये हैं उसी प्रकार लौट जाइए। इस बात को अनेकशः मत कहिए[3] -

- -

१- प्रबलानिलवेगवेल्लितध्वजचीनांशुककोटिचञ्चले ।
अपि मूढमतिः कलेवरे कुरुते कः स्थिरबुद्धिमम्बिके ।। श्रीश० दि० ,५-५२

२- कति नाम सुता न लालिताः कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि ।
क्व नु ते क्व च ताः क्व वा वयं भवसङ्गः खलु पान्थसङ्गमः ।।
श्रीश० दि० , ५-५३

३- भैक्ष्यमन्नमजिनं परिधानं स्नानमेव नियमेन विधानम् ।
कर्मदातृवरशास्ति बटूनां शर्मदायिनिगमार्थविपश्चिताम् ।।
कर्मनिजमपहाय कुभोगैः कुर्महे s ह किमु कुम्भिपुरोगैः ।
इच्छया सुखममात्य यथेतं गच्छ नार्थमसकृत्कथयेत्थम् ।।
श्रीश० दि० , ५-१७ , १८

में भी इनकी सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य भावना ही परिलक्षित होती है । " क्या इन सम्पत्तियों की इच्छा से सुख मिल सकता है "? इस कथन में लौकिक वस्तुओं के प्रति इनके दोषदृष्टित्व का परिचय भी प्राप्त होता है । इस प्रकार " श्रीशङ्करदिग्विजय " में " संसार की असारता का बोध " आलम्बन विभाव बना है । " क्या इन सम्पत्तियों की इच्छा से सुख मिल सकता है "? शङ्कराचार्य के इस कथन में इनकी नि:स्पृहता व्यक्त होने के कारण यहाँ " धृति " सञ्चारी भाव भी व्यञ्जित है । संन्यासदीक्षा ग्रहण करने हेतु ये गुरु की खोज में घर से बाहर निकल पड़ते हैं । मार्ग में दृष्ट लौकिक वस्तुओं के प्रति इनके इस विचार - जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपने इन्द्रजाल को दिखलाता है उसी प्रकार ब्रह्म भी इस जगत्-प्रपञ्च को दिखलाता है[1] - में " मति " सञ्चारी भाव की व्यञ्जना हुई है ।

गुरु गोविन्दाचार्य से इनकी भेंट और उनसे प्राप्त उपनिषद् के इन चार वाक्यों - " अहं ब्रह्मास्मि " , " तत्त्वमसि " , " प्रज्ञानं ब्रह्म " , " अयमात्मा ब्रह्म " , - का उपदेश[2] इनके हृदयस्थ " निर्वेद " भाव को उद्दीप्त कर देता है । इसके अतिरिक्त वर्षाऋतु[3] और शरदृतु[4] के बिम्बों के माध्यम से कवि माधवाचार्य ने शम या निर्वेद भाव को उद्दीप्त करने का सुन्दर और सराहनीय प्रयास किया है । इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

१- गच्छन्वनानि सरितो नगराणि शैलान्
ग्रामाञ्जनानपि पशूनपि सोऽप्यपश्यत् ।
मन्येन्द्रजालिक इवाद्भुतमिन्द्रजालं
ब्रह्मैव परिदर्शयतीति मनो ॥ श्रीश० दि० , ५-८७

२- श्रीश० दि० , ५-१०३

३- श्रीश० दि० , ५-१२६ से १३६

४- श्रीश० दि० , ५-१४० से १५२ ।

वर्षा वर्णन के अवसर पर

प्राप विष्णुपदभागपि मेघः प्रावृडागमनतो मलिनत्वम् ।
विद्युदुज्ज्वलरुचाऽनुसृतश्च कोऽथवन्यपि भजेन्न विरागम् ॥

श्रीश० दि० , ५-१२९

आश्रये कलुषिते सलिलानां मानसोत्कहृदयाः कलहंसाः ।
कोऽन्यथा भवति जीवनलिप्सुराऽऽश्रये भजति मानसचिन्ताम् ॥

श्रीश० दि० , ५-१३०

अभ्रवर्त्मनि परिभ्रममिच्छञ्शुभ्रदीधितिरदभ्रपयोदे ।
न प्रकाशमभजत्कलावान्कश्चकास्ति मलिनाम्बरवासी ॥

श्रीश० दि० , ५-१३१

चातकावलिरनल्पपिपासा प्राप तृप्तिमुदकस्य चिराय ।
प्राप्नुयादमृतमप्यभिवाञ्छन्कालतो बत घनाश्रयकारी ॥

श्रीश० दि० , ५-१३२

शरद् वर्णन के अवसर पर

वारिदायतिवराश्च सुपाथोधारया सदुपदेशगिरा च ।
औषधीरनुचरांश्च कृतार्थीकृत्य सम्प्रति हि यान्ति यथेच्छम् ॥

श्रीश० दि० , ५-१४१

नीरदाः सुचिरसम्भृतमेते जीवनं द्विजगणाय वितीर्य ।
त्यक्तविद्युदबलाः परिशुद्धाः प्रव्रजन्ति घनवीथिगृहेभ्यः ॥

श्रीश० दि० , ५-१४५

धारणादिभिरपि श्रवणाथैर्वार्षिकाणि दिवसान्यपनीय ।
पादपद्मरजसाऽथ पुनन्तः सञ्चरन्ति हि जगन्ति महान्तः ॥

श्रीश० दि० , ५-१५१ ।

इसके अतिरिक्त श्रीश० दि० , ५-१४० , १४२ , १४३ , १४४ , १४६ , १४७ , १४८ , १४९ , १५० , १५२ आदि श्लोक भी उपर्युक्त प्रसङ्ग के उदाहरण है ।

इसी प्रकार काशी में चाण्डालवेशधारी विश्वनाथ से इनका साक्षात्कार और दोनों के बीच वार्तालाप का प्रसङ्ग अङ्गी शान्तरस के उद्दीपन विभाव बनने का अधिकारी है जिसका एक-दो सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है - विश्वनाथ की शङ्कराचार्य के प्रति उक्ति -

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमाद्यं विस्मृत्य रूपं विमलं विमोहात् ।
कलेवरेऽस्मिन् करिकर्णलीलाकृतिन्यहंता कथमाविरास्ते ॥

श्रीश० दि० , ६-३१

विद्यामवाप्यापि विमुक्तिपथ्यां जागर्ति तुच्छा जनसङ्ग्रहेच्छा ।
अहो महान्तोऽपि महेन्द्रजाले मज्जन्ति मायाविवरस्य तस्य ॥

श्रीश० दि० , ६-३२ ; ६-२५ से ३० तक

शम के पाँच प्रकारों - अहिंसा , सत्य , अस्तेय , ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - का अङ्गी शान्त के अनुभाव के रूप में दर्शन होता है ।

सर्वकाल में सर्वप्राणियों से द्रोह न करना ही अहिंसा है । संन्यास ग्रहण करने की प्रबल विरोधिनी अपनी माँ के साथ शङ्कराचार्य भी साक्षात् द्रोह न कर पाये । चूँकि लोककल्याण के लिये यह कार्य अत्यन्त आवश्यक था इस कारण किसी न किसी प्रकार से उनकी आज्ञा लेनी भी अपेक्षित थी । अतः इसके लिये इन्होंने जलचर को उत्तरदायी बनाना उचित समझा ।[१]

- -

१- श्रीश० दि० , ५-६० , ६१ ।

सत्य का पालन करने के उद्देश्य से इन्होंने अपने संन्यासग्रहण की आज्ञा जलचर के द्वारा चरण ग्रहणरूप माध्यम से प्राप्त की ।

सत्यनिष्ठ व्यक्तियों के कथन सर्वथा सत्य होते हैं । इसका व्यावहारिक रूप शङ्कराचार्य के कथन में भी दिखाई पड़ता है । इनके द्वारा अपने गाँव और सम्बन्धियों के प्रति कहा गया कथन[1] (शाप) सत्य सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार अपने शिष्य तोटकाचार्य की जड़ता को दूर करने हेतु इनके द्वारा मन ही मन में उसे प्रदत्त चौदहों विद्याओं का उपदेश सत्य सिद्ध हो जाता है और वह शिष्य उसी समय ललित ' तोटक ' छन्द में इनकी स्तुति करने लगता है ।[2]

केरल-नरेश के द्वारा दान में भेजे गये धन-धान्य आदि को अस्वीकार करने[3] में शङ्कराचार्य द्वारा पालित ' अस्तेय ' का परिचय मिलता है ।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन भी इनके द्वारा किया गया था । इसका सबसे पुष्ट प्रमाण इन्हें उभयभारती के शास्त्रार्थ के प्रसङ्ग में प्राप्त होता है । इन्हें बालब्रह्मचारी समझकर उभयभारती ने इनसे कामकला विषयक प्रश्न किया था[4] परन्तु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये ही इन्होंने उनके प्रश्नों

१- न याचिता वह्निमदुर्यदस्मै शशाप तान् स्वीयजनान् सरोषः ।
इतः परं वेदबहिष्कृतास्ते द्विजा यतीनां न भवेच्च भिक्षा ॥
गृहोपकण्ठेषु च वः श्मशानमद्यप्रभृत्यस्त्विति ताञ्शशाप ।
अद्यापि तद्देशभवा न वेदमधीयते नो यमिनां च भिक्षा ॥
श्री श० दि० , १४-४६ , ५०

२- श्रीश० दि० , १२-७८ , ७९

३- श्रीश० दि० , ५-२८

४- श्रीश० दि० , ६-५७ ।

का/नहीं (उत्तर) दिया[1]। कामकला में निपुणता प्राप्त करने इससे भी बढ़कर ब्रह्मचर्यव्रत को अखण्डित बनाये रखने के लिये इन्हें अपना शरीर छोड़कर दूसरे (अमरुक राजा के) शरीर में प्रवेश करना पड़ा। शारदापीठ पर आरोहण की शर्त ही थी ब्रह्मचारित्व - जो शङ्०कराचार्य में था[2]। इस योग्यता के बल पर ही ये शारदा के पीठ पर आरूढ़ हो सके थे।

विषयों में दोषों को देखकर उनका परित्याग " अपरिग्रह " है। शङ्०कराचार्य ने तो सम्पूर्ण संसार को दूषित समझ लिया था। इसी कारण ये इसे छोड़ने के लिये उद्यत हुए थे[3]।

शङ्०कराचार्य के द्वारा विष्णु की मूर्ति को आदर सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने[4], ब्राह्मणी की निर्धनता के अपनयन हेतु लक्ष्मी की स्तुति करने[5], काशी में विश्वनाथ की स्तुति करने[6], शक्ति की देवी त्रिवेणी की स्तुति करने[7], हरिशङ्०कर की स्तुति करने[8], मूकाम्बिका देवी की स्तुति करने[9], शिव की स्तुति करने[10], विष्णु की स्तुति करने[11] आदि में

१- श्रीश० दि० , ६-७०

२- श्रीश० दि० , १६-८५ , ८६

३- श्रीश० दि० , ५-५४

४- श्रीश० दि० , ५-७६

५- श्रीश० दि० , ४-२५

६- श्रीश० दि० , ६-४१ से ४३

७- श्रीश० दि० , ७-६८ से ७०

८- श्रीश० दि० , १२-८ से १६

९- श्रीश० दि० , १२-२७ से ३७

१०- श्रीश० दि० , १४-३७

११- श्रीश० दि० , १४-३६ से ४१ ।

इनकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है । अतः उपर्युक्त सभी प्रसङ्गों को (आध्यात्मिक) अनुभाव के रूप में मान्यता प्रदान की जा सकती है ।

शङ्कराचार्य द्वारा परमात्मा का ध्यान[1] करना और समाधि[2] लगाना भी अङ्गीशान्त रस के अनुभाव हैं ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में उद्बुद्ध हुए निर्वेद भाव वाले शङ्कराचार्य के द्वारा अविद्याजन्य काम , क्रोध , लोभ और मोह को त्याग[3] देने का उल्लेखमात्र ही नहीं हुआ है अपितु इनके व्यवहार में भी इसको प्रकट रूप देने का प्रयास हुआ है । क्रुद्ध मण्डनमिश्र के द्वारा अनेक दुर्वाक्य कहे जाने पर भी इनका क्रोधित न होना - इनमें क्रोधरहितता , केरल नरेश के धन का बहिष्कार करना - इनमें लोभ शून्यता , अपनी माँ के प्रति ममताहीन होना इससे भी बढ़कर स्वयं अपना ही शिर क्रकच कापालिक को देने के लिये उत्सुक होना - इनमें निर्मोहित्व का व्यावहारिक पक्ष ही प्रस्तुत करता है ।

स्थान-स्थान पर शङ्कराचार्य की लोकमङ्गल की कामना भी व्यक्त हुई है , जैसे - माँ के कल्याण के लिये नदी को अपने घर बुलाना[4], केरल-नरेश के कल्याण के लिये उन्हें मन्त्रों का उपदेश करना[5], योगबल से बाढ़ के पानी को घड़े में भरकर प्राणियों की रक्षा करना[6] आदि ।

- -

१- श्रीश० दि० , ५-११८ , १२५

२- श्रीश० दि० , ५-१२६

३- श्रीश० दि० , ४-६६

४- श्रीश० दि० , ५-६ से ८

५- श्रीश० दि० , ५-२६

६- श्रीश० दि० , ५-१३७ , १३८ ।

सबके परमकल्याण की कामना ही इन्होंने नहीं की अपितु इसके (कामना के) अनुरूप आचरण - प्राणियों के बन्धन के कारणभूत अज्ञान का विनाश भी किया ।

ब्राह्मणी की निर्धनता को दूर करने के लिये लक्ष्मी देवी की स्तुतिरूप उपक्रम में , शत्रु अभिनवगुप्त के द्वारा प्रयुक्त अभिचार के प्रत्यावर्तन के समर्थन न करने में क्रमशः इनकी दया और क्षमा की वृत्ति ही मूल है । अभिनवगुप्त के प्रसङ्ग में शङ्कराचार्य की द्वेषरहित प्रवृत्ति का परिचय भी मिलता है । अहङ्कार के अभाव के कारण उपर्युक्त दयामूलक प्रवृत्ति दयावीरत्व का भ्रम नहीं उत्पन्न कर सकती ।

कृपण कापालिक को अपना शिर सहर्ष दान करने के लिये उद्यत शङ्कराचार्य में परोपकार की भावना भी उत्कट रूप में विद्यमान दिखाई पड़ती है । परोपकार की भावना से प्रेरित होकर ही इन्होंने भवसागर के पार उतरने के इच्छुक कई लोगों को संन्यासदीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया ।

" मति " सञ्चारी-भाव की अभिव्यञ्जना भी अङ्गीशान्तरस के प्रसङ्ग में अनेक बार हुई है । इसके कुछ सुन्दर उदाहरण इस प्रकार हैं :

" जो चैतन्य विष्णु , शिव आदि देवताओं में स्फुरित होता है वही चैतन्य कीड़े-मकोड़े जैसे क्षुद्र जीवों में भी स्फुरित होता है । वह चैतन्य मैं हूँ , यह दृश्य जगत् नहीं - यह जिसकी बुद्धि है वह चाण्डाल ही क्यों न हो? वही मेरा गुरु है ।[1] " यहाँ " मति " के अतिरिक्त

१- या चितिः स्फुरति विष्णुमुखे या पुत्तिकावधिषु सैव सदाऽहम् ।
नैव दृश्यमिति यस्य मनीषा पुल्कसो भवतु वा स गुरुर्मे ।।
श्रीश० दि० , ६-३७

" स्मृति " सञ्चारी भावों की भी अभिव्यञ्जना हुई है ।

" हे शम्भो ! देह-दृष्टि से मैं तुम्हारा दास हूँ और हे त्रिलोचन! जीवदृष्टि से मैं तुम्हारा अंश हूँ । शुद्ध आत्मदृष्टि से विचार करने पर सबकी आत्मा तुम्हीं हो । इस अवस्था में मैं तुमसे किसी प्रकार भी भिन्न नहीं हूँ । सब शास्त्रों के द्वारा निश्चित किया गया यही मेरा ज्ञान है ।[१] " धृति " सञ्चारी-भाव का उल्लेख प्रस्तुत प्रबन्ध के पूर्व पृ० सं०१६८ पर किया गया है ।

शङ्कराचार्य की निर्वेदमूलक प्रवृत्ति अन्त में पूर्णत्याग एवं वैराग्य में परिणत होकर इन्हें आत्मसाक्षात्कार करा देती है । आत्मसाक्षात्कार (करने) के पश्चात् ये अपने गुरु के समक्ष तुरन्त ही शरीरपात के लिये उद्यत हुए थे परन्तु गुरु ने इन्हें लोककल्याण के उद्देश्य से ऐसा नहीं करने दिया । अतः शेष जीवन को इन्होंने निष्काम-भाव से मात्र गुरु की आज्ञा से मोक्ष-मार्ग को प्रशस्त करने के साधनभूत सकल दिशाओं में व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर करने में अर्पण कर दिया । इस प्रकार अनासक्त भाव से जीवन व्यतीत कर अन्त में ये स्वयं तो स्वर्गारोहण करते ही हैं साथ ही साथ समस्त प्राणियों को ज्ञान प्रदान करके उन्हें भी स्वर्गारोहण करने का अधिकारी बना देते हैं ।

- -

१- दासस्तेऽहं देहदृष्ट्याऽस्मि शम्भो -
जातस्तेंऽशो जीवदृष्ट्या त्रिदृष्टे ।
सर्वस्याऽऽत्मन्नात्मदृष्ट्या त्वमेवे -
त्येवं मे धीर्निश्चिता सर्वशास्त्रैः ।।

श्रीश० दि० , ६-४१ ।

२- अङ्गरस

क- शान्तरस

आचार्यों ने कथानक में नायकनिष्ठ प्रधानरस को अङ्गी तथा अन्यपात्रनिष्ठ रस को अङ्ग के रूप में मान्यता प्रदान की है ।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में अङ्गीशान्तरस के अतिरिक्त अन्य पात्रनिष्ठ अङ्गशान्तरस की भी अभिव्यक्ति हुई है ।

सर्वप्रथम हमें शङ्कराचार्य के पिता शिवगुरु के कथनों में उनकी निर्वेदमूलक प्रवृत्ति का परिचय प्राप्त होता है । गुरुगेह में विद्याध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जब गुरु ने उनसे गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने का आग्रह किया तब उनके निम्न कथनों का प्रेरक अवश्य ही सांसारिक उकताहट रही होगी -

सत्यंगुरौ न नियमोऽस्ति गुरोरधीत -
वेदो गृही भवति नान्यपदं प्रयाति ।
वैराग्यवान्भवति भिक्षुपदं विवेकी
नो चेद् गृही भवति राजपदं सदैतत् ।।
श्रीश० दि० , २-१५

श्रीनैष्ठिकाश्रममहं परिगृह्य याव -
ज्जीवं वसामि तव पार्श्वगतश्चिरायुः ।
दण्डाजिनी सविनयो बुध जुह्वदग्नी
वेदं पठन् पठितविस्मृतिशानिभिच्छन् ।। श्रीश० दि० , २-१६

दारग्रहो भवति तावदयं सुखाय
यावत्कृतोऽनुभवगोचरतां गतःस्यात् ।
पाश्चाच्छनैर्विरसतामुपयाति सोऽयं
किं निह्नुषे त्वमनुभूतिपदं महात्मन् ।। श्रीश० दि० , २-१७

निःस्वो भवेद्यदि गृही निरयी स नूनं
भोक्तुं न दातुमपि यः क्षमतेऽणुमात्रम् ।
पूर्णोऽपि पूर्तिमभिमन्तुमशक्नुवन् यो
मोहेन शं न मनुते खलु तत्र तत्र ।। श्रीश० दि० , २-१६

यावत्सु सत्सु परिपूर्तिरथो अमीषां
साधो गृहोपकरणेषु सदा विचारः ।
एकत्र संहृतवतः स्थितपूर्वनाश -
स्तच्चापयाति पुनरप्यपरेण योगः ।। श्रीश० दि० , २-२०

उपर्युक्त काव्यांशों को अङ्गशान्तरस का अनुभाव कहा जा सकता है ।

शङ्कराचार्य के समान इनके प्रथम शिष्य सनन्दन में भी बाल्यकाल से ही सांसारिक विषयों के प्रति वैराग्य-भाव उदित हो गया था । उन्हें सूर्य के लोक , चन्द्रमा के नगर , पुरन्दर के मन्दिर , कुबेर के घर , अग्नि के नगर , वायु के गृह और ब्रह्मा का उत्तम निवास भी आकर्षित करने में समर्थ न हुए ।[1] इसी प्रकार भवसागर से पार होने के इच्छुक उन्हें केवल गुरु

- -

१- सौरं धाम सुधामरीचिनगरं पौरन्दरं मन्दिरं
कौबेरं शिबिरं हुताशनपुरं सामीरसद्मोत्तरम् ।
वैधं चाऽऽवसथं त्वदीयफणितिश्रद्धासमिद्धात्मनः
शुद्धाद्वैतविदो न दोग्धि विरतिश्रीधातुकं कौतुकम् ।। श्रीश० दि० , ६-६

का शरण ही प्रिय प्रतीत होता है तभी तो वे कहते हैं - " सुन्दर विषवल्ली के फल के समान विषय अथवा इस भूलोक की सुन्दरी स्त्रियाँ हमारे हृदय में किसी प्रकार का कौतुक उत्पन्न नहीं करती तथा रम्भा नामक अप्सरा के स्तनतट के आलिङ्गन से रमणीय , पुण्य से प्राप्य , इन्द्र का पद भी हमारे लिये नगण्य है । ब्रह्मा का रुचिर स्थान भी हमारे हृदय में किसी प्रकार का आदर नहीं प्राप्त कर सकता । हम लोग तो शङ्कराचार्य के उस भव्य और नव्य वचन के लिये लालायित हैं जो चकोरों की चोंच से विदलित किये गये , पूर्ण चन्द्रमा से गिरने वाली सुधा की धारा के समान है ।[१]

यहाँ स्पष्ट है कि सनन्दन के कथनों में गुरु विषयक'रति' प्रधानतया व्यञ्जित हो रही है परन्तु उनकी निर्वेदमूलक प्रवृत्ति के अस्तित्व को भी नकारा नहीं जा सकता है। यहाँ शङ्कराचार्य से उनकी भेंट उद्दीपन-विभाव और कथन अनुभाव हैं ।

शङ्कराचार्य के एक अन्य शिष्य हस्तामलक को भी संसार की तुच्छता का स्पष्ट भान हो गया था । इस कारण बाह्य विषयों में उनकी तनिक भी प्रवृत्ति न थी । उनके आचरण को देखकर लोगों ने उन्हें

- -

१- न भीमा रामाद्या: सुषमविषवल्लीफलसमा:
समारम्भन्ते न: किमपि कुतुकं जातु विषया: ।
न गण्यं न: पुण्यं रुचिरतररम्भाकुचतटी -
परीरम्भारम्भोज्ज्वलमपि च पौरन्दरपदम् ।।
न कञ्चिद्वैरिञ्चं पदमपि भवेदादरपदं
वचो भव्यं नव्यं यदकृत कृती शङ्करगुरु: ।
चकोरालीचञ्चूपुटदलितपूर्णेन्दुविगलत् -
सुधाधाराकारं तदिह कमीहामहि मुहु: ।।
शङ्क० दि० , ६-१० , ११ ।

पागल या मूर्ख की संज्ञा दे दी थी । परन्तु यह सब व्यवहार उनके दृढ़ वैरागी प्रवृत्ति के कारण ही था । भ्रम से भी वे अपने शरीर को आत्मा नहीं समझते थे । इसलिये वे सदैव अपने शरीर की उपेक्षा किया करते थे । यहाँ हस्तामलक का जड़ताबोधक व्यवहार[1] और आत्मतत्वबोधक[2] कथन अनुभाव और शङ्कराचार्य (संन्यासी) का सम्पर्क उद्दीपन विभाव के रूप में है । शरीर आदि का आत्मा से पृथक भान[3] होना आलम्बन-विभाव कहा जा सकता है ।

मण्डनमिश्र भी मुमुक्षु थे परन्तु उन्होंने मोक्षप्राप्ति का उपाय कर्म समझा था । इस कारण वे सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त कर्म के अनुष्ठान में लगे रहे । उनकी प्रवृत्ति संसार में लिप्त रहने की नहीं थी । दुर्भाग्यवश उनके द्वारा सेवित मार्ग मोक्षप्रदायक नहीं था । शङ्कराचार्य के सम्पर्क से उन्होंने मोक्ष के सही मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया । इस प्रकार यहाँ शङ्कराचार्य की सङ्गति और इनका आत्मज्ञानविषयक[4] उपदेश उद्दीपन-विभाव और उद्बुद्ध हुए निर्वेद भाव वाले मण्डनमिश्र का कथन अनुभाव माना जा सकता है । इस प्रसङ्ग का एक उदाहरण द्रष्टव्य है - " मैं (मण्डनमिश्र) अपने पुत्र, स्त्री, घर, धन, गृहस्थाश्रम और कर्तव्यकर्म-इन सबका परित्याग करके आपकी (शङ्कराचार्य की) शरण में आया हूँ । कृपया तत्वों का उपदेश करिये । मैं आपका किङ्कर हूँ ।[5]

- -

१- श्रीश० दि०, १२-४५, ४६, ५२, ५३

२- श्रीश० दि०, १२-५५

३- श्रीश० दि०, १२-६१

४- श्रीश० दि०, १०-७७ से ८६

५- श्रीश० दि०, ६-४३ ।

ख- शृङ्गाररस

संस्कृतसाहित्य में वर्णित प्रेमाख्यानों के चार प्रकारों का उल्लेख डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने अपने शोध-प्रबन्ध[1] में किया है। प्रथम प्रकार का प्रेम विवाह के पश्चात् उत्पन्न होता है। " श्रीशङ्करदिग्विजय " में इस प्रकार के प्रेमाख्यान का दर्शन " सती " और " शिवगुरु " के प्रेमप्रसङ्ग में देखा जा सकता है। दूसरे प्रकार का प्रेम की आकस्मिकमिलन से प्रारम्भ होता और प्राय: विवाह-पर्यन्त तक ही चलता है। इस प्रकार का प्रेमाख्यान विवेच्य ग्रन्थ में अनुपलब्ध है। तीसरे प्रकार के प्रेमाख्यान में वास्तविक प्रेम का वर्णन न होकर राजाओं के अन्त:पुर के भोगविलासों का चित्रण रहता है। अत: इस प्रकार का प्रेमप्रसङ्ग " श्रीशङ्करदिग्विजय " ग्रन्थ में अमरुक-शरीरधारी राजारूप शङ्कराचार्य के प्रेमप्रसङ्ग में देखा जा सकता है। चौथे प्रकार का प्रेम वह है जो गुण-श्रवण , चित्र-दर्शन , स्वप्न-दर्शन आदि चेष्टाओं से उत्पन्न होता है। उभयभारती और मण्डनमिश्र का प्रेमप्रसङ्ग इसी श्रेणी में गिना जायेगा। इस प्रकार " श्रीशङ्करदिग्विजय " में द्वितिय प्रकार के प्रेमप्रसङ्ग को छोड़कर अन्य तीनों प्रेमप्रसङ्गों की अल्पाधिक झलक देखी जा सकती है। आगे इनका क्रमश: विवरण प्रस्तुत किया गया है।

सती और शिवगुरु का प्रेम विवाह के पश्चात् उत्पन्न हुआ था जिसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है - सुन्दर वस्त्रों वाले , उज्ज्वल दन्तपङ्क्तियों की शोभा और खिले हुए कमल की रमणीयता के समान रमणीय मुखों वाले वे दोनों लज्जा एवं हास से व्याप्त मुखों

- -

१- नैषध परिशीलन , पृ० सं० १६५-१६६ ।

के दर्शन से अत्यधिक प्रसन्न हुए । उन दोनों दम्पत्तियों ने शिव और पार्वती के समान प्रतिदिन अनुपम सुख प्राप्त किया ।[1]

यहाँ " रति " स्थायी-भाव , सती और शिवगुरु आलम्बनविभाव , सुन्दरवस्त्र आदि उद्दीपनविभाव और मुखकमल का वीक्षण अनुभाव रूप है परन्तु " व्रीडा " , " हर्ष " आदि सञ्चारी-भाव शब्दत: उक्त हैं ।

मण्डनमिश्र और उभयभारती के प्रेमवर्णन में विप्रलम्भशृङ्गार पूर्वपक्ष के रूप में आया है । आचार्यों ने विप्रलम्भशृङ्गार के चार या पाँच प्रकार बताये हैं :

स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ।

सा० द० , ३-१८७

अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविध: ।

काव्यप्रकाश , पृ० सं० १२३

१ पूर्वराग या अभिलाष २ मान अथवा ईर्ष्या ३ प्रवास ४ करुण या शाप ५ विरह ।

- -

१- तौ दम्पती सुवसनौ शुभदन्तपङ्क्ती
सम्भूषितौ विकसिताम्बुजरम्यवक्त्रौ ।
सव्रीडहासमुखवीक्षणसम्प्रहृष्टौ
देवाविवाऽऽप्नुतुरनुत्तमशर्म नित्यम् ॥ श्रीश० वि० , २-३५

मण्डन मिश्र और उभय भारती का विप्रलम्भ प्रथम (पूर्वराग) कोटि का है। विभिन्न आचार्यों ने पूर्वराग की अनेक दशाओं की सम्भावना को व्यक्त किया है, इन्हें ही कामदशा की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है। आचार्य विश्वनाथ ने इन कामदशाओं की संख्या कुल दस मानी है। ये हैं - अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति।[1]

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में अभिलाष, चिन्ता, और व्याधि केवल तीन कामदशाओं का सङ्केत प्राप्त होता है न कि दसों दशाओं का।

आचार्यों ने नायक में नायिका का प्रेम पहले जागृत करवाने का विधान किया है। विवेच्य ग्रन्थ में भी मण्डनमिश्र के गुणों के श्रवण से आकृष्ट हुई उभयभारती के राग को मण्डनमिश्र के राग के पूर्व उद्घाटित किया गया है। तत्पश्चात् मण्डनमिश्र उभयभारती की ओर आकृष्ट हुए और दोनों में एक दूसरे को देखने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई।[2] यहाँ पर 'अभिलाष' नामक अवस्था स्पष्ट है।

मनोविज्ञानिक प्रयोग से यह सिद्ध हो चुका है कि किसी वस्तु का निरन्तर चिन्तन स्वप्न में उसके साक्षात्कार का कारण बन जाता

- -

१- अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ।।

सा० द०, ३-१९०

२- सा विश्वरूपं गुणिनं गुणाज्ञा मनोभिरामं द्विजपुङ्गवेभ्यः ।
शुश्राव तां चापि स विश्वरूपस्तस्माद्द्वयोर्दर्शनलालसाऽभूत् ।।

श्रीश० दि०, ३-१७

है। मण्डनमिश्र और उभयभारती दोनों दिन में एक दूसरे का चिन्तन करते थे और रात्रि में स्वप्न में एक दूसरे का दर्शन करते और वार्तालाप का आनन्द भी लेते थे।[1] यह अवस्था " चिन्ता " नामक काम की दशा होगी।

इष्ट वस्तु की अप्राप्ति प्राणी को उचित आहार-विहार से च्युत कर देती है। इस कारण उभयभारती और मण्डनमिश्र दोनों का स्वास्थ्य भी परस्पर मिलन के अभाव में गिरने लगा था। उन दोनों के मुख की शोभा दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगी थी।[2] इस अवस्था के वर्णन को " व्याधि " नामक काम की दशा कहा जा सकता है।

विश्वरूप (मण्डनमिश्र) के पिता द्वारा प्रेषित ब्राह्मणों के विवाह विषयक सन्देश को सुनकर उभयभारती को हर्ष के कारण रोमाञ्च हो आया। इन रोमाञ्चों ने उन्हें स्तम्भवत् कर दिया जिसके कारण वे अपने पिता के प्रश्नों का उत्तर न दे सकीं।[3] यहाँ " स्तम्भ " नामक सात्विक-भाव व्यङ्ग्य हो रहा है।

- -

१- अन्योन्यसन्दर्शनलालसौ तौ चिन्ताप्रकर्षादधिगम्य निद्राम् ।
अवाप्य सन्दर्शनभाषणानि पुनः प्रबुद्धौ विरहाग्नितप्तौ ।।
श्रीश० दि० , ३-१८

२- दिदृक्षमाणावपि नेक्षमाणावन्योन्यवार्ताकुलमानसौ तौ ।
यथोचिताहारविहारहीनौ तनौ तनुत्वं स्मरणादुपेतौ ।।
श्रीश० दि० , ३-१६

३- श्रीविश्वरूपगुरुणा प्रहितौ द्विजातौ
कन्यार्थिनौ शृणुत किं करवाव वाच्यम् ।
तस्याः प्रमोदनिचयो न ममौ शरीरे
रोमाञ्चपूरमिषतो बहिरुज्जगाम ।। श्रीश० दि० , ३-४२

तृतीय प्रकार का प्रेमवर्णन अमरुक राजा और उनकी रानियों के हास-परिहास में प्राप्त होता है। आचार्यों ने बाह्यरतोपचार या सम्भोग की आठ या दस अवस्थाओं का वर्णन किया है जिसमें से कुछ ही दशाओं का चित्रण 'श्रीशङ्करदिग्विजय' में हुआ है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि तृतीय प्रकार का प्रेम वास्तविक न होकर अन्तःपुर का भोग विलास मात्र होता है। शङ्कराचार्य ने भी अमरुकराजा के अन्तःपुर की रानियों से वास्तविक प्रेम न करके, प्रेम का एक अभिनय किया था क्योंकि इन्हें मात्र कामकला का ज्ञान प्राप्त करना था। वास्तविक प्रेम तो एक ही व्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है परन्तु अन्तःपुर की सभी रानियों की ओर उन्मुख प्रेम तो केवल प्रेमाभास ही था। इस प्रसङ्ग में व्यञ्जित शृङ्गाररस के अनुभाव आदि इस प्रकार हैं : स्फटिक शिलानिर्मित, कौमुदी के समान उज्ज्वल और आनन्ददायक तकियों से युक्त भवन में श्रेष्ठ युवतियों से जुआ खेलता हुआ राजा (अमरुकशरीरधारी शङ्कराचार्य) परस्पर विजयी होने पर अधर-दशन, क्रोड-ग्रहण, बड़े-बड़े कमलों से ताडन और विपरीत रतिक्रियाओं का दाँव लगाता था।[1]

यहाँ राजा और श्रेष्ठ युवतियाँ आलम्बन-विभाव, स्फटिकशिला आदि से युक्त भवन उद्दीपन-विभाव और अधर-दशन आदि क्रियाओं के वर्णन अनुभाव रूप हैं।

१- स्फटिकफलके ज्योत्स्नाशुभ्रे मनोज्ञशिरोगृहे
वरयुवतिभिर्दीव्यन्नक्षैर्दुरोदरकेलिषु ।
अधरदशनं कण्ठाश्लेषं महोत्पलताडनं
रतिविनिमयं राजाऽकार्षीद् ग्लहं विजये मिथः ॥
श्रीश० दि०, १०-१२

एक अन्य उदाहरण भी इसी प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है -

स्त्रियों के अमृततुल्य होठों के स्पर्श के कारण रुचिकर, सुगन्धित श्वासों के सम्पर्क के कारण कमनीय, चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण चमकीले, कान्ताओं के हाथों से प्रस्तुत किये जाने के कारण अत्यन्त प्रिय और मदशाली मदिरा को सोने के प्यालों से स्वयं पी-पी कर वह राजा प्रियाओं को भी यथेष्ट मात्रा में पिलाता था। मद्य से मत्त होने के कारण अस्पष्ट शब्दोच्चारण वाले किन्तु मनोहर बोलने वाले, ईषद्, स्वेदकणों वाले, अत्यन्त आनन्द देने वाले, काम को प्रकट करने वाले, लज्जावश ईषद् निमीलित नेत्रों वाले और दोनों ओर लहराते हुए अलकों वाले कान्ता के मुख को पीकर (भली-भाँति दर्शन आदि क्रियाएँ करके) वह राजा धन्य हुआ।[१]

ग- करुणारस

ऋषियों के मुख से पुत्र की अल्पायु-विषयक भविष्यवाणी सुनते ही उसके भावी वियोग का विचार शङ्कराचार्य की माँ को अङ्कुश

- -

१- अधरजसुधाश्लेषाद्रुच्यं सुगन्धिमुखानिल -
व्यतिकरवशात्कामं कान्ताकरात्मतिप्रियम् ।
मधु मदकरं पायं पायं प्रियाः समपाययत् -
कनकचषकैरिन्दुच्छायापरिस्फुरदमावरात् ।।

मधुमदकलं मन्दस्विन्नं मनोहरभाषणं
निभृतपुलकं सीत्काराढ्यं सरोरुहसौरभम् ।
दरमुकुलिताक्षीलज्जं विसृत्वरमन्मथं
प्रचरदलकं कान्तावक्त्रं निपीय कृती नृपः ।।

श्रीशं० दि० , १०-१३ , १४

के कारण पीड़ित हथिनी के समान , ग्रीष्मकाल में सुखायी गयी नदी के समान अत्यन्त कृश तथा हवा के झोंकों से कम्पित की गयी कदली के समान बना देती है।[1] शङ्करकराचार्य की माँ की इस अवस्था के वर्णन में उनका हृदयस्थ शोकभाव ही व्यञ्जित हो रहा है। शङ्करकराचार्य की यह उक्ति - " मैं चतुर्थ आश्रम (संन्यास) को ग्रहण कर भवबन्धन से मुक्ति पाने के लिये उद्योग करूँगा "[2] - इनकी माँ के शोकभाव को और उद्दीप्त कर देती है। उनका कण्ठ आँसुओं से रुँध जाता है और गद्गद वचनों से उनका यह कहना - " हे पुत्र इस विचार को त्याग दो , मेरे वचनों को सुनो , गृहस्थ बनकर पुत्र प्राप्त करो। यज्ञ करो तब संन्यासी बनना , सज्जनों का यही क्रम है। तुम मेरी इकलौती सन्तान हो। तुम्हारे बिना मैं अबला कैसे जी सकूँगी ? हे पुत्र। मेरी मृत्यु के अनन्तर श्राद्धादिक कर्म कौन करेगा ? तुम सकल शास्त्र के वेत्ता हो। इस वृद्धा को छोड़कर तुम कैसे जाओगे ? क्यों तुम्हारा हृदय द्रवित नहीं होता है ? क्यों तुम्हारे हृदय में दया का सञ्चार नहीं होता है ? तुम्हारे बिना मैं कैसे जी सकूँगी ?"[3] ------------------>

- -

१- श्रीश० दि० , ५-५०

२- श्रीश० दि० , ५-५४

३- त्यज बुद्धिमिमां शृणुष्व मे गृहमेधी भव पुत्रमाप्नुहि ।
   यज च क्रतुभिस्ततो यतिर्भवितास्यङ्ग सतामयं क्रमः ॥
   कथमेकतनूभवा त्वया रहिता जीवितुमुत्सहेऽबला ।
   तनयैव शुचीर्ध्वदैहिकं प्रमृतायां मयि कः करिष्यति ॥
   त्वमशेषविदप्यपास्य मां जरठां वत्स कथं गमिष्यसि ।
   द्रवते हृदयं कथं न ते कथंकारमुपैति वा दयाम् ॥

श्रीश० दि० , ५-५६ , ५७, ५८ ।

------------निश्चय ही शोक-भाव के कारण ही सम्भव है । यहाँ शङ्कराचार्य आलम्बन , शङ्कराचार्य की संन्यासग्रहण-विषयक उक्ति उद्दीपन और माँ का प्रलाप अनुभाव है । " अबला " " वृद्धा " आदि पदों से " ग्लानि " नामक सञ्चारीभाव व्यञ्जित हो रहा है ।

मकर द्वारा गृहीत चरण वाले शङ्कराचार्य के रोने की आवाज सुनकर और पुत्र-मरण की आशङ्का से विरह व्यथित उनकी माँ के प्रलापरूप अनुभाव से शोकभाव की सुन्दर व्यञ्जना द्रष्टव्य है : " मृत्यु के पूर्व मेरे पति मेरे रक्षक थे और उनके बाद यह पुत्र । यदि यह पुत्र भी मकर के अधीन होकर मर जायेगा तो हे भगवन् । पति के पूर्व ही मेरी मृत्यु क्यों नहीं हो गयी ?[1] यहाँ शङ्कराचार्य आलम्बन विभाव और शङ्कराचार्य के मकर के अधीन होकर मरने का विचार उद्दीपन विभाव , " पति के मृत्यु के पूर्व मेरी मृत्यु क्यों नहीं हो गयी ? " इस कथन में " निर्वेद " सञ्चारी भाव व्यञ्जित हुआ है ।

घ- रौद्ररस

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में यत्र-तत्र क्रोध-भाव की भी व्यञ्जना हुई है । गुरु (शङ्कराचार्य) के वध के इच्छुक त्रिशूल उठाये हुए

- -

१- मम मृतेः प्रथमं शरणं धवस्तदनु मे शरणं तनयोऽभवत् ।।
स च मरिष्यति नक्रवशं गतः किम न मेऽजनि पुरा मृतिः ।
इति शुशोच जनन्यपि ---------- ।।
श्रीश० दि० ५-६३ , ६४

कापालिक को देखकर पद्मपाद के क्रोध की सीमा न रही । उनका बिना विचार-विमर्श के तुरन्त उस पर झपटपड़ना , अपनी सटा (केशराशि) से मेघों का विदारण करना भयानक गर्जन से प्राणियों को दहलाना तथा वेग के कारण भुवनों को मूर्छित कर देना और देवों में यह व्याकुलता उत्पन्न करना कि " यह कौन है "? [1] ये सभी क्रियाएँ उनके तीव्र क्रोध-भाव को व्यञ्जित कर रही हैं । यहाँ कापालिक आलम्बन , " कापालिक की दुश्चेष्टाओं का दर्शन " उद्दीपन और पद्मपाद की उपर्युक्त सभी क्रियाएँ अनुभाव के रूप में व्यञ्जित हो रही हैं । रौद्र-रस के साथ-साथ " देवों में व्याकुलता उत्पन्न होने " के वर्णन में भयानकरस की भी चर्वणा हो रही है जो रौद्ररस को पुष्ट और हृदयावर्जक बना रही है ।

- -

१- त्रिशूलमुद्यम्य निहन्तुकामं गुरुं यतात्मा समुदैक्षतान्तः ।
स्थितश्चुकोप ज्वलिताग्निकल्पः स पद्मपादः स्वगुरोर्हितैषी ।।
स्मरन्नृसिंहं स्मरदातिहारि प्रह्लादवश्यं परमं महस्तत् ।
स मन्त्रसिद्धो नृहरेर्नृसिंहो भूत्वा ददर्शोग्रदुरीहचेष्टाम् ।।
स तत्क्षणाल्लुब्धनिजस्वभावः प्रवृद्धरुड्विस्मृतमर्त्यभावः ।
आविष्कृतात्युग्रनृसिंहभावः समुत्पपातातुलितप्रभावः ।।
सटाच्छटास्फोटितमेघषण्डस्तीव्रारवत्रासितभूतषण्डः ।
वेगप्रसम्मूर्छितलोकषण्डः किमेतदित्याकुलदेवषण्डः ।।
क्षुभ्यत्समुद्रं समुद्रवरौद्रं रटन्निशाटं स्फुटदद्रिकूटम् ।
ज्वलद्दिशान्तं प्रचलद्धरान्तं प्रभ्रश्यदर्कं दलदन्तरिक्षम् ।।

श्रीश० दि० ११-३७ , ३८ , ३९ , ४० , ४१

पिता के श्राद्धकर्म के अवसर पर संन्यासी अत: निषिद्ध प्रवेश वाले शङ्कराचार्य का दर्शन मण्डनमिश्र के क्रोध को चरम सीमा पर पहुँचा देता है । वार्तालाप के प्रसङ्ग में वे शङ्कराचार्य के लिये कभी सुरापायी[1], कभी पागल[2], कभी दुर्बुद्धि[3] और कभी मूर्ख[4] आदि दुष्पदों का भी नि:सङ्कोच उच्चारण कर देते हैं ।

यहाँ शङ्कराचार्य आलम्बन-विभाव, शङ्कराचार्य का वक्रोक्तिपरक कथन उद्दीपन-विभाव और परम विद्वान शङ्कराचार्य के प्रति मण्डनमिश्र के द्वारा मूर्ख आदि दुष्पदों का उच्चारण करना अनुभाव के रूप में हैं । शङ्कराचार्य के लिये " मूर्ख " पद का प्रयोग मण्डनमिश्र के गर्वोत्कर्ष को ध्वनित कर रहा है । इससे मण्डनमिश्र की विवेकहीनता ही द्योतित हो रही है । प्रतीयमान विवेकहीनता मण्डनमिश्र के क्रोधाधिक्य को ही पुष्ट करती है ।

शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ के लिये आये हुए कुवलय का राजा सुधन्वा ने घोर अपमान किया था । अपमानित कुवलय के वर्णन में अनुभावों

- -

१- अहो पीता किमु सुरा ———————— ।। श्रीश० दि०, ८-१८

२- मत्तो जात: कलञ्जाशी विपरीतानि भाषते । श्रीश० दि०, ८-१९

३- कन्थां वहसि दुर्बुद्धे । गर्दभेनापि दुर्वहाम् ।
शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति ।। श्रीश० दि०, ८-२०

४- स्थितोऽसि योषितां गर्भे ताभिरेव विवर्धित: ।
अहो कृतघ्नता मूर्ख कथं ता एव निन्दसि ।। श्रीश० दि०, ८-२४
कर्मकाले न सम्भाष्य अहं मूर्खेण सम्प्रति ।
अहो प्रकटितं ज्ञानं यतिभङ्गेन भाषिणा ।। श्रीश० दि०, ८-२८ ।

के माध्यम से रौद्ररस की सुन्दर व्यञ्जना हुई है - ' उसकी भौंहें तन गयीं , होंठ काँपने लगे , नेत्र लाल हो गये । उसने श्वेत परशु उठाकर विपक्षियों के शिर को छिन्न-भिन्न कर डालने की प्रतिज्ञा की ।[१] '
यहाँ राजा सुधन्वा आलम्बन और सुधन्वाकृत अपमान (जो प्रसङ्ग प्राप्त है) उद्दीपन , भौंहों का तनना , होंठों का काँपना , नेत्रों का लाल होना और प्रतिज्ञा करना अनुभाव और प्रतिज्ञा में व्यञ्जित उत्साह के द्वारा रौद्ररस का पोषण होने कारण ' उत्साह ' व्यभिचारी-भाव व्यञ्जित हो रहा है ।

इसके अतिरिक्त दुर्वासा मुनि और उभयभारती के वार्तालाप के प्रसङ्ग में[२] तथा वेदों की प्रतिष्ठा को सिद्ध करने के अवसर पर राजा सुधन्वा के वर्णन[३] में भी रौद्ररस का दर्शन होता है ।

- -

१- भ्रुकुटीकुटिलाननश्च लोष्ठः सितमुधम्य परश्वधं स मुखैः
भवतां न शिरांसि चेद्विभिन्द्यां क्रकचो नाहमिति ब्रुवन्नयासीत् ।।
श्रीश० दि० , १५-१६

२- पुरा किलाध्येषत धातुरन्तिके सर्वेऽकल्पा मुनयो निजं निजम् ।
वेदं तथा दुर्वसनोऽतिकोपनो वेदानधीयन् क्वचिदस्खलत् स्वरे ।।
तदा जहासेन्दुमुखी सरस्वती यदङ्गमणीदृभवशब्दसन्ततिः ।
चुकोप तस्य दर्शनानुकारिणा निरीक्षताक्ष्णा मुनिरुग्रशासनः ।।
शशाप तां दुर्विनयेऽवनीतले जायस्व मर्त्येष्वभिर्भव सरस्वती ।
प्रसादयामास निसर्गकोपनं तत्पादमूलेपतिता विषादिनी ।।
श्रीश० दि० , ३-१० , ११, १२

३- दुर्विधैरन्यथा नीते प्रत्यक्षेऽर्थेऽपि पार्थिवः ।
भ्रुकुटीभीकरमुखः सन्धामुग्रतरां व्यधात् ।।
पृच्छामि भवतः किञ्चिद्वक्तुं न प्रभवन्ति ये ।
यन्त्रोपलेषु सर्वांस्तान्घातयिष्याम्यसंशयम् ।।
श्रीश० दि० , १-८१ , ८२ ।

ड०- वीररस

आचार्यों ने दानवीर , दयावीर , धर्मवीर और युद्धवीर - इन प्रकारों में वीररस की प्रतीति की सम्भावना व्यक्त की है। 'श्रीशङ्करदिग्विजय' में चारों प्रकार के वीर रसों की स्थिति देखी जा सकती है।

क्रकच कापालिक द्वारा शङ्कराचार्य से इनके शिर की याचना किये जाने पर इनके उत्तर में दानवीरता की स्पष्ट झलक मिलती है - 'मैं तुम्हारे वचन में असूया नहीं करता (किसी प्रकार का दोष नहीं देखता)। मैं अपना शिर आनन्द के साथ दे रहा हूँ। इस लोक में कौन ऐसा विद्वान है जो नानाप्रकार के अपायों को उत्पन्न करने वाले इस शरीर को जानकर भी उसे याचकों को नहीं दे देता।'[1]

यहाँ पर याचक कापालिक आलम्बन , कापालिक की शङ्कराचार्य के प्रति कही गयी उक्तियाँ[2] उद्दीपन , शङ्कराचार्य द्वारा शिर का समर्पण और उस समर्पण में तुच्छता का भान अनुभाव , 'प्रीत्या' पद से 'हर्ष' और 'यह शरीर अवश्य देय है' इस निर्णय में 'मति' सञ्चारी-भाव व्यक्त हो रहा है। 'अस्मदीयम्' शब्द से शङ्कराचार्यनिष्ठ गर्व भी द्योतित हो रहा है।

१- नैवाभ्यसूयामि वचस्त्वदीयं प्रीत्या प्रयच्छामि शिरोऽस्मदीयम् ।
को वाऽधियात्प्राज्ञतमो नु कार्यं बानन्न कुर्यादिह बह्वपायम् ॥
श्रीश० दि० , ११-२५

२- श्रीश० दि० , श्लोक संख्या ११-१५ से २४ ।

शङ्करााचार्य के बाल्यकाल में जब निर्धन ब्राह्मणी इनके सम्पर्क में आयी तब इनके दयाविषयक उत्साह का परिचय हमें प्राप्त होता है। निर्धन ब्राह्मणी की दीन-हीन बातें इनके चित्त को दया-द्रवित कर देती है। ये स्वयं उसके दुःखापनयन में असमर्थ होने के कारण लक्ष्मी की शरण में गये और उसके कष्टों के निवारण हेतु कोमलकान्तपदावली से लक्ष्मी को स्तुति की। " हे माता इन्दिरे। यदि मेरे ऊपर आपको दया करनी है तो मुझे आज दिये गये आँवले के फल का पारितोषिक इन्हें दीजिए।[1] " इस प्रार्थना का मूल स्रोत दया-विषयक उत्साह ही हो सकता है।

राजा सुधन्वा और क्रकच कापालिक के मध्य युद्ध के वर्णन में राजा सुधन्वानिष्ठ युद्धवीररस की सुन्दर व्यञ्जना होती है।[2]

आचार्य जगन्नाथ ने वीररस के चार भेदों के अतिरिक्त कई अन्य भेद भी वर्णित किये हैं। जिनमें पाण्डित्यवीर भी एक भेद है। परन्तु अन्य आचार्यों ने इसमें वाद-विवाद विषयक द्वन्द्व होने के कारण युद्धवीर में ही इसका अन्तर्भाव कर दिया है। " श्रीशङ्करदिग्विजय " में जय-पराजय

- -

१- इति लक्षनं स शुश्रुवान्निजगादाम्ब मयोदमर्पितम् ।
फलमद्य ददस्व तत्फलं दयनीयो यदि तेऽहमिन्दिरे ।। श्रीश० दि०, ४-२६

२- रुधितानि कपालिनां कुलानि प्रलयाम्भोधरभीकरारवाणि ।
अनुना प्रहितान्यतिप्रसंख्यान्यभियातानि समुद्यतायुधानि ।।

अथ विप्रकुलं भयाकुलं तदुदीक्ष्यमालोक्य महारथः सुधन्वा ।
कुपितः कवची रथी निषङ्गी धनुरादाय ययौ शरान् विमुञ्चन् ।।

- - - - - - - - -

नृपतिश्च शरैः सुवर्णपुङ्खैर्विनिकृत्तैः प्रतिपक्षवक्त्रपद्मैः ।
रणरङ्गभुवं सहस्रसंख्यैः समलंकृत्य मुदाऽगमन्मुनीन्द्रम् ।।

श्रीश० दि०, १५-१७, १८, २२

के लिये ज्ञान के प्रति उत्साह व्यञ्जित होने के कारण पाण्डित्यवीर या युद्धवीर का स्थल प्राप्त होता है ।

शङ्कराचार्य द्वारा शास्त्रार्थ के लिये आमन्त्रित मण्डनमिश्र का यह कथन मैं यमराज के भी विनाशक ईश्वर का खण्डन करने वाला हूँ । ------------------- । मेरा पाण्डित्य दुर्जनों के गर्व को उसी प्रकार चूर-चूर कर देता है जिस प्रकार जङ्गल को कठोर कुठार की धारा नष्ट-भ्रष्ट कर देती है[1] - उनके पाण्डित्य विषयक उत्साह की व्यञ्जना करा रहा है । मण्डनमिश्र तो शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ करना बाँये हाथ का खेल समझते थे तभी तो वे शङ्कराचार्य के इस कथन - " यदि आप शास्त्रार्थ करेंगे तभी मैं भिक्षा ग्रहण करूँगा " का उत्तर अत्यन्त सहज भाव से इस प्रकार देते हैं - " आपका यह कथन बहुत साधारण है । मैं तो बहुत दिनों से शास्त्रार्थ का इच्छुक हूँ परन्तु मुझे कोई वादी ही नहीं मिलता था ।"[2]. यहाँ भी " गर्व " सञ्चारी-भाव व्यञ्जित हो रहा है ।

- -

१- अयमहं यमहन्तुरपि स्वयं शमयिता मयि तावक सद्गिराम् ।
सुकलहं कलहंसकलाभृतां दिश सुधांशुसुधामलसज्जनौ ॥
अपि तु दुर्मदवन्यककाननप्रतिकठोरकुठारधुरन्धरा ।
न पटुता मम ते श्रवणान्तिकं ननु गताऽनुगताखिलदर्शना ॥
श्रीश० दि० , ८-४३ , ४४

२- अत्यल्पमेतद् भवतेरितं मुने भैक्ष्यं प्रभुर्वे यदि वादवित्सुता ।
गवेषमाणोऽहं श्रुतवादवार्तया चिरेप्सितं वदिता न कश्चन ॥
श्रीश० दि० , ८-४५

इसी प्रकार शङ्कराचार्य के प्रतिपक्षी नीलकण्ठ और भट्टभास्कर के कथन से भी पाण्डित्यवीर की व्यञ्जना होती है - नीलकण्ठ की शङ्कराचार्य के प्रति गर्वोक्ति - " यह समुद्र को सुखा सकते हैं , सूर्य को आकाश से गिरा सकते हैं , वस्त्र के समान आकाश को वेष्टित कर सकते हैं परन्तु ये मुझे नहीं जीत सकते । मैं परपक्षरूपी अन्धकार के भेदन करने में सूर्य के समान प्रतापशाली अपने तर्कों से उनके मत को अभी छिन्न-भिन्न कर दूँगा । यह कहते हुए वे क्रुद्ध होकर बाहर आये ।"[1]

यहाँ शङ्कराचार्य आलम्बन , शिष्य द्वारा शङ्कराचार्य के पाण्डित्य की प्रशंसा उद्दीपन , उसके द्वारा शङ्कराचार्य के तर्कों को क्षण भर में छिन्न-भिन्न कर देने की प्रतिज्ञा अनुभाव है । " मुझे नहीं जीत सकते " नीलकण्ठ के इस कथन से " मति " और " गर्व " सञ्चारीभाव की भी व्यञ्जना हो रही है ।

भट्टभास्कर की शङ्कराचार्य के शिष्य के प्रति उक्ति - " निश्चय ही तुम्हारे गुरु ने मेरी कीर्ति नहीं सुनी है । मैंने दुर्वादियों के तर्कों का खण्डन कर दिया है । दूसरों की कीर्तिरूपी बिस (मृणाल) के अङ्कुर को उखाड़कर मैंने खा डाला है । विद्वानों के सिर पर मैंने अपना पैर रख दिया है । सूक्तियाँ जब मेरे मुँह से निकलती हैं तब कणाद की कल्पना क्षुद्र मालूम

१- सरितां पतिमेष शोषयेद्वा सवितारं वियतः प्रपातयेद्वा ।
पटवत् सुरवर्त्म वेष्टयेद्वा विजये नैव तथापि मे समर्थः ।।
परपक्षतमिस्रखण्डनैकमिम तर्कैः सुधा विशीर्यमाणम् ।
अधुनैव गतं निजं स पश्यत्विति जल्पन्निरगादनल्पकोपः ।।
श्रीश० दि० १५-३६ , ३७ ।

पड़ती है और कपिल का प्रलाप दूर भाग जाता है । जब प्राचीन आचार्यों की यह दशा है, तब आजकल के विद्वानों की गणना ही क्या है ।[१]

यहाँ भी शङ्कराचार्य आलम्बन, पद्मपाद द्वारा शङ्कराचार्य के यश एवं ज्ञान की प्रशंसा उद्दीपन विभाव है[२], उनकी (भट्टभास्कर की) गर्वोक्तियाँ अनुभाव हैं तथा मति, गर्व आदि सञ्चारी भाव के रूप में व्यञ्जित हो रहे हैं । स्थान-स्थान पर शङ्कराचार्य के द्वारा देवी-देवताओं की स्तुति और परोपकार आदि के वर्णन के अवसर पर शङ्कराचार्य निष्ठ धर्मवीर रस का स्थल देखा जा सकता है ।

च- <u>भयानकरस</u>

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में भयानकरस की चर्वणा शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ करने के इच्छुक प्रतिपक्षियों के दशावर्णन में होती है - 'शङ्कराचार्य से लड़ने के लिये बुद्ध उद्यत हुए परन्तु क्षण-भर युद्ध भूमि में खड़े होकर वहाँ से भाग गये । कणाद किसी कोने में जाकर छिप गये । गौतम घने अन्धकार में जाकर लीन हो गये । कपिल हार कर भाग गये । पातञ्जल मतानुयायियों ने पराजित होकर हाथ जोड़ लिये ।[३]' यहाँ अनुभावों के बल पर भयानकरस की प्रतीति हो रही है ।

- -

१- धुवमेष न शुश्रुवानुदन्तं मम दुर्वादिवचस्तमोनुदन्तम् ।
परकीर्तिबिसाङ्कुरानदन्तं विदुषां मूर्धसु नामरूपदं तम् ।।
मम वल्गति सूक्तिगुम्फवृन्दे कणभुग्जल्पितमल्पतामुपैति ।
कपिलस्य पलायते प्रलापः सुधियां कैव कथाऽधुनातनानाम् ।।
श्रीश० दि०, १५-८६, ८७

२- श्रीश० दि०, १५-८२ से ८४

३- श्रीश० दि०, १५-१६६ ।

ब्रह्माण्ड का विदारण करने वाले क्रोधावेगजन्य अट्टहास को सुनकर और कापालिक पर प्रहार करने की मुद्रा में नरसिंह के भयङ्कर रूप एवं दन्तपेश को देखकर ब्रह्मा आदि देवताओं में भी कम्प[१] उत्पन्न हो आया । वे भयवश नरसिंह की स्तुति करने लगे - ' हे महात्मन् । आप अपने क्रोध को रोक लीजिए । ऐसा न हो कि अकस्मात् प्रलय हो जाय । भय से शरीर को कँपाते हुए ब्रह्मा आदि देवता नरसिंह की हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे थे ' ।[२] यहाँ नरसिंह आलम्बन , नरसिंह का अट्टहास आदि उद्दीपन , ब्रह्मा आदि के द्वारा नरसिंह की स्तुति अनुभाव और कम्प सात्त्विक-भाव हैं ।

छ- बीभत्सरस

क्रकच कापालिक के वर्णन में बीभत्स-रस की अभिव्यञ्जना हुई है - श्मशान का भस्म उस (कापालिक) ने अपने शरीर पर मल रखा था । उसके एक हाथ में मनुष्य की खोपड़ी विद्यमान थी और दूसरे हाथ में वह त्रिशूल धारण किये हुए था । ऐसी तरह के वेश वाले अनेक लोगों से अनुसृत गर्व से उन्मत्त वह शङ्कराचार्य के सामने आया ।[३] वह कापालिक भैरव तन्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था । ध्यान करने के अनन्तर मदिरा से भरी हुई

१- श्रीश० दि० , ११-५४ से ५७

२- मा भूदकाण्डे प्रलयो महात्मन् कोपं नियच्छेति गृणद्भिरारात् ।
सहाध्वरैः प्राञ्जलिभिः सगात्रकम्पैर्विरिञ्च्यादिभिरर्च्यमानम् ।।
श्रीश० दि० , ११-५८

३- पितृकाननभस्मनाऽनुलिप्तः करसंप्राप्तकरोटिरात्तशूलः ।
सहितो बहुभिः स्वतुल्यवेषैः स इति स्माऽऽह महामनाः सगर्वः ।।
श्रीश० दि० , १५-१२

खोपड़ी की आधी मदिरा को वह पी गया और आधी मदिरा को बचा लिया ।[1]

ये सभी वर्णन पाठकों के मन में " जुगुप्सा " भाव को जागृत करने वाले हैं ।

ज- अद्भुतरस

शङ्कराचार्य के अलौकिक और अपरिचित रूप को देखकर लोगों के मन में इतना कौतूहल होता है कि वे इन्हें " जगत् का अपूर्व गुरु " कह देते हैं । चतुरानन होते हुए भी प्रपञ्च से रहित , पुरुषोत्तम होते हुए भी संसार के भोग-विलास से रहित तथा कामदेव को जीतने पर भी शङ्कर भगवान के समान विरूप (नेत्र)न देखकर उन्हें ब्रह्मा , विष्णु और महेश तीनों देवताओं से श्रेष्ठ सिद्ध करने में दर्शकों[2] का विस्मयमूलक हर्ष ही निहित है । यहाँ शङ्कराचार्य आलम्बन-विभाव , इनका अलौकिक रूप और व्यवहार उद्दीपन-विभाव , " जयति " पद से " हर्ष " सञ्चारी-भाव की व्यञ्जना हो रही है ।

- -

१- सुरया परिपूरितं कपालं झटिति घ्यायति भैरवागमश्च ।
स निपीय तदर्धमर्धमस्या निदधार स्मरति स्म भैरवं च ।।
श्रीश० दि० , १५-७५

२- असत्प्रपञ्चश्चतुराननोऽपि सन्नभोगयोगी पुरुषोत्तमोऽपि सन् ।
अनङ्गजिताऽप्यविरूपदर्शनो जयत्यपूर्वो जगदग्र्यगुरुः ।।
श्रीश० दि० ४-१०८

इसी प्रकार चाण्डालवेशधारी विश्वनाथ भगवान से परमात्मतत्त्व के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर शङ्कराचार्य के आश्चर्य और आनन्द का ठिकाना न रहा और वे हर्षित होकर यह कह उठते हैं - " अहो अद्वैत तत्त्व के प्रतिपादक शास्त्र धन्य हैं परन्तु शास्त्र से भी क्या यदि गुरुकृपा न हो । गुरु की कृपा भी व्यर्थ है यदि वह शिष्य में बोध न उत्पन्न करे । वह आलम्बन परमतत्त्व भी क्या यदि उसमें अपनत्व बुद्धि उत्पन्न न हो । इस संसार में जो आश्चर्य-बुद्धि का पर्यवसान है उस आत्मस्वरूप तुमको नमस्कार है "।[1] यहाँ निश्चय ही " विस्मय " हर्ष की प्रेरणा है ।

" श्रुतिरूपी गौ (वाणी) कुदृष्टिरूपी अन्धकार में चमकने वाले दुष्टमतरूपी पङ्क में डूबी हुई थी । प्राचीन काल में विद्वानों के आनन्द के लिये पराशरपुत्र व्यास ने इसका उद्धार किया था । अहो ! प्रसन्नता है कि अब शङ्कर भगवान के भक्त शङ्कराचार्य ने अपने निर्दोष भाष्यरूपी अमृत से पङ्करहित कर सादर जिलाया "।[2] कवि के इस कथन में भी विस्मयमूलक " हर्ष " निहित है ।

- -

१- अहो शास्त्रं शास्त्रात् किमिह यदि न श्रीगुरुकृपा
कृता सा किं कुर्यान्ननु यदि न बोधस्य विभवः ।
किमालम्बश्चासौ न यदि परतत्त्वम् मम तथा ।
नमः स्वस्मै तस्मै यदवधिरिहाऽऽश्चर्यधिषणा ।।
श्रीश० दि० , ६-४३

२- कुदृष्टितिमिरस्फुरत्कुमतपङ्कमग्नां पुरा
पराशरसुवा चिरादुदधृतां बुधैर्मोदकाम् ।
अहो बत जरद्गवीमनघभाष्यसूक्तामृतै -
रपङ्कयति शङ्करः प्रणतशङ्करः सादरम् ।।
श्रीश० दि० , ६-८४

श्री श० दि० , श्लोक सं० ५-२४ ; ६-८५ में भी अद्भुतरस वर्णनीय है ।

तृतीय खण्ड

श्रीशङ्करदिग्विजय " में अभिव्यञ्जित " भावों " का विवेचन

शृङ्गाररस का स्थायी-भाव " रति " जब स्त्री-पुरुष को छोड़कर अन्य किसी (गुरु , देवता , मुनि , राजा , सन्तान आदि) को आलम्बन बनाकर प्रयुक्त हो तो वह व्यभिचारी-भाव हो जाता है । काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ने " रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जित: । भाव: प्रोक्त: "[1] द्वारा इसी मत का समर्थन किया है । " आदि " पद से आचार्य मम्मट का अभिप्राय उपर्युक्त गुरु आदि हैं ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में स्थान-स्थान पर सन्तान , गुरु , शिष्य और देवविषयक " रति " की अभिव्यक्ति हुई है । इसको ही आचार्यों ने " भावध्वनि " की संज्ञा प्रदान की है ।

१- वात्सल्यभाव

अपनी सन्तान या उसी श्रेणी के अन्य प्रिय सम्बन्धियों के प्रति जो रति होती है उसे " वात्सल्य कहते हैं । " श्रीशङ्करदिग्विजय " में तीन-चार स्थलों पर वात्सल्य का दर्शन होता है । सर्व प्रथम द्वितीय सर्ग में गुरुगेह से (शङ्कराचार्य के पिता) शिवगुरु के लौटने पर झटिति उनकी माँ के द्वारा पुत्र के आलिङ्गन करने[2] , सम्बन्धियों के द्वारा

१- आचार्य मम्मट - काव्यप्रकाश , चतुर्थ उल्लास - सूत्र संख्या - ४८

२- गत्वा निकेतनमसौ जननीं ववन्दे साऽऽलिङ्गय तद्विरहजं परितापमौज्झत् ।
प्रायेण चन्दनरसादपि शीतलं तद्यत्पुत्रगात्रपरिरम्भणनामधेयम् ॥
श्रीश० दि० , २-२२ ।

शीघ्रातिशीघ्र इनके दर्शन के लिये आने[1], पिता के द्वारा इनकी विद्वता और बुद्धि की परीक्षा करने और फलस्वरूप सन्तुष्ट और प्रसन्न[2] होने के मूल में माता-पिता और सम्बन्धियों का वात्सल्य ही झाँकता है। इस प्रसङ्ग में माँ के द्वारा किया गया पुत्र का आलिङ्गन अनुभाव, (शिवगुरु के) पिता के प्रति शिवगुरु की विद्वता उद्दीपन-विभाव और उसी पिता की प्रसन्नता में "हर्ष" सञ्चारी-भाव का दर्शन होता है।

तत्पश्चात् तृतीय सर्ग में उभय भारती और मण्डनमिश्र की शरीरकृशता को देखकर उसका कारण जानने के लिये लालायित उनके माता-पिता के द्वारा उनसे किये गये अनेक प्रश्नों[3] के प्रेरक के रूप में पुनः वात्सल्य दृष्टिगत होता है। इसी सर्ग में उभय भारती की विदाई के समय उनके माता-पिता के द्वारा ससुराल पक्ष को पुत्री के स्वभावविषयक

१- श्रुत्वा गुरोः सदनतश्चिरमागतं तं तद्बन्धुरागमदथ त्वरितेक्षणाय।
श्रीश० दि०, २-२३

२- वेदे च शास्त्रे च निरीक्ष्य बुद्धिं प्रश्नोत्तरादावपि नैपुणीं ताम्।
दृष्ट्वा तुतोषातितरां पिताऽस्य स्वतः सुता या किमु शास्त्रतो वाक्॥
श्रीश० दि०, २-२६

३- दृष्ट्वा तदीयौ पितरौ कदाचिदपृच्छतां तौ परिकर्शिताङ्गौ।
वपुः कृशं ते मनसोऽप्यगर्वो न व्याधिमीक्षो न च वैमनस्यम्॥
श्रीश० दि०, ३-२०

इसके अतिरिक्त श्रीश० दि०, ३-२१ से २४ तक के श्लोक इसी प्रसङ्ग के उदाहरण हैं।

जानकारी देने में[1], इसी वात्सल्य का हाथ है । कन्या के ससुरालवालों को पुत्री के स्वभाव से परिचित कराने मात्र से उभय-भारती की माँ का मातृ-हृदय सन्तुष्ट नहीं हुआ । वे स्वयं भी पुत्री को इस प्रकार से सदुपदेश करती हैं - " हे पुत्री ! आज से तुम अपूर्व अवस्था में प्रवेश कर रही हो । इस अवस्था की रक्षा के लिये कुशल बुद्धि बनो । बचपन के व्यवहार अन्य लोगों के लिये हास्यास्पद होते हैं । अतः तुम ऐसे मत करना । तुम्हारा यह आचरण हम लोगों के अतिरिक्त किसी और के लिये आनन्ददायक नहीं हो सकता[2] " - यहाँ पर सन्तान के प्रति माँ का अतिरिक्त स्नेह ही प्रकट होता है ।

इसके अतिरिक्त पञ्चम सर्ग में शङ्कराचार्य की माँ का यह कथन - " यह मेरा बच्चा अतिशीघ्रकाल में ही सम्पूर्ण आगमों का पारगामी बन गया है और इसकी महिमा अद्भुत है , ये दोनों बातें मेरे मन में कुतूहल

- -

१- प्रतिष्ठमाने दयिते वरेऽस्मिन्नुपेत्य मातापितरौ वरायाः ।
आभाषिषातां शृणु सावधानो बालेव बाला न तु वेत्ति किञ्चित् ।।
बालेरियं क्रीडति कन्दुकाद्यैर्जातक्षुधा गेहमुपैति दुःखात् ।
स्वैति बाला गृहकर्म नोक्ता संरक्षणीया निजपुत्रितुल्या ।।
बालेयमङ्ग वचनैर्मृदुभिर्विधेया कार्ये न रूक्षवचनैर्न करोति रुष्टा ।
केचिन्मृदूक्तिवशगा विपरीतभावाः केचिद्धितानुमनलं प्रकृतिं जनो हि ।।
- - - - - - - - - -
श्वश्रूर्वरायाः वचनेन वाच्या स्नुषाभिरक्षाऽऽयतते हि तस्याम् ।
निदोपभूता इव सुन्दरीयं कार्ये गृहे कर्म शनैः शनैस्ते ।।
श्रीश०दि० ३-६१ , ६२ , ६३ , ६६

इसके अतिरिक्त श्रीश० दि०, श्लोक संख्या - ३-६४ , ६५ , ६७ , ६८ भी इसी प्रसङ्ग के उदाहरण है ।

२- श्रीश० दि० , श्लोक संख्या - ३-६६ , इसके अतिरिक्त श्रीश० दि०, श्लोक संख्या- ३-७० से ७६ तक के श्लोक भी इसी प्रसङ्ग के उदाहरण हैं ।

उत्पन्न कर रही है[१] - वात्सल्यमूलक ' हर्ष ' सञ्चारी-भाव को व्यक्त कर रहा है।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में यत्र-तत्र शिष्य विषयक ' रति ' भाव की भी अभिव्यञ्जना हुई है। इस रति को वात्सल्य कहते हैं क्योंकि पिता का पुत्र के प्रति जिस प्रकार का स्नेह होता है उसी प्रकार का स्नेह गुरु का शिष्य के प्रति भी होता है।

पद्मपाद की कृति ' पञ्चपादिका ' के भस्म होने की घटना गुरु शङ्कराचार्य को पद्मपाद से लेशमात्र भी कम दु:खी नहीं करती। पद्मपाद को तरह-तरह के सहानुभूति पूर्ण वचनों से वे सान्त्वना[२] भी देते हैं। यहाँ पर शङ्कराचार्य का दु:खी होना और सहानुभूति रखना। शिष्य के प्रति स्नेह के कारण ही सम्भव है।

एक अन्य स्थल पर कमलों के ऊपर पैर रखकर गुरु के समीप पहुँचने वाले अप्रतिम भक्ति वाले सनन्दन को शङ्कराचार्य द्वारा आनन्द एवं विस्मय से आलिङ्गन किये जाने और उनका ' पद्मपाद ' सार्थक नाम रखने[३] में पुन: शिष्य विषयक ' रति ' अभिव्यक्त हुई है।

१- शिशुरेष किलातिशैशवे यदशेषागमपारगोऽभवत्।
मतिमानपि यदद्भुतोऽस्य तद्द्वयमेतत्कुरुते कुतूहलम्।। श्रीश० दि०, ५-४१

२- इति वादिनमेनमार्यपाद: करुणापूरकरम्बितान्तरङ्ग:।
अमृताब्धिसखैरयास्तमोहैर्वचनै: सान्त्वयति स्म वत्सबन्धै:।।
विषमो बत कर्मणां विपाको विषमोहोपमदुर्निवार एष:।
\- - - - - श्रीश० दि० १४-६६, ६७

३- पाथोरुहेषु विनिवेश्य पदं क्रमेण प्राप्तोपकण्ठमनुमप्रतिमानभक्तिम्।
आनन्दविस्मयनिरन्तनिरन्तरोऽसावाश्लिष्य पद्मपादनामपदं व्यतानीत्।।
श्रीश० दि०, ६-७१

शङ्कराचार्य के प्रसन्न होने में वात्सल्यमूलक " हर्ष " निहित है। पद्मपाद की अनुपम भक्ति देखकर शङ्कराचार्य के चकित होने में " विस्मय " सञ्चारी-भाव भी अभिव्यञ्जित हुआ है।

इसी प्रकार अन्य अनेक शिष्यों के मध्य तोटकाचार्य के अपमान[1] को न सहते हुए शङ्कराचार्य द्वारा मन ही मन उन्हें चौदहों विद्याओं के उपदेश करने में[2] गुरु का शिष्य के प्रति अतिशय स्नेह ही अभिव्यञ्जित होता है।

२- श्रद्धा या भक्ति भाव

छोटे का बड़े के प्रति स्नेह श्रद्धा या भक्ति कहलाता है। " श्रीशङ्करदिग्विजय " में स्थान-स्थान पर गुरु विषयक श्रद्धा या भक्ति का दर्शन होता है। सर्वप्रथम शङ्कराचार्य द्वारा अपने गुरु गोविन्दाचार्य की इस स्तुति - जो गरुड़ध्वज भगवान विष्णु की शय्या बनता है, जो परमेश्वर शिव के हाथ-पैर में अलङ्कार बन जाता

- -

१- शान्तिपाठमथ कर्तुमसंस्थेष्वागतेषु स विनेयवरेषु ।
स्थीयतां गिरिरपि क्षणमात्रादेष्यतीति समुदीरयतिस्म ।।
तां निशम्य निगमान्तगुरूक्तिं मन्दधीरनधिकार्यपि शास्त्रे ।
किं प्रतीक्ष्यत इति स्म ह भित्तिः पद्मपादमुनिना समदर्शि ।।
श्रीश० दि०, १२-७६, ७६

२- तस्य गर्वमपहर्तुमखर्वं स्वाश्रयेषु करुणातिशयाच्च ।
व्यादिदेश स चतुर्दश विद्याः सद्य एव मनसा गिरिनाम्ने ।।
श्रीश० दि०, १२-७८

है , जो अपने मस्तक पर समुद्र तथा पहाड़ों से युक्त पृथ्वी को धारण करता है उसी शेषनाग के शरीर को धारण करने वाले शेष-रहित (सर्वत्र व्यापक) आपको मैं प्रणाम करता हूँ । आप व्यास के पुत्र महर्षि शुकदेव के शिष्य आचार्य गौड़पाद से वेदान्ततत्त्व को पढ़कर अखिल गुणों से मण्डित तथा व्यापक महिमा वाले हैं । आपके पास मैं वेदान्त पढ़ने के लिये अत्यन्त भक्ति-भाव से आया हूँ[१] - में गुरु विषयक श्रद्धा की झलक मिलती है । यहाँ शङ्कराचार्य के द्वारा गुरु को प्रणाम करना तथा गुरु के प्रति प्रशंसासूचक वाक्य का प्रयोग करना इनकी गुरु के प्रति श्रद्धा , स्नेह और भक्ति के कारण ही सम्भव है । जिस प्रकार शङ्कराचार्य की अपने गुरु के प्रति भक्ति अभिव्यक्त हुई है उसी प्रकार इनके शिष्य पद्मपाद की भी (शङ्कराचार्य) के प्रति भक्ति प्रकट होती है । पद्मपाद के द्वारा अत्यन्त अधीर होकर गुरु के प्रति व्यक्त इस विचार - हे भगवन् ! आपकी कृपा के अथाह समुद्र आपके चरण कोण के अग्रभाग की शरण में आने वाले कितने दीन और दुःखी लोगों ने सर्वेश्वर पद प्राप्त कर लिया है । मैं सदैव आपके सामने नतमस्तक हूँ । मेरा कौन सा पापांश है । गुरु के चरणकमल की चिन्ता ही पापों को दूर करती है । क्या यह आपका वचन मेरे विषय में असत्य है[२] —

- -

१- श्रीश० दि० , ५-६४ , ६७ , इसके अतिरिक्त श्रीश० दि० , ५-६५ और ६६ भी इसी प्रसङ्ग के उदाहरण हैं ।

२- कृपापारावारं तव चरणकोणाग्रशरणं
गता दीना दूना: कति कति न सर्वेश्वरपदम् ।
गुरो मन्तुर्मन्तु: क इव मम पापांश इति चेत्
मृषा मा भाषिष्ठा: पदकमलचिन्तावधिरसौ ।।
श्रीश० दि० , १४-१६५

- में गुरु विषयक भक्ति या श्रद्धा ही अभिव्यञ्जित हुई है ।

इसके अतिरिक्त शङ्करााचार्य द्वारा की गयी व्यास[1] और विश्वनाथ[2] की स्तुतियों में , मण्डनमिश्र द्वारा की गयी शङ्कराचार्य की स्तुति[3] में , शङ्कराचार्य के शिष्यों के द्वारा इनके प्रबोधन[4] के अवसर पर भाव-ध्वनि का दर्शन होता है ।

चतुर्थ खण्ड

निष्कर्ष

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में वादियों से शङ्कराचार्य का शास्त्रार्थ विस्तार से वर्णित हुआ है । इस शास्त्रार्थ वर्णन के अवसर पर दार्शनिक सिद्धान्तों की जमकर चर्चा हुई है । अत: ऐसे स्थलों पर भावात्मक अंशों का पूर्णतया अभाव है । यही कारण है कि इसमें रसाभिव्यक्ति के सुन्दर स्थल कम पाये जाते हैं ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शृङ्गाररस के स्थलों पर रसापकर्षक ओजगुणाभिव्यञ्जक वर्णों का प्रयोग हुआ है । इससे शृङ्गाररस की योजना

- -

१- श्रीश० दि० , ७-२३ से ३१

२- श्रीश० दि० , ६-४१ से ४३

३- श्रीश० दि० , ८-२४ से ४३

४- श्रीश० दि० , १०-३१ , ३३ , ३६ , ४५ से ४७ ।

में कवि की अनिपुणता ही प्रकट होती है ।

हास्यरस का तो इसमें प्रयोग ही नहीं हुआ है ।

रसाभास , भावाभास , भावोदय , भावशान्ति , भावसन्धि और भावशबलता आदि के स्थल भी अनुपलब्ध हैं ।

रौद्ररस और शान्तरस की सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है । अन्य सभी रसों की चर्वणा भी अत्यन्त सामान्य कोटि की है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में भावध्वनि के स्थलों की तो भरमार है । इसमें सन्तान , गुरु , शिष्य और देवता के प्रति " रति " की अभिव्यक्ति मुख्य है ।

पञ्चम अध्याय

श्रीशङ्करदिग्विजय में वस्तुवर्णन

१- अवतारणा

कवि अपने काव्य में छोटी सी छोटी वस्तु का अपनी कल्पना के माध्यम से अतिभव्य और रमणीय रूप में वर्णन कर पाठकों का मनोरञ्जन करता है । इसे ही वस्तु वर्णन कहा जाता है । प्रायः वस्तुवर्णन उद्दीपन-विभाव के रूप में होता है । इसी प्रकार के कुछ प्रसङ्ग " श्रीशङ्करदिग्विजय " में भी दृष्टिगत होते हैं जिनकी वर्णन शैली पर इस अध्याय में विचार किया जा रहा है ।

२- वर्षावर्णन

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में वर्षा ऋतु का वर्णन निर्वेद भाव को उद्दीप्त करने वाले अर्थात् उद्दीपन-विभाव के रूप में दृष्टिगत होता है । इस भाव के आश्रय शङ्कराचार्य की अपेक्षा पाठक अधिक प्रतीत होते हैं । वर्षा-ऋतु के वर्णन में आने वाले सभी दृश्यों को कवि माधवाचार्य ने विरागी शङ्कराचार्य के दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया है ।

ब्रह्मभाव प्राप्त कर लेने पर शङ्कराचार्य को वर्षा-ऋतु का वातावरण उत्पन्न करने वाले मेघ के अधिकतर क्रियाकलाप सहानुभूति रखते हुए से प्रतीत होते हैं । कवि ने वर्षा-ऋतु के वर्णन-प्रसङ्ग में वर्षा-ऋतु के अङ्गों का मानवीकरण कर दिया है । इसके कुछ सुन्दर और चित्ताकर्षक उदाहरण द्रष्टव्य है :

मेघ सांसारिक भोगों की अनित्यता सिद्ध करता हुआ शङ्कराचार्य को उपदेश करता है। इसे कवि ने उत्प्रेक्षा के सौन्दर्य में निबद्ध करते हुए कहा है कि ब्रह्म-भाव को प्राप्त कर, संसार से मुक्ति के लिये विद्वत्श्रेष्ठ शङ्कराचार्य ने जब उस परमात्मा का ध्यान किया तब विषयों में अनुराग बिजली के समान चञ्चल है मानों इसे कहता हुआ मेघ प्रकट हुआ।[1] एक अन्य उदाहरण में उपमा का प्रयोग करके कवि ने वर्षा के सौन्दर्य को प्रकाशित किया है : "मेघ के समुदाय में एक क्षण के लिये जिसकी प्रभा दिखायी पड़ती है ऐसी बिजली उस प्रकार चमकी जिस प्रकार व्यवहार काल में विषयों में लिप्त रहने वाले ज्ञानी पुरुष के हृदय में रहने वाली ज्ञान की कला क्षण-भर के लिये प्रकाशित हो उठती है।"[2]

मेघ की मधुर गर्जना में कवि मेघ के द्वारा किये जा रहे ब्रह्म-विषयक उपदेश की कल्पना कर लेता है।[3]

कवि ने अद्वैत-वेदान्त-सम्मत सत्व, रजस् और तमस् गुणमयी जगत् में माया के विलासों के प्रवाह से वर्षाकालीन अनिल-प्रवाह की तुलना करते हुए वर्षा के सौन्दर्य को प्रकाशित किया है :

- -

१- ब्रह्मभावमधिगत्य सुधीन्द्रे तं समचेति च संसृतिमुक्त्यै ।
सञ्चचाल कथयन्निव मेघश्चञ्चलाश्चपलतां विषयेषु ।। श्रीश० दि०, ५-११८

२- श्रीश० दि०, ५-१२०

३- किं नु विष्णुपदसंश्रयतोऽब्दा ब्रह्मतामुपदिशन्ति मुमुक्षून्यः ।
यन्निशम्य निखिलाः स्वनमेषां बिभ्रति स्म किल निर्भरमोदान् ।।
श्रीश० दि०, ५-१२१

" कुटज के नवाङ्कुर और बाण नामक फूलों की अत्यधिक धूलि से व्याप्त जङ्गली वायु उसी प्रकार प्रवाहित होने लगी जिस प्रकार सत्व , रजस् और तमस् गुणों से मिश्रित जगत् में माया के विलास "।[1]

मेघ को भयङ्कर दैत्यस्वरूप बताते हुए कवि ने कल्पना की है " अन्धकार के समान काले-काले शरीर की शोभा से युक्त , सात रङ्गोंवाले धनुष को धारण करने वाले , कर्कशगर्जन तथा विद्युत्रूपी नेत्रों वाले , मेघरूपी दैत्य मुनियों के ध्यानरूपी यज्ञ को नष्ट करने के लिये आकाश में इधर-उधर भ्रमण करने लगे "।[2]

मेघ शङ्कराचार्य के लिये प्रेरणास्रोत हैं इस व्यंग्य को कवि ने तुल्ययोगिता के माध्यम से अभिव्यक्त किया है - " मेघों ने आकाश को आच्छादित करके बारम्बार जल की धारा मुक्त की । शङ्कराचार्य ने भी अपने हृदय को ब्रह्म में लगाकर समस्त इन्द्रियों के व्यापार को त्याग किया "।[3]

- -

१- आवबुः कुटजकन्दल बाणास्फीतरेणुकलिता वनवात्याः ।
सत्वमध्यमतमोगुणमिश्रा मायिका इव जगत्सु विलासाः ।।
श्रीश० दि० , ५-१२३

२- बभ्रुस्तिमिरसच्छविगात्राश्चित्रकार्मुकभृतः स्वघोषाः ।
ध्यानयज्ञमथनाय यतीनां विद्युदुज्ज्वलदृशो घनदैत्याः ।।
श्रीश० दि० , ५-१२४

३- उत्ससर्जुरसकृज्जलधारा वारिदा गगनधाम पिधाय ।
शङ्करो हृदयमात्मनि कृत्वा सन्जहार सकलेन्द्रियवृत्तिः ।।
श्रीश० दि० , ५-१२५

समाधि से व्युत्थित शङ्कराचार्य को वर्षा ऋतु के सभी क्रिया-कलाप मानवीय व्यवहार तुल्य प्रतीत होते हैं। शङ्कराचार्य को सम्पूर्ण वातावरण ही ब्रह्ममय लगने लगता है। इस प्रसङ्ग के कुछ रमणीय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

" विष्णु के पद अर्थात् आकाश में रहने वाला और विद्युत् की चमक से अलङ्कृत मेघ भी वर्षा के आगमन से मलिन पड़ गया है। इसे देखकर संसार में रहनेवाला कौन मनुष्य है ? जो वैराग्य को धारण नहीं करेगा।"[1]
यहाँ संसार की दुःखमयता के कारण व्यक्ति को वैराग्य ग्रहण कर लेना चाहिए यह सन्देश मेघ के दशा-वर्णन के माध्यम से कवि ने दिया है।

राजहंस पर विरागी पुरुष का आरोप करते हुए अत्यन्त सरल शब्दों में अर्थान्तरन्यास के सौन्दर्य को निबद्ध करते हुए कवि ने कहा है -
" जलाशयों के कलुषित हो जाने पर राजहंस मानसरोवर की ओर जाने की इच्छा करने वाला हो गया। जीवन को चाहने वाला कौन पुरुष आश्रय अर्थात् हृदय के परिवर्तित हो जाने पर मानसिक चिन्ता को प्राप्त करता है ? कलाओं से युक्त पूर्ण चन्द्र मेघों से भरे हुए आकाश-मार्ग में चारों तरफ भ्रमण की इच्छा करता हुआ प्रकाशित नहीं हो पाया। मलिन वस्त्रधारी कौन व्यक्ति शोभा प्राप्त कर सकता है "[2]

१- प्राप विष्णुपदभागपि मेघः प्रावृडागमनतो मलिनत्वम् ।
विद्युदुज्ज्वलरुचाऽनुसृतश्च कोऽप्यवन्यपि भजेन्न विरागम् ।। श्रीश० दि०, ५-१२९

२- आशये कलुषिते सलिलानां मानसोत्कहृदयाः कलहंसाः ।
कोऽन्यथा भवति जीवनलिप्सुराऽऽश्रये भवति मानसचिन्ताम् ।।
अभ्रवर्त्मनि परिभ्रममिच्छन् शुभ्रदीधितिरभ्रपयोदे ।
न प्रकाशमवाप कलावान् कस्य कास्ति मलिनाम्बरवासी ।।
श्रीश० दि०, ५-१३०, १३१ ।

शङ्करा चार्य ने उचित समय पर स्थायी महत्व के लक्ष्य को अङ्गीकार करने के कारण आत्मसाक्षात्कार करके अपनी चिरकालिक इच्छा की पूर्तिरूप तृप्ति को प्राप्त कर लिया था । इसे "श्रीशङ्करदिग्विजय" में वर्षावर्णन के अवसर पर चातकों के व्यवहार से सङ्केतित किया गया है :

" अत्यन्त पिपासित चातकों की पंक्ति ने उत्तम पात्र मेघ का अवलम्बन लेकर बहुत समय के पश्चात् जल की तृप्ति को प्राप्त किया । दृढ़ वस्तु के आश्रय को उचित समय पर ग्रहण करने वाला पुरुष यदि चाहे तो अमृत भी प्राप्त कर सकता है ।"[1]

एक स्थान पर वर्षा के भयङ्कर दृश्य का सफल चित्रण हुआ है :

" मेघों के कारण कालिमा प्रसृत हो रही थी , प्रचण्ड वायु से तमाल वृक्ष कम्पित हो रहे थे , प्राणियों का सञ्चार अवरुद्ध हो गया था , निबिड नीलमेघ की शोभा फैल रही थी , सैकड़ों ब्राह्मणों के निवास के कारण नदी-तट की शोभा वर्धित हो रही थी । ऐसे समय में समस्त अश्वरूपी इन्द्रियों को वश में करने वाले उस महात्मा शङ्कराचार्य ने विद्वानों के द्वारा वन्दित अपने गुरु के चरणों की पूजा करते हुए नर्मदा के तट पर निवास किया । वृत्रासुर के शत्रु भगवान इन्द्र ने मनुष्यों को भयभीत करते हुए , दिशाओं को सराबोर करते हुए हाथी के शुण्ड के समान

१- चातकावलिरनल्पपिपासा प्राप तृप्तिमुदकस्य चिराय ।
प्राप्नुयादमृतमप्यभिवाञ्छन् कालतो दृढ घनाश्रयकारी ।।
श्रीश० दि० , ५-१३२

मोटी जल की धारा बिजली की चमक-दमक के साथ मुञ्चित की ।[१]

बाढ़ के इस जल को एक अभिमन्त्रित घड़े में शङ्कराचार्य के द्वारा भरे जाने के वर्णन में शङ्कराचार्य को प्राप्त गुण योगसिद्धि का परिचय उपमा के माध्यम से दिया गया है :

" अग्रहार के समूहों के साथ तटीय वृक्षों के समुदाय को गिराते हुए , प्रलय के समय समुद्र की लहरों के समान उस नदी का प्रवृद्ध जल अत्यधिक ध्वनि करने लगा । उन्होंने (शङ्कराचार्य ने) शीघ्र ही एक घड़े का अभिमन्त्रण कर उस प्रवाह के सामने रखा और उसमें समस्त जल उसी प्रकार समाविष्ट हो गया जिस प्रकार अगस्त्य मुनि ने अपनी हथेली में समुद्र समाविष्ट कर लिया था ।[२] "

३- <u>शरद्वर्णन</u>

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शरद्-ऋतु के वर्णन के माध्यम से दर्शन जैसे नीरस विषय का अत्यन्त सरस प्रतिपादन हुआ है । शङ्कराचार्य को उनके गुरु के द्वारा किया गया उपदेश इसी प्रसङ्ग में वर्णित हुआ है । यहाँ पर उपमालङ्कार का चमत्कार प्रयोग हुआ है । इसके कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं - " कुछ दिनों के व्यतीत हो जाने पर (शरद् के - आगमन पर) और आकाश में मेघों के विलीन हो जाने पर छात्रों में अग्रगण्य

- -

१- इत्युदीर्णजलवाहविनीले स्फीतवातपरिधूतमाले ।
प्राणभृत्प्रचरणप्रतिकूले नीडनीलघनशालिनि काले ।।
अग्रहारकुलसम्भृतशोभे सुग्रहाग्रहगुरुः स महात्मा ।
अभ्युवास तटमिन्दुमनाया: सुश्रुपास्यचरणं गुरुमर्चन् ।।
प्रस्तमस्तकगणमस्तमिताशं हस्तिहस्तपृथुलोदकधारा: ।
मुञ्चति स्म समुदञ्चितविद्युत्पञ्चराम्बरमिहस्तुरणम् ।।
श्रीश० दि० , ५-१३३ , १३४ , १३५

२- श्रीश० दि० , ५-१३७ ,१३८ ।

शङ्०कराचार्य से इनके गुरु ने कहा - हे सौम्य । देखो शरद्-ऋतु के कारण निर्मल आकाश ब्रह्मविद्या के कारण स्पष्ट हुए ब्रह्म और आत्मा की एकता-रूपी सिद्धान्त के समान प्रतीत हो रहा है ।[1]

इसी प्रकार योगशास्त्रसम्मत मैत्री आदि भावनाओं का विशदीकरण उपमा के माध्यम से करते हुए कहा गया है - ' मेघसमूह के चले जाने पर स्वच्छ प्रकाश वाले शुभ्रनक्षत्र उसी प्रकार सुशोभित हो रहे हैं जिस प्रकार रागद्वेष के हट जाने पर मैत्रीपूर्वक (करुणा , मुदिता और उपेक्षा) गुण प्रकाशित होते हैं ।[2]

श्लेष और उपमा के सौन्दर्य में संन्यासी और हंसों के व्यवहारों का वर्णन शरद्-ऋतु के माध्यम से हुआ है :

' मत्स्य और कच्छप जीवों वाली , भँवर धारिणी , गर्भगत जल वाली , कमलों से अलङ्०कृत और शोभायुक्त नदी का तट मत्स्य एवं कच्छप अवतार ग्रहण करने वाली , सुदर्शनचक्रधारी , गर्भान्तर्भूत चौदह भुवनों वाली , कमल से शोभित और लक्ष्मी से युक्त मधु-कैटभ के शत्रु विष्णु भगवान की मूर्ति के समान आज सेवित हो रही है ।[3]

- -

१- छात्रमुख्यममुमाह वियद्विभ्रमाभिरगैलघने गगने सः ।
पश्य सौम्य शरदा विमलं खं विचयैव विशदं परतत्त्वम् ।। श्रीश०दि०, ५-१४०

२- वारिवाहनिवहे प्रतियाते भान्ति भानि शुचिभानि शुभानि ।
मत्सरादिविगमे सति मैत्रीपूर्वका इव गुणाः परिशुद्धाः ।। श्रीश०दि०,५-१४३

३- मत्स्यकच्छपमयी धृतचक्रा गर्भवर्तिभुवना नलिनाढ्या ।
श्रीयुताऽद्य तटिनी परहंसैः सेव्यते मधुरिपोरिव मूर्तिः ।। श्रीश०दि०, ५-१४४

शरद्-ऋतु के वर्णन के माध्यम से न केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का सरस प्रतिपादन हुआ है अपितु संन्यासियों के स्वरूप और व्यवहारों का परिचय भी उपलब्ध होता है : " यह शरत्काल चन्द्रिका के द्वारा सुशोभित चन्द्रमण्डलरूपी कमण्डलु से भूषित बन्धूक के फूलरूपी वस्त्र से आच्छादित होकर चन्द्रिका तुल्य धवल भस्म से लिप्त शरीर वाले ,कमण्डलु से शोभित , कषायवस्त्र से आवृत हुए निःस्पृह संन्यासी के समान प्रतीत हो रहा है । मेघ जल की धारा से औषधियों को कृतार्थ करके और श्रेष्ठ संन्यासी अपनी सदुपदेशयुक्त वाणी से अनुचरों को कृतार्थ करके अब (इस शरद्-ऋतु में) इच्छानुसार यात्रा करते हैं ।"[1]

संन्यासियों के चित्त के स्वरूप का परिचय शरत्कालीन तालाब के गम्भीर जल के माध्यम से सम्प्रेषित करने में कवि का सूक्ष्म और भावपूर्ण विचार द्रष्टव्य है :

" हंस की स्थिति के कारण शोभित , धूलरहित , तरङ्गों से शून्य , अपगत पङ्क (मालिन्य) वाला तालाब का यह अत्यन्त गम्भीर जल उसी प्रकार प्रतीत होता है जिस प्रकार तुम्हारा (शङ्कर का) चित्त जो परमहंस (साधु)के साथ रहने से रजोगुणहीन है , क्षोभरहित है , पाप से शून्य है तथा अत्यन्त गम्भीर है ।"[2]

- -

१- चन्द्रिकाभसितचर्चितगात्रश्चन्द्रमण्डलकमण्डलुशोभी ।
बन्धुजीवकुसुमोत्करशाटीसंवृतो यतिरिवायमभीष्टः ॥
वारिदायतिवराश्च सुपाथोधारया सदुपदेशगिरा च ।
औषधीरनुचरांश्च कृतार्थीकृत्य सम्प्रति हि यान्ति यथेच्छम् ॥
श्रीशं० दि० , ५-१४६ , १४१

२- हंससङ्गतिलसद्विरजस्कं क्षोभवर्जितमपास्तपङ्कम् ।
वारि सारसमतीव गभीरं तावकं मन इव प्रतिभाति ॥ श्रीशं० दि० ,५-१४७
श्रीशं० दि०, ७-६२ से ७२

४- <u>त्रिवेणी का वर्णन</u>

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में त्रिवेणी की स्तुति[1] भाषा और भाव की दृष्टि से उल्लेखनीय है। निन्दामुखेन स्तुति के कुछ सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य हैं। इसमें नदी का मानवीकरण हुआ है और पौराणिक आख्यान का रमणीय प्रयोग मिलता है :

"हे सिद्ध नदी! त्रिपुर राक्षस के विरोधी अर्थात् भगवान शिव की जटाओं में अवरुद्ध किये जाने के कारण क्रुद्ध हुई तुम सैकड़ों पुरुषों को शिव (कल्याण करने वाले) के समान क्यों बना देती हो? क्या तुम्हारे द्वारा निर्मित इन शिवों की जटाओं में तुम बद्ध नहीं होगी? खेद है कि जड़प्रकृति वाले लोग अपने भविष्य से अनभिज्ञ रहते हैं[2]।

एक अन्य स्थान पर नदी की निन्दा के द्वारा कवि ने न केवल नदी की प्रशंसा की है अपितु वर्णन में दार्शनिक पुट भी ला दिया है। इस सन्दर्भ में यह उदाहरण द्रष्टव्य है : "हे सुरनदी! सन्मार्गप्रवर्तक होकर भी तुम प्रतिदिन अपवित्र अस्थियों को क्यों ग्रहण करती हो? हे माँ! मुझे तुम्हारे मन का अभिप्राय भली-भाँति ज्ञात है कि तुम्हारे जल में स्नान कर शिवरूप होने वाले सज्जनों के शरीर को भूषित करने के लिये ही तुम इन्हें ग्रहण करती हो[3]। यहाँ नदी की वास्तविक निन्दा

१- श्रीश० दि० , ७-६२ से ७२

२- सिद्धापगे पुरविरोधिजटोपरोधक्रुद्धा कुतः शतशः सदृशान्विधत्से ।
बद्धा न किन्नु भविताऽसि जटाभिरेषामद्धा जडप्रकृतयो न विदन्ति भावि ॥
श्रीश० दि० , ७-६८

३- सन्मार्गवर्तनपराऽपि सुरापगे त्वमस्थीनि नित्यमशुचीनि किमाददासि ।
आज्ञातमम्ब हृदयं तव सज्जनानां प्रायः प्रसाधनकृते कृतमज्जनानाम् ॥
श्रीश० दि० , ७-६९

[illegible][४]
नहीं की गयी है अपितु नदी के सुन्दर कृत्यों पर प्रसन्न शङ्कराचार्य के भावपूर्ण उद्गार हैं जो व्यङ्गयात्मक शैली के द्वारा प्रकट हुए हैं ।

नदी के सूक्ष्म एवं भावपूर्ण निरीक्षण और तत्पश्चात् निरीक्षण कर्ता के आश्चर्यभाव की सुन्दर अभिव्यक्ति कराने वाला यह वाक्य उल्लेखनीय है - " तुम निद्रा की अनुषङ्गी जड़ता से युक्त मनुष्यों की निद्रा से उत्पन्न जड़ता से छीन कर देती हो । विषय-राग से रहित हृदयवाले भी पुरुषों को शीघ्र धूर्जटिशिरोमणि (धतूरा जिसके सिर का आभूषण है ऐसा व्यक्ति अर्थात् शङ्कर) बना देती हो । हे देवि ! तुम्हारा यह मार्ग कैसा है ?[१]

उपर्युक्त प्रसङ्ग में स्वाभाविक रूप से प्रयाग माहात्म्य-कीर्तन के अवसर पर कवि ने एक स्थान पर अपने दार्शनिक ज्ञान को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है - " मुनि शङ्कराचार्य मज्जन करने वाले पुरुषों के शरीर को असित (विष्णु भगवान के समान श्यामवर्ण) तथा सित (शिव के समान उज्ज्वल) बनाने के लिये यमुना की सङ्गति को प्राप्त करने वाली , पापों को दूर करने वाली तथा चारों पुरुषार्थों को देने वाली , गङ्गा के पास प्रयाग में पहुँचे ।[२]

१- स्वपानुषङ्गजडतामरिताञ्जनौघान्स्वपानुषङ्गजडताविधुरान्विधत्से ।
दूरीभवद्विषयरागहृदोऽपि तूर्णं धूर्जटिकांक्ष्यसि देवि क एष मार्गः ।।
श्रीश० दि० , ७-७०

२- आमज्जतां किल तनूमसितां सितां च
कर्तुं कलिन्दसुतया कलितानुषङ्गाम् ।
अहनाय जह्नुतनयामथ निह्नुतार्घां
मध्येप्रयागमगमन्मुनिरथंमानम् ।।
श्रीश० दि० , ७-६३

दूसरे स्थान पर सामाजिक अनुभव को इस सङ्गम-वर्णन के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया है - " गङ्गा के प्रवाह के कारण अवरुद्ध वेगवाली यमुना मानों नूतन सखी के आगमन से लज्जा के कारण मन्दगति वाली होकर जिस प्रयाग में अत्यधिक सुशोभित होती है।[1]

एक अन्य स्थान पर प्रयागवर्णन के माध्यम से श्रुति का उपदेश पाठकों तक पहुँचाने का प्रयास किया गया है - " यहाँ (प्रयागस्थित सङ्गम) पर स्नान करने वाले लोग दिव्य शरीर को धारण कर दुःख के नाम से भी अपरिचित होकर स्वर्गलोक में चन्द्रमा तथा ताराओं की स्थिति तक भोगों को भोगते हैं - इस अर्थ को साक्षात् श्रुति भी कहती है। जन्ममरण की कथा को भी न जानने वाली श्रुति यमुना से सङ्गत गङ्गा को सितासित (श्याम और श्वेत) रूप से ही वर्णन करती है।[2]

५- शृङ्गगिरि का वर्णन

शृङ्गगिरि के वर्णन में कवि ने एक दो स्थलों पर अपने दार्शनिक ज्ञान का परिचय दिया है। अन्यत्र सामान्य वर्णन

- -

१- गङ्गाप्रवाहैरुपरुद्ध वेगा कलिन्दकन्या स्तिमितप्रवाहा ।
अपूर्वसख्यागतलज्जयैव यत्राधिकं भाति विचित्रपाथाः ॥ श्रीश०दि०, ७-६४

२- यत्राऽऽप्लुता दिव्यशरीरभाज आचन्द्रतारं दिवि भोगजातम् ।
सम्भुञ्जते व्याधिकथानभिज्ञाः प्राहैममर्थं श्रुतिरेव साक्षात् ॥
अज्ञातसम्भवतिरोधिकथाऽपि वाणी यस्याः सितासिततयैव गृणाति रूपम् ।
भागीरथीं यमुनया परिचर्यमाणामेतां विगाह्य मुदितो मुनिरित्यमाणीत् ॥
श्रीश० दि० ७-६६, ६७

हुआ है - " वहाँ (शृङ्गगिरि)पर ब्रह्म में अपने अन्त:करण को लगा देने वाले कृष्यशृङ्ग आज भी उत्तम तपस्या कर रहे हैं और वहाँ पर स्पर्शमात्र से कल्याण को देने वाली तुङ्गभद्रा नदी सुशोभित होती है । शृङ्गगिरि पर अतिथियों की उत्कृष्ट सेवा होती थी । वहाँ वेदपाठी सैकड़ों यज्ञकर्ता विद्यमान थे । शान्त चित्त वाले सज्जन वहाँ निवास करते थे । वहाँ पर शङ्कराचार्य ने श्रवणमात्र से मुक्तिदायक मुख्य भाष्यों को विद्वान शिष्यों को पढ़ाया । वहाँ पर विद्यमान प्राणियों के अज्ञानान्धकार को शङ्कराचार्य ने दूर कर दिया और बृहस्पतितुल्य विद्वान इन्होंने जीव और ईश्वर के अभेद का प्रतिपादन किया ।"[1]

६- अग्रहार[2] का वर्णन

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में अग्रहार का वर्णन अत्यन्त सामान्य हुआ है । कहीं-कहीं पर उपमालङ्कार का प्रयोग हुआ है । नवीन कल्पनाओं का सर्वथा अभाव है । तथ्यों को विवरणात्मक ढङ्ग से प्रस्तुत किया गया है - " अग्रहार के ब्राह्मण स्वकार्यकर्ता थे । निषिद्ध कर्म से दूर रहते थे तथा प्रमाद रहित थे । किसी व्यक्ति की अकाल मृत्यु नहीं होती थी । इस गाँव में वेदपाठी दो हजार अग्निहोत्री ब्राह्मण निवास करते थे जो वेदविहित क्रियाओं के कर्ता थे तथा प्रभावशाली थे ।"[3]

१- श्रीश० दि० , १२-६४ से ६७

२- ब्राह्मणों की बस्ती ।

३- श्रीश० दि० , १२-४० , ४१ ।

उपमा के माध्यम से अग्रहार का परिचय द्रष्टव्य है - " उस नगर के मध्य में निवास करने वाले गिरिजा के पति पिनाकपाणि शङ्०कर उसको (उस नगरी को) उसी प्रकार शोभा बढ़ा रहे थे जिस प्रकार मध्यमणि हारलता को और आकाश में स्थित चन्द्रमा रात्रि की शोभा बढ़ाते हैं ।"[1]

७- पुत्रजन्म-वर्णन

" श्रीशङ्०करदिग्विजय " में पुत्रजन्म का विवरण लोक-परम्परा और रीति-रिवाजों से थोड़ा हटकर है । इसका मुख्य कारण यह है कि इस काव्य में नायक का जन्म वर्णित हुआ है और यह नायक महापुरुष था । अत: यह स्वाभाविक ही है कि महापुरुषों के जन्म के समय होने वाली सामान्य घटनाएँ महापुरुष शङ्०कराचार्य के जन्म के समय भी वर्णित की जाय । " श्रीशङ्०करदिग्विजय " में ऐसा ही वर्णन-प्रसङ्०ग प्राप्त होता है । शङ्०कराचार्य के जन्म से न केवल इनके माता-पिता ही प्रसन्न हुए अपितु जड़प्रकृति , हिंसाशील जन्तु-वर्ग , परमविद्वान महापुरुषों और देवगण भी प्रसन्न हुए । इस प्रसन्नता के वर्णन में अत्यन्त सरल पदावली का प्रयोग मिलता है । इस प्रसङ्०ग के कुछ प्रवेक कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है :

शङ्०कराचार्य के जन्म के दिन परस्पर द्वेष रखने वाले मृग , हाथी , व्याघ्र , सिंह , सर्प और चूहा आदि जन्तु स्वाभाविक वैर को को त्याग कर अत्यन्त प्रसन्न हुए । सबने साथ-साथ विचरण किया और

- -

१- श्रीश० दि० , १२-४२ ।

एक-दूसरे के शरीर को घर्षित कर अपनी खुजली दूर की ।[1] न केवल जन्तुवर्ग अपितु प्राकृतिक उपादान भी शङ्०कराचार्य के जन्म से अत्यन्त प्रसन्न प्रतीत होते हैं - वृक्षों और लताओं ने फल और फूलों की वृष्टि की । अपने मालिन्य को त्यागकर सभी नदियाँ स्वच्छ जल वाली हो गयीं । मेघ और पर्वतों ने भी अचानक जलवृष्टि की । सभी दिशाएँ अत्यन्त प्रसन्न हुईं । वायु अद्भुत और दिव्य गन्ध से भावित होने लगी । अग्नि जल उठी और उसकी विचित्र ज्वालाएँ प्रदक्षिणा करने लगीं अर्थात् चारों ओर फैलने लगीं ।[2]

जब जन्तु और प्रकृति शङ्०कराचार्य के जन्म से इस प्रकार अतिशय प्रसन्न हुए तब मनुष्यों का इससे अप्रभावित होना असम्भव है । पुत्र जन्म के अवसर पर धन-धान्य के वितरण की परम्परा का प्रायः सभी कवियों ने चित्रण किया है । लौकिक जीवन में भी यह दृश्य दिखाई देता है । शङ्०कराचार्य के जन्म के अवसर पर भी विधि-सम्पादन करने वाले श्रेष्ठ ब्राह्मणों को इनके पिता ने दक्षिणा के रूप में प्रचुर मात्रा में धन, पृथ्वी और गायें दान की ।[3]

- -

१- तस्मिन्दिने मृगकरीन्द्रतरक्षुसिंहसर्पाखुमुख्यबहुजन्तुगणा द्विषन्तः ।
वैरं विहाय सह चेरुरतीव हृष्टाः कण्डूमपाकृषत साकुतया निघृष्टाः ॥
श्रीश० दि०, २-७३

२- वृक्षाः लताः कुसुमराशिफलान्यमुञ्चन्नथः प्रसन्नसलिला निखिलास्तथैव ।
जाता मुकुलिलधरोऽपि निजं विकारं मुमुक्षणादपि जलं सहसोत्पपात ॥
श्रीश० दि०, २-७४; २-६६

३- दृष्ट्वा सुतं शिवगुरुः शिववारिराशौ मग्नोऽपि शक्तिमनुसृत्य जले -
न्यमाङ्०क्षीत्
व्यश्राणयद्बहुधनं वसुधाश्च गाश्च जन्मोक्तकर्मविधये द्विजपुङ्०गवेभ्यः ॥
श्रीश० दि०, २-७२

महापुरुषों के उदय से कुत्सित लोग डर जाते हैं और सज्जन प्रसन्न होते हैं। इस तथ्य का चित्रण रूपक अलङ्कार में चित्ताकर्षक है - अद्वैतवाद के विपरीत मतावलम्बियों के हाथों के अग्रभाग में स्थित पुस्तकें सहसा वेग से गिर पड़ीं। श्रुति के मस्तकमूल वेदान्तग्रन्थ हँस पड़े। श्रीव्यासदेव का चित्तरूपी कमल खिल उठा।[१]

८- <u>विवाह-वर्णन</u>

इसमें मङ्गलवाद्य, वरकन्या की सजावट, विवाह-विधि आदि का संक्षिप्त चित्रण हुआ है। वर-वधू के स्वाभाविक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है - " आभूषणों की कान्ति से शरीर का स्वाभाविक सौन्दर्य छिप जाता है। इस कारण उन्होंने (वर-वधू ने) अधिक आभूषणों को धारण नहीं किया। वर-वधू को लोकपरम्परा का अनुसरण करके आभूषणों को धारण करना चाहिए इस विचार से अलङ्कारों को धारण किया।[२] "

पाणिग्रहण के समय मङ्गलवाद्यों की मधुर ध्वनि से सम्पूर्ण दिङ्मण्डल व्याप्त हो रहा था।[३] यहाँ पर वर्णन अतिसामान्य और मात्र एक श्लोक में हुआ है।

१- अद्वैतवादिविपरीतमतावलम्बिहस्ताग्रवर्तिवरपुस्तकमप्यकस्मात् ।
उच्चैः पपात च हसुः श्रुतिमस्तकानि श्रीव्यासचित्तकमलं विकचीबभूव ।।
श्रीश० दि०, २-७५

२- श्रीश० दि०, ३-५५

३- श्रीश० दि०, ३-५७

विवाहविधि का वर्णन भी मात्र दो श्लोकों में हुआ है। यह विधि वैदिक परम्परा का अनुगामी है। विवाहविधि का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं - " विश्वरूप ने अग्नि की स्थापना कर गृह्यसूत्रोक्त विधि का अनुसरण कर विधिवत् हवन किया। वधू ने लाजा(धान का लावा) हवन किया तथा उसके सुगन्ध को सूँघा। विश्वरूप (मण्डन) ने अग्नि की प्रदक्षिणा की। होम के अन्त में विश्वरूप ने सब ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया और आये हुए बन्धु-बान्धवों को अपने घर भेज दिया। वह्नि की रक्षा कर, उभयभारती के साथ प्रसन्न वदन होकर उन्होंने दीक्षा-धारण करके अग्निशाला में चार दिनों तक निवास किया।"[1]

निष्कर्ष

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के वस्तुवर्णन के प्रसङ्गों के अवलोकन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कवि ने इन प्रसङ्गों में अपनी प्रतिभा और व्युत्पत्ति का खुलकर प्रयोग नहीं किया है। अन्य कई महाकाव्यों की भाँति इसमें वस्तुवर्णन के लिये सर्ग पर सर्ग व्यय नहीं हुए हैं। विवाहवर्णन ऐसा प्रसङ्ग है जिसका अतीव रमणीय प्रस्तुतीकरण हो सकता था परन्तु इस प्रसङ्ग में भी मात्र दो-तीन श्लोक उपलब्ध होते हैं। गङ्गायमुनासङ्गम वर्णन में भी केवल तीन-चार श्लोक प्राप्त होते हैं परन्तु ये श्लोक रमणीय और सारगर्भित हैं। वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन प्रशंसनीय हैं। शृङ्गगिरि और अग्रहार का वर्णन मात्र तथ्यों का परिचयात्मक अंश है।

- -

१- श्रीश० दि०, ३-५६, ६०।

षष्ठ अध्याय

श्रीशङ्करदिग्विजय में प्रयुक्त छन्द

१- अवतारणा

किसी भी वस्तु के सर्जन के पीछे कुछ न कुछ तत्व अवश्य सक्रिय होते हैं जिनका उपयोग उसका निर्माता करता है । काव्यसर्जना के पीछे भी कतिपय तत्व सक्रिय होते हैं जो मूर्त न होकर अमूर्त एवं पृथक्-पृथक् विमर्शित होने पर भी अविभाज्यरूप से संश्लिष्ट होते हैं । पृथक्-पृथक् रूप में उनका अध्ययन मात्र अपनी सुविधा के लिये ही किया जाता है । काव्य में मुख्यत: ये तत्व सक्रिय होते हैं : १- शब्दार्थ युगल २- अलङ्कार ३- ध्वनि ४- रीति ५- गुण ६- वृत्ति और ७- छन्द ।

छन्दों पर विचार अत्यन्त प्राचीन समय से ही होता आया है । वेद के ६ अङ्गों में छन्द एक महत्वपूर्ण अङ्ग है । छन्द काव्य का बाह्य शरीर या परिधान है । इसके अभाव में काव्य का बाह्य स्वरूप ही बिखर जायेगा । छन्दोबद्ध रचना में मात्राओं या वर्णों का क्रम निश्चित रहता है ।

पिङ्गलाचार्यकृत " छन्द:सूत्रम् " नामक ग्रन्थ की " मृतसञ्जीवनी " टीका में छन्द को अक्षर सङ्ख्या का परिणाम कहा गया है ।[१]

आचार्य भरत ने अनेक अर्थों से सम्पन्न चार पदों एवं वर्णों से युक्त वृत्त को छन्द कहा है ।[२]

साहित्यदर्पणकार ने छन्दोबद्ध रचना को " पद्य " की संज्ञा प्रदान की है ।[३]

१- छन्द:शब्देनाक्षरसङ्ख्यावच्छन्दोऽत्राभिधीयते ।

पिङ्गल-छन्द:सूत्रम् , २-६

२- एवं नानार्थसंयुक्तै: पादैर्वर्णविभूषितै: ।

चतुर्भिस्तु भवेद्युक्तं छन्दोवृत्ताभिधानवत् ।। भ० ना० शा० , १४-४२

३- छन्दोबद्धं पदं पद्यम् । सा० द० , ६-३१४ ।

छन्द काव्य में भावाभिव्यक्ति के रमणीय एवं प्रभावशाली साधन हैं। छन्दोबद्ध रचनाएँ गद्य की अपेक्षा अधिक हृदयावर्जक होती हैं। कवि अपनी रचनाओं को छन्दोबद्ध करके जीवन्तरूप प्रदान करता है। छन्द भाषा में लालित्य की सृष्टि करते हैं।

लौकिक छन्द मात्रा और वर्ण के भेद से दो प्रकार के माने गये हैं - मात्रिक और वर्णिक।[1] मात्रिक छन्दों में प्राय: चारों चरणों में समान मात्राएँ होती हैं। वर्णिक छन्दों में प्राय: चरणों में वर्ण क्रम एक समान और उनकी सङ्ख्या भी समान होती है।

सामान्यतया मात्रिक और वर्णिक दोनों को ही छन्द कह दिया जाता है परन्तु विशेषज्ञों ने मात्रिक को मुक्त अर्थात् स्वच्छन्द विहारी होने के कारण छन्द कहा है तथा वर्णिक को वर्णों के गणों द्वारा क्रमबद्ध होने के कारण वृत्त कहा है।

काव्यशास्त्रियों द्वारा महाकाव्यों के लिये छन्दोविधान की कतिपय सीमाएँ निर्धारित की गयी हैं। उनके अनुसार की गयी रचना उत्तम होती है।

अग्निपुराण में महाकाव्य के लक्षण प्रसङ्ग में छन्द पर भी प्रकाश डाला गया है। वहाँ पर शक्वरी, अतिशक्वरी, अतिजगति, त्रिष्टुभ, पुष्पिताग्रा और वक्त्र आदि छन्दों की चर्चा हुई है। वहीं पर महाकाव्यों के लिये प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द बदलने का विधान है।[2]

१- पिङ्गलादिभिराचार्यैरुक्तं लौकिकं द्विधा ।
मात्रावर्णविभेदेन छन्दस्तदिह कथ्यते ।। वृत्तरत्नाकर, १-४

२- शक्वर्यातिजगत्यातिशक्वर्या त्रिष्टुभा तथा ।।
पुष्पिताग्रादिभिर्वक्त्राभिजनैश्चारुभि: समै: ।
मुक्ता तु भिन्नवृत्तान्ता नातिसंक्षिप्तसर्गकम् ।।
अग्नि पुराण, ३३७ वाँ अध्याय-२६-२७

आचार्य दण्डी ने महाकाव्यों के लिये एक सर्ग में एक छन्द के प्रयोग और सर्गान्त में भिन्न छन्द के प्रयोग को उत्तम माना है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के सभी सर्गों में एक ही छन्द का प्रयोग न करके भिन्न-भिन्न छन्द:प्रयोग को श्रेष्ठ माना है।[१]

आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में अर्थानुरूप छन्द:प्रयोग को उपयुक्त माना है।[२] परन्तु इन्होंने महाकाव्यों के सर्गों में प्रयुक्त होने वाले छन्दों की संख्या आदि के विषय में अपना विचार प्रकट नहीं किया है।

आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य का लक्षण बताते समय उसके छन्द:प्रयोग की मान्यताओं पर प्रकाश डाला है।

इन्होंने प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग और सर्ग के अन्त में भिन्न छन्द के प्रयोग को आवश्यक माना है। इन्होंने अपने लक्षण में सर्ग के मध्य में भी अनेक छन्दों के प्रयोग की छूट दी है।[३]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सभी आचार्यों ने छन्द:प्रयोग के विषय में अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं परन्तु साहित्यदर्पणकार का ही मत इस विषय में स्पष्ट और व्यापक है। इन्होंने महाकाव्य में छन्द:प्रयोग के लिये आवश्यक सभी पहलुओं पर अपना मत व्यक्त किया है।

१- सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम्।

काव्यादर्श - १-१९

२- 'शब्दार्थ वैचित्र्योपेतं' की व्याख्या में लिखा है -

उभयवैचित्र्यं यथा - रसानुरूप सन्दर्भत्वम्, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम् ------।

काव्यानुशासन, ८ वाँ अध्याय
पृ०सं० ३३६

३- एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।

सा० द०, ६-३२०, ३२१।

काव्यशास्त्रियों के द्वारा निर्धारित छन्द:प्रयोग के नियमों का हमारे कवियों ने उल्लङ्घन भी खूब किया है । एक छन्द में मात्र एक ही सर्ग के निबन्धन का नियम है परन्तु रत्नाकरकृत " हरविजय " , प्रवरसेनविरचित - " सेतुबन्ध ", और " रावणविजय " आदि महाकाव्यों के सभी सर्ग एक ही छन्द में रचे गये हैं । इसी प्रकार सर्ग के अन्त में छन्द बदलने का नियम है परन्तु " शिशुपालवध " " किरातार्जुनीय " आदि महाकाव्य में सर्ग के मध्य में बार-बार छन्द का परिवर्तन किया गया है ।

२- " श्रीशङ्करदिग्विजय " में छन्दों का प्रयोग

क- विभिन्न सर्गों में छन्दों की कुल सङ्ख्या

प्रथम सर्ग	-	८ छन्द
द्वितीय सर्ग	-	७ ,,
तृतीय ,,	-	६ ,,
चतुर्थ ,,	-	१० ,,
पञ्चम ,,	-	१० ,,
षष्ठ ,,	-	१२ ,,
सप्तम ,,	-	६ ,,
अष्टम ,,	-	१० ,,
नवम ,,	-	१० ,,
दशम ,,	-	२७ ,,
एकादश सर्ग	-	५ ,,
द्वादश ,,	-	१० ,,
त्रयोदश ,,	-	७ ,,
चतुर्दश ,,	-	१४ ,,
पञ्चदश ,,	-	४ ,,
षोडश ,,	-	१७ ,,

ख- सम्पूर्ण ग्रन्थ में उपलब्ध विभिन्न छन्दों की कुल मात्राएँ

१- उपजाति - ४५१
२- वसन्ततिलका - २१६
३- वसन्तमालिका - १६६
४- स्वागता - १२७
५- शार्दूलविक्रीडित - १०१
६- वियोगिनी - ६२
७- प्रमिताक्षरा - ८५
८- द्रुतविलम्बित - ६४
९- शालिनी - ५२
१०- इन्द्रवज्रा - ५१
११- शिखरिणी - ३४
१२- स्रग्धरा - २८
१३- वंशस्थ - २२
१४- शुद्धगीता - १४
१५- पादाकुलक - ११
१६- मन्दाक्रान्ता - ११
१७- पृथ्वी - ११
१८- कालभारिणी - १०
१९- पुष्पिताग्रा - ९
२०- मालभारिणी - ९
२१- मालिनी - ८
२२- रथोद्धता - ७
२३- हारिणी - ५
२४- प्रहर्षिणी - ५
२५- इन्द्रवंशा - ४

२६-	भुजङ्गप्रयात	-	३
२७-	स्रग्विणी	-	२
२८-	ओवी	-	२
२९-	तोटक	-	१
३०-	मत्तमयूर	-	१
३१-	पञ्चचामर	-	१
३२-	नर्कुटक	-	१
३३-	गीति	-	१
३४-	उद्गीति	-	१
३५-	आर्यागीति	-	१
३६-	मत्तमातङ्गलीलाकर	-	१
३७-	मञ्जुभाषिणी	-	१
३८-	उपचित्रा	-	१
३९-	इन्दुवदना	-	१
४०-	माधव	-	१
४१-	सुन्दरी	-	१
४२-	अनुष्टुप	-	१
४३-	मात्रासमकं	-	१
४४-	कुसुमस्तबक	-	१

इसके अतिरिक्त इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा छन्दों की अलग-अलग और सम्मिलित स्थिति अनेक श्लोकों में दिखलायी पड़ती है । उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है ।

ग - श्रीशङ्करदिग्विजय " में प्रयुक्त छन्दों का श्लोकक्रमानुसार नामोल्लेख

प्रथम सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
१	-	अनुष्टुप
२ से ४ तक	-	उपजाति
५	-	पृथ्वी
६ से ११ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
१२ और १३	-	शिखरिणी
१४	-	स्रग्धरा
१५ और १६	-	शार्दूलविक्रीडित
१७	-	मन्दाक्रान्ता
१८ से ९७ तक	-	अनिर्णीत
९८	-	प्रहर्षिणी

द्वितीय सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
१	-	उपजाति
२	-	इन्द्रवंशा
३	-	उपजाति
४	-	वसन्त तिलका
५ और ६	-	इन्द्रवज्रा
७	-	उपजाति
८	-	इन्द्रवज्रा
९ से ११ तक	-	उपजाति
१२ से २५ तक	-	वसन्ततिलका
२६	-	उपजाति
२७ से ३० तक	-	वसन्ततिलका

द्वितीय सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
३१	-	उपजाति
३२	-	इन्द्रवंशा
३३ से ३६ तक	-	वसन्ततिलका
३७	-	उपजाति
३८	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा = उपजाति
३९	-	वंशस्थ
४० से ४२ तक	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा = उपजाति
४३ से ४५ तक	-	वसन्ततिलका
४६	-	उपजाति
४७-	-	वसन्ततिलका
४८	-	उपजाति
४९-से ६५ तक	-	वसन्ततिलका
६६	-	इन्द्रवज्रा
६७	-	उपजाति
६८	-	उपेन्द्रवज्रा
६९	-	उपजाति
७०	-	इन्द्रवज्रा
७१ से ७५ तक	-	वसन्ततिलका
७६	-	उपजाति
७७	-	वियोगिनी
७८	-	इन्द्रवंशा +वंशस्थ = उपजाति
७९ से ८४ तक	-	वसन्ततिलका
८५ से ८७ तक	-	उपजाति
८८ और ८९	-	वियोगिनी
९०	-	गीति

द्वितीय सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
६१	-	प्रहर्षिणी
६२ और ६३	-	शार्दूलविक्रीडित

तृतीय सर्ग

१ से ७ तक	-	वियोगिनी
८	-	वसन्ततिलका
९	-	उपजाति
१०	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा = उपजाति
११	-	वंशस्थ
१२ और १३	-	वंशस्थ + इन्द्रवज्रा = उपजाति
१४	-	उपजाति
१५	-	इन्द्रवज्रा
१६ से २१ तक	-	उपजाति
२२	-	उपेन्द्रवज्रा
२३	-	उपजाति
२४ से ६० तक	-	वसन्ततिलका
६१	-	उपजाति
६२	-	इन्द्रवज्रा
६३ और ६४	-	वसन्ततिलका
६५	-	इन्द्रवज्रा
६६ और ६७	-	उपजाति
६८ और ६९	-	वसन्ततिलका
७०	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ = उपजाति

तृतीय सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
७१ से ७४ तक	-	वसन्ततिलका
७५	-	उपजाति
७६	-	वसन्ततिलका
७७	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा = उपजाति
७८ और ७९	-	उपजाति
८० से ८२ तक	-	स्वागता
८३	-	शार्दूलविक्रीडित

चतुर्थ सर्ग

१ से ३ तक	-	द्रुतविलम्बित
४ से १० तक	-	वियोगिनी
११ से १७ तक	-	द्रुतविलम्बित
१८	-	स्वागता
१९	-	शार्दूलविक्रीडित
२०	-	स्रग्धरा
२१ से ३७ तक	-	वियोगिनी
३८	-	शार्दूलविक्रीडित
३९	-	शिखरिणी
४०	-	शार्दूलविक्रीडित
४१	-	शिखरिणी
४२	-	शार्दूलविक्रीडित
४३	-	शिखरिणी
४४ और ४५	-	वियोगिनी
४६	-	वसन्ततिलका

चतुर्थ सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
४७	-	शिखरिणी
४८ से ५३	-	वियोगिनी
५४ और ५५	-	शिखरिणी
५६ और ५७	-	शार्दूलविक्रीडित
५८ से ६०	-	शिखरिणी
६१	-	शार्दूलविक्रीडित
६२ से ६४ तक	-	वियोगिनी
६५ से ७० तक	-	शार्दूलविक्रीडित
७१ से ७५ तक	-	वियोगिनी
७६ और ७७	-	शार्दूलविक्रीडित
७८	-	शिखरिणी
७९ से ८५ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
८६	-	पृथ्वी
८७ से ९२ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
९३	-	स्रग्धरा
९४	-	मन्दाक्रान्ता
९५ और ९६	-	स्रग्धरा
९७	-	शार्दूल विक्रीडित
९८ और ९९	-	वियोगिनी
१०० से १०२ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
१०३	-	स्रग्धरा
१०४ और १०५	-	शार्दूलविक्रीडित
१०६ और १०७	-	वियोगिनी
१०८	-	वंशस्थ
१०९ और ११०	-	शार्दूलविक्रीडित

पञ्चम सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
१	-	वियोगिनी
२ से ४ तक	-	द्रुतविलम्बित
५ से २६ तक	-	स्वागता
३० से ३२ तक	-	वियोगिनी
३३ और ३४	-	वसन्ततिलका
३५ से ५८ तक	-	वियोगिनी
५६	-	उपजाति
६० से ६७ तक	-	द्रुतविलम्बित
६८ से ८१ तक	-	वसन्ततिलका
८२	-	उपजाति
८३	-	पृथ्वी
८४ और ८५	-	शार्दूलविक्रीडित
८६	-	द्रुतविलम्बित
८७	-	वसन्ततिलका
८८	-	रथोद्धता
८९	-	शार्दूलविक्रीडित
९० से ९५ तक	-	वसन्ततिलका
९६	-	पृथ्वी
९७	-	मालिनी
९८ से १०१ तक	-	वसन्ततिलका
१०२ से १०४ तक	-	स्वागता
१०५ और १०६	-	वसन्ततिलका
१०७ से १०९ तक	-	स्वागता
११० से ११३ तक	-	शिखरिणी

पञ्चम सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
११४ से ११७ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
११८ से १२५ तक	-	स्वागता
१२६ से १२८ तक	-	शिखरिणी
१२९ से १७१ तक	-	स्वागता
१७२	-	पृहर्षिणी

षष्ठ सर्ग

१	-	उपजाति
२ से ४ तक	-	वसन्ततिलका
५	-	उपजाति
६	-	शिखरिणी
७ से ९ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
१० और ११	-	शिखरिणी
१२	-	शार्दूलविक्रीडित
१३ और १४	-	उपजाति
१५	-	वसन्ततिलका
१६	-	शालिनी
१७ और १८	-	स्वागता
१९ से २९ तक	-	स्वागता
३० से ३२ तक	-	उपजाति
३३ से ४० तक	-	स्वागता
४१	-	शालिनी
४२ और ४३	-	शिखरिणी
४४ से ५३ तक	-	स्वागता

षष्ठ सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
५४ और ५५	-	वसन्ततिलका
५६	-	इन्द्रवज्रा
५७ से ६० तक	-	वसन्ततिलका
६१	-	पुष्पिताग्रा
६२ से ६५ तक	-	उपजाति
६६	-	वियोगिनी
६७	-	द्रुतविलम्बित
६८ से ७२ तक	-	वसन्ततिलका
७३ से ७६ तक	-	स्वागता
७७	-	इन्द्रवज्रा
७८	-	मन्दाक्रान्ता
७९	-	शार्दूलविक्रीडित
८० से ८३ तक	-	उपजाति
८४	-	पृथ्वी
८५	-	शार्दूलविक्रीडित
८६ से ८९ तक	-	स्रग्धरा
९० और ९१	-	शार्दूलविक्रीडित
९२ से ९४ तक	-	शिखरिणी
९५	-	स्रग्धरा
९६ और ९७	-	शार्दूलविक्रीडित
९८	-	उपेन्द्रवज्रा
९९ से १०१ तक	-	उपजाति
१०२	-	स्वागता
१०३	-	शालिनी
१०४ से १०६ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
१०७	-	स्रग्धरा

सप्तम सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
१	-	उपजाति
२	-	इन्द्रवज्रा
३ से ६	-	उपजाति
७	-	इन्द्रवज्रा
८	-	उपजाति
९	-	उपेन्द्रवज्रा
१० से १४ तक	-	उपजाति
१५ से १७ तक	-	वसन्ततिलका
१८	-	इन्द्रवज्रा
१९ से २१ तक	-	उपजाति
२२	-	इन्द्रवज्रा
२३ और २४	-	उपजाति
२५	-	वसन्ततिलका
२६ से २८ तक	-	उपजाति
२९ और ३०	-	वसन्ततिलका
३१ और ३२	-	उपजाति
३३ और ३४	-	उपेन्द्रवज्रा
३५	-	वसन्ततिलका
३६	-	उपेन्द्रवज्रा
३७	-	इन्द्रवज्रा
३८	-	उपेन्द्रवज्रा
३९	-	उपजाति
४०	-	वसन्ततिलका
४१ से ४४	-	उपजाति
४५	-	इन्द्रवज्रा
४६ और ४७	-	वसन्ततिलका

सप्तम सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
४८ से ५० तक	-	उपजाति
५१ और ५२	-	उपेन्द्रवज्रा
५३ और ५४	-	उपजाति
५५	-	वसन्ततिलका
५६ से ५८ तक	-	उपजाति
५६ से ६१ तक	-	वसन्ततिलका
६२	-	उपजाति
६३	-	वसन्ततिलका
६४	-	उपजाति
६५	-	वसन्ततिलका
६६	-	इन्द्रवज्रा
६७ से ७० तक	-	वसन्ततिलका
७१ से ८१ तक	-	उपजाति
८२	-	शालिनी
८३	-	उपजाति
८४	-	उपेन्द्रवज्रा
८५ और ८६	-	उपजाति
८७	-	वंशस्थ
८८	-	उपेन्द्रवज्रा
८६ से ६७ तक	-	उपजाति
६८	-	वंशस्थ
६६ से १०३ तक	-	उपजाति
१०४ से १०७ तक	-	वसन्ततिलका
१०८	-	उपजाति

सप्तम सर्ग

श्लोक संख्या		छन्द का नाम
१०६ और ११०	-	वसन्ततिलका
१११ और ११२	-	इन्द्रवज्रा
११३	-	उपेन्द्रवज्रा
११४ और ११५	-	वंशस्थ
११६ से ११८ तक	-	वसन्ततिलका
११६	-	उपजाति
१२०	-	वसन्ततिलका
१२१	-	मालिनी

अष्टम सर्ग

१	-	उपजाति
२	-	उपेन्द्रवज्रा
३ से ८ तक	-	उपजाति
६	-	इन्द्रवज्रा
१०	-	उपेन्द्रवज्रा
११ से १३ तक	-	उपजाति
१४ और १५	-	वंशस्थ
१६	-	अनिर्णीत
१७	-	शुद्धगीता
१८	-	अनिर्णीत
१६ से ३१ तक	-	शुद्धगीता
३२	-	उपजाति

अष्टम सर्ग

श्लोक संख्या		छन्द का नाम
३३	-	स्वागता
३४	-	इन्द्रवज्रा
३५ और ३६	-	उपजाति
३७ से ४५ तक	-	द्रुतविलम्बित
४६ से ५५ तक	-	उपजाति
५६	-	मालिनी
५७	-	शार्दूलविक्रीडित
५८	-	उपेन्द्रवज्रा
५९ और ६०	-	उपजाति
६१	-	शार्दूलविक्रीडित
६२	-	वसन्ततिलका
६३	-	उपजाति
६४	-	स्रग्धरा
६५	-	उपजाति
६६ से ६९ तक	-	वसन्ततिलका
७०	-	उपेन्द्रवज्रा
७१ और ७२	-	उपजाति
७३	-	वसन्ततिलका
७४ से ७६ तक	-	उपजाति
७७	-	इन्द्रवज्रा
७८ से ८६ तक	-	उपजाति
८७	-	इन्द्रवज्रा
८८ से ९३ तक	-	उपजाति
९४	-	इन्द्रवज्रा

अष्टम सर्ग

श्लोक संख्या		छन्द का नाम
९५	-	उपजाति
९६	-	इन्द्रवज्रा
९७ से १०० तक	-	उपजाति
१०१	-	इन्द्रवज्रा
१०२ से ११२ तक	-	उपजाति
११३	-	इन्द्रवज्रा
११४ से ११८	-	उपजाति
११९	-	इन्द्रवज्रा
१२०	-	उपजाति
१२१	-	इन्द्रवज्रा
१२२ और १२३	-	उपजाति
१२४	-	उपेन्द्रवज्रा
१२५	-	इन्द्रवज्रा
१२६ से १३० तक	-	उपजाति
१३१	-	शार्दूलविक्रीडित
१३२ और १३३	-	वसन्ततिलका
१३४ और १३५	-	उपजाति
१३६	-	मालिनी

नवम सर्ग

१ से २१ तक	-	प्रमिताक्षरा
२२	-	शार्दूलविक्रीडित
२३ और २४	-	प्रमिताक्षरा

नवम सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
२५	-	पृथ्वी
२६ से २८ तक	-	शिखरिणी
२९ और ३०	-	प्रमिताक्षरा
३१	-	शिखरिणी
३२	-	स्रग्धरा
३३ से ३६ तक	-	प्रमिताक्षरा
३७ से ३९ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
४० से ४२ तक	-	स्रग्धरा
४३ से ६८ तक	-	प्रमिताक्षरा
६९	-	वंशस्थ
७०	-	वंशस्थ + इन्द्रवज्रा = उपजाति
७१ से ७४ तक	-	प्रमिताक्षरा
७५ से ८५ तक	-	उपजाति
८६	-	इन्द्रवज्रा
८७ से ८९	-	प्रमिताक्षरा
९० और ९१	-	उपजाति
९२ से १०५ तक	-	प्रमिताक्षरा
१०६	-	उपजाति
१०७ और १०८	-	वसन्ततिलका
१०९	-	मन्दाक्रान्ता

दशम सर्ग

१ से ५ तक	-	द्रुतविलम्बित
६ और ७	-	पुष्पिताग्रा

दशमसर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
८	-	शालिनी
९ से ११ तक	-	वियोगिनी
१२ से १६ तक	-	हरिणी
१७ और १८	-	उपजाति
१९ से २१ तक	-	प्रहर्षिणी
२२	-	तोटक
२३	-	शार्दूलविक्रीडित
२४ और २५	-	वियोगिनी
२६ और २७	-	द्रुतविलम्बित
२८	-	पृथ्वी
२९	-	शार्दूलविक्रीडित
३०	-	प्रमिताक्षरा
३१	-	मत्तमयूरम
३२ और ३३	-	भुजङ्गप्रयात
३४ और ३५	-	स्रग्विणी
३६ से ४४ तक	-	पादाकुलक
४५	-	इन्दुवदना
४६ से ५५ तक	-	अनिर्णीत
५६	-	उपगीति
५७	-	वसन्ततिलका
५८ से ६२ तक	-	पुष्पिताग्रा
६३	-	अनिर्णीत
६४	-	उपेन्द्रवज्रा
६५	-	रथोद्धता
६६	-	अनिर्णीत

दशम सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
६७	-	द्रुतविलम्बित
६८	-	वंशस्थ
६९ से ७१ तक	-	शालिनी
७२	-	उपजाति
७३	-	वसन्ततिलका
७४	-	मात्रा समकं
७५	-	वसन्ततिलका
७६ और ७७	-	उपजाति
७८	-	इन्द्रवंशा
७९	-	वसन्ततिलका
८०	-	इन्द्रवज्रा
८१	-	वसन्ततिलका
८२	-	उपजाति
८३	-	वियोगिनी
८४	-	इन्द्रवज्रा
८५ और ८६	-	उपजाति
८७	-	वसन्ततिलका
८८	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा
८९	-	वसन्ततिलका
९०	-	शालिनी
९१	-	शार्दूलविक्रीडित
९२	-	वसन्ततिलका
९३	-	उपेन्द्रवज्रा

दशम सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
९४	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा = उपजाति
९५ और ९६	-	वियोगिनी
९७	-	वंशस्थ
९८ और ९९	-	उपजाति
१००	-	वंशस्थ
१०१	-	उपजाति
१०२	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
१०३	-	वसन्ततिलका
१०४	-	उपजाति
१०५	-	मालिनी
१०६	-	द्रुतविलम्बित
१०७	-	उद्गीति
१०८	-	आर्यागीति
१०९	-	पञ्चचामरम्
११०	-	औपच्छन्दसिक
१११	-	भुजङ्गप्रयात
११२	-	वियोगिनी
११३	-	औपच्छन्दसिक
११४ से ११६ तक	-	वसन्ततिलका
११७ और ११८	-	शार्दूलविक्रीडित
११९	-	पृथ्वी

एकादश सर्ग

१	-	इन्द्रवज्रा
२ से ५ तक	-	उपजाति

एकादश सर्ग

श्लोक संख्या		छन्द का नाम
६	-	उपेन्द्रवज्रा
७ से ११ तक	-	उपजाति
१२	-	उपेन्द्रवज्रा
१३ से २१	-	उपजाति
२२	-	उपेन्द्रवज्रा
२३	-	उपजाति
२४	-	उपेन्द्रवज्रा
२५	-	इन्द्रवज्रा
२६	-	उपजाति
२७	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा
२८ और २९	-	वसन्ततिलका
३० और ३१	-	इन्द्रवज्रा
३२	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा
३३ से ३६	-	उपजाति
३७	-	उपेन्द्रवज्रा
३८ से ५८ तक	-	उपजाति
५९	-	उपेन्द्रवज्रा
६० से ६७ तक	-	द्रुतविलम्बित
६८ और ६९	-	उपजाति
७०	-	इन्द्रवज्रा
७१ से ७३ तक	-	स्रग्धरा
७४	-	वसन्ततिलका
७५	-	उपजाति

द्वादश सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
१ से ३ तक	-	उपजाति
४	-	इन्द्रवज्रा
५	-	उपजाति
६	-	इन्द्रवज्रा
७ और ८	-	उपजाति
९	-	इन्द्रवज्रा
१० से १७ तक	-	उपजाति
१८	-	इन्द्रवज्रा
१९ से २५ तक	-	उपजाति
२६ से २८ तक	-	इन्द्रवज्रा
२९	-	उपजाति
३०	-	इन्द्रवज्रा
३१ और ३२	-	उपजाति
३३	-	इन्द्रवज्रा
३४ से ३७ तक	-	उपजाति
३८ और ३९	-	वसन्तमालिका
४० से ४३	-	उपजाति
४४	-	इन्द्रवज्रा
४५	-	उपेन्द्रवज्रा
४६	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
४७	-	उपजाति
४८ से ५० तक	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
५१ से ५४	-	उपजाति
५५	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
५६ से ६०	-	उपजाति
६१ और ६२	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ

द्वादश सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
६३ और ६४	-	उपजाति
६५ और ६६	-	इन्द्रवज्रा
६७ से ७०	-	उपजाति
७१ और ७२	-	वसन्ततिलका
७३	-	वंशस्थ
७४	-	उपजाति
७५	-	वसन्ततिलका
७६ से ७९ तक	-	स्वागता
८० और ८१	-	शार्दूलविक्रीडित
८२ और ८३	-	मालभारिणी
८४	-	शालिनी
८५	-	वसन्ततिलका
८६	-	स्वागता
८७	-	शिखरिणी
८८	-	स्रग्धरा
८९	-	शिखरिणी

त्रयोदश सर्ग

१ से ९ तक	-	उपजाति
१०	-	वसन्ततिलका
११ से १४ तक	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
१५ से २० तक	-	उपजाति
२१	-	वसन्ततिलका

त्रयोदश सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
२२ से २७ तक	-	उपजाति
२८	-	इन्द्रवज्रा
२९ से ४१ तक	-	उपजाति
४२	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा
४३	-	उपेन्द्रवज्रा
४४ से ४८ तक	-	शालिनी
४९ और ५०	-	वसन्ततिलका
५१ और ५२	-	शालिनी
५३	-	इन्द्रवज्रा
५४	-	उपजाति
५५	-	इन्द्रवज्रा
५६ और ५७	-	उपजाति
५८ और ५९	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा
६० और ६१	-	उपजाति
६२	-	स्रग्धरा
६३	-	शार्दूलविक्रीडित
६४ और ६५	-	वसन्ततिलका
६६	-	उपजाति
६७	-	वसन्ततिलका
६८	-	उपजाति
६९	-	वसन्ततिलका
७०	-	माधव
७१ से ७३ तक	-	वसन्ततिलका
७४	-	उपजाति
७५	-	प्रहर्षिणी

चतुर्दश सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
१ से ४ तक	-	उपजाति
५	-	वसन्ततिलका
६	-	उपजाति
७	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
८	-	वसन्ततिलका
९	-	उपजाति
१०	-	वसन्ततिलका
११	-	उपजाति
१२	-	वसन्ततिलका
१३	-	उपजाति
१४	-	उपेन्द्रवज्रा
१५	-	शालिनी
१६	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ = उपजाति
१७ और १८	-	वंशस्थ
१९	-	वियोगिनी
२०	-	वसन्ततिलका
२१	-	मन्दाक्रान्ता
२२	-	स्रग्धरा
२३ से २५ तक	-	मन्दाक्रान्ता
२६	-	शालिनी
२७	-	पृथ्वी
२८	-	वसन्ततिलका
२९	-	मालभारिणी
३० और ३१	-	उपजाति
३२	-	इन्द्रवज्रा

चतुर्दश सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
३३ और ३४	-	उपजाति
३५	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
३६ से ३८ तक	-	उपजाति
३९ से ४२ तक	-	वसन्ततिलका
४३-४४	-	उपजाति
४५ से ४७	-	कालभारिणी
४८	-	उपजाति
४९	-	उपेन्द्रवज्रा
५० और ५१	-	उपजाति
५२	-	वसन्ततिलका
५३	-	उपजाति
५४	-	पृथ्वी
५५	-	मञ्जुभाषिणी
५६	-	रथोद्धता
५७	-	शार्दूलविक्रीडित
५८	-	वसन्ततिलका
५९ से ६१ तक	-	शालिनी
६२ और ६३	-	रथोद्धता
६४	-	वसन्ततिलका
६५	-	उपजाति
६६	-	उपेन्द्रवज्रा
६७	-	शार्दूलविक्रीडित
६८	-	शालिनी
६९ और ७०	-	उपजाति
७१ से ७३ तक	-	रथोद्धता

चतुर्दश सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
७४	-	शालिनी
७५ से ८० तक	-	उपजाति
८१	-	इन्द्रवज्रा
८२	-	वंशस्थ
८३ से ८५ तक	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
८६ से ८९ तक	-	उपजाति
९०	-	वसन्ततिलका
९१	-	शार्दूलविक्रीडित
९२	-	रथोद्धता
९३	-	उपजाति
९४ और ९५	-	शालिनी
९६ से १०० तक	-	उपजाति
१०१	-	वंशस्थ
१०२	-	उपजाति
१०३ से १०५	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
१०६	-	शिखरिणी
१०७ से १०९	-	शालिनी
११०	-	उपजाति
१११ से ११३	-	शालिनी
११४	-	उपजाति
११५	-	इन्द्रवंशा
११६ से ११८	-	उपजाति
११९	-	वसन्ततिलका
१२०	-	उपजाति

चतुर्दश सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
१२१ और १२२	-	वंशस्थ
१२३	-	उपजाति
१२४	-	इन्द्रवज्रा
१२५ से १२८	-	उपजाति
१२९	-	वंशस्थ + इन्द्रवंशा
१३० और १३१	-	उपजाति
१३२ से १३९ तक	-	शालिनी
१४०	-	वसन्ततिलका
१४१	-	इन्द्रवज्रा
१४२	-	शालिनी
१४३	-	इन्द्रवज्रा
१४४	-	शालिनी
१४५	-	शार्दूलविक्रीडित
१४६	-	उपजाति
१४७	-	पादाकुलक
१४८	-	वसन्ततिलका
१४९ से १५६ तक	-	कालभारिणी
१५७	-	स्वागता
१५८	-	शार्दूलविक्रीडित
१५९ और १६२	-	[illegible] मालभारिणी
१६३	-	उपचित्रा वृत्त
१६४	-	पादाकुलक
१६५	-	शिखरिणी
१६६ और १६७	-	वसन्ततिलका
१६८	-	शालिनी

चतुर्दश सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
१६६	-	मन्दाक्रान्ता
१७० से १७४ तक	-	मालभारिणी
१७५	-	शार्दूल विक्रीडित

पञ्चदश सर्ग

१ से १६२ तक	-	वसन्तमालिका
१६३ से १६६ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
१७०	-	स्रग्धरा
१७१ से १७३ तक	-	शार्दूलविक्रीडित
१७४	-	मालिनी

षोडश सर्ग

१	-	द्रुत विलम्बित
२ और ३	-	वसन्तमालिका
४ से ८ तक	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
९ से १३ तक	-	उपजाति
१४ और १५	-	वसन्ततिलका
१६ और १७	-	उपजाति
१८	-	द्रुतविलम्बित
१९	-	सुन्दरी
२० से ३२ तक	-	द्रुतविलम्बित
३३ से ४८ तक	-	शालिनी
४९ और ५०	-	उपजाति
५१	-	इन्द्रवज्रा
५२ से ५४ तक	-	उपजाति

षोडश सर्ग

श्लोक संख्या		छन्द का नाम
५५ से ५७ तक	-	शालिनी
५८	-	इन्द्रवज्रा
५९ और ६०	-	उपजाति
६१	-	नर्कुटकम्
६२	-	उपजाति
६३	-	इन्द्रवंशा + वंशस्थ
६४ से ६६ तक	-	इन्द्रवज्रा
६७ से ७१ तक	-	उपजाति
७२	-	वंशस्थ
७३	-	उपजाति
७४	-	वंशस्थ
७५	-	उपजाति
७६	-	इन्द्रवज्रा
७७	-	उपजाति
७८	-	वसन्ततिलका
७९	-	उपजाति
८०	-	शालिनी
८१	-	उपजाति
८२	-	वसन्ततिलका
८३	-	उपजाति
८४	-	इन्द्रवज्रा
८५	-	वसन्ततिलका
८६	-	उपजाति
८७	-	वसन्ततिलका
८८ से ९० तक	-	स्रग्धरा
९१	-	पृथ्वी

षोडश सर्ग

श्लोक सङ्ख्या		छन्द का नाम
९२	-	पुष्पिताग्रा
९३	-	मालिनी
९४	-	कालभारिणी
९५	-	कुसुमस्तवक
९६	-	उपजाति
९७	-	स्रग्धरा
९८ और ९९	-	शार्दूलविक्रीडित
१००	-	मत्तमातङ्गलीलाकर
१०१	-	उपजाति
१०२	-	वसन्ततिलका
१०३	-	मालिनी
१०४	-	मन्दाक्रान्ता
१०५	-	शिखरिणी
१०६	-	शार्दूलविक्रीडित
१०७	-	स्रग्धरा

३- निष्कर्ष

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में छन्दों का प्रयोग देखकर यह कहा जा सकता है :

क- इसमें साहित्यशास्त्र में विहित एक सर्ग में एक छन्द तथा सर्ग के अन्त में भिन्न छन्द के प्रयोग के नियम का अनुकरण नहीं किया गया है ।

ख- भाषा-भाव के अनुरूप पुनः पुनः छन्दपरिवर्तन अत्यन्त सटीक प्रतीत होता है ।

ग- दशम सर्ग में सर्वाधिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं ।

घ- एक सर्ग में कम से कम ४ और अधिक से अधिक २७ छन्दों का प्रयोग हुआ ।

ङ०- " श्रीशङ्०करदिग्विजय " में कई श्लोक ऐसे हैं जिनमें न वर्णों की समानता है और न मात्राओं की समानता है । इसके अतिरिक्त विषम वृत्तों के लक्षण भी उसमें घटित नहीं हो पाते हैं इसलिये उन श्लोकों में छन्दनिर्णय असम्भव हो गया है । ऐसे स्थलों को पूर्व पृष्ठों[१] पर " अनिर्णीत " पद से इङ्०गत कर दिया गया है ।

च- इसमें उपजाति नामक छन्द का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है । इसके दो कारण हो सकते हैं : अ- कवि का प्रिय छन्द " उपजाति " रहा हो । ब- ग्रन्थ को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से अत्यन्त सरल इस छन्द का प्रयोग किया गया हो ।

१- द्रष्टव्य - प्रस्तुत शोध प्रबन्ध , पृ० सं० २५६ से २६२

सप्तम अध्याय

श्रीशङ्करदिग्विजय में अलङ्कार सुषमा

१- अवतारणा

मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्यप्रिय होता है । वह अपने जीवन के सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक रमणीय वस्तु का ही आदर करता है । वह सदैव सजी-सँवरी वस्तु को प्राप्त करने के लिये लालायित रहता है । मानव की इस प्रवृत्ति से हमारा काव्य-जगत् अछूता नहीं है । प्रत्येक कवि अपने काव्य को सजाने-सँवारने का भरपूर प्रयत्न करता है । सौन्दर्ययुक्त काव्य सहृदयों के आकर्षण का केन्द्र होता है । काव्य के सौन्दर्य के एक साधन के रूप में हमारे आचार्यों ने विभिन्न अलङ्कारों की कल्पना की है ।

' अलङ्कार ' शब्द अपने व्यापक अर्थ में काव्य-शोभा अथवा काव्यसौन्दर्य का वाचक है परन्तु सङ्कुचित अर्थ में यह काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व है । अलङ्कारयुक्त काव्य उत्कृष्ट कोटि के काव्य माने जा सकते हैं परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि अलङ्कारविहीनकाव्य ' काव्य ' की श्रेणी में नहीं आयेंगे । आचार्य मम्मट ने तो काव्य के लिये अलङ्कारों की अनिवार्यता को साफ शब्दों में नकार दिया है ।[१]

श्रीशङ्करदिग्विजयकार माधवाचार्य आचार्य मम्मट के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं । इनके ग्रन्थ में स्वतः स्फुरित अलङ्कारों को ही स्थान मिल पाया है । वक्रोक्ति , श्लेष और चित्र जैसे आयासजन्य अलङ्कारों के प्रति माधवाचार्य की विशेष रुचि नहीं थी । चित्र अलङ्कार का तो इस

- -

१- तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि । का० प्र० १-सू० सं०- १ ।

नोट - यहाँ ' तद् ' पद ' काव्यम् ' का सङ्केतक है ।

ग्रन्थ में दर्शन हो नहीं होता । अलङ्कारों की दृष्टि से ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' का चतुर्थ सर्ग प्रशस्य है । इस सर्ग के प्रत्येक श्लोक में दो-तीन अलङ्कारों की उपस्थिति देखी जा सकती है । आगे ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में विद्यमान अलङ्कारों का अध्ययन किया जा रहा है ।

१- अनुप्रास

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार का सर्वाधिक स्थल दिखाई पड़ता है । सम्पूर्ण ग्रन्थ में इसकी छटा छायी हुई है । लगभग प्रत्येक सर्ग की अनुप्रासजन्य मनोहारिता इसमें विद्यमान है ।

आचार्यों ने वर्णों की समानता[1] में अनुप्रास का सौन्दर्य देखा है । इसके कई भेद भी कल्पित किये गये हैं । यथा - छेकानुप्रास , वृत्त्यनुप्रास , लाटानुप्रास , श्रुत्यनुप्रास तथा अन्त्यानुप्रास ।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में कहीं-कहीं तो पूरे श्लोक में एकाधिक वर्णों की झड़ी लग गयी है जो अतीव मनोहारिणी है । इसके कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

' धृ ' वर्णों की आवृत्ति

वृथा पथविनाकृता प्रशमिताविधाऽमृणोधा सुधा
स्वाधा माधुदरातिबोधभिदुराऽमेधा निषाधायिता ।
विधानामनधोधमा सुचरिता साधापहुधापिनी
पधा मुक्तिपदस्य साऽघ मुनिवाङ्गनुधादनाधा रुच: ।।

श्रीश० दि० , ४-८४

- -

१- वर्णसाम्यमनुप्रासः । का० प्र० , सू० सं० - १०३

' कृण् ' वर्णों की आवृत्ति

तथादुग्धमुनिद्रापाकरवचः शिशाक्षपद्माश्रयः
धारं धीरमुदीदाति बुधजनो न धीद्रमाकाङ्क्षति ।
कदां दीपयति द्विजो खलु खिलां नैदुं दाणं प्रैदाति
द्राक्षां नापि दिदृक्षाति न कदलीं दाद्रीं जिघृक्षात्यलम् ।।

श्रीश० दि० , ४-६०

' ष्ट ' वर्णों की एक साथ आवृत्ति

दृष्ट्वैव हृष्टः स चिरादभीष्टं निधायि संसिद्धमिव स्वमिष्टम् ।
महद्विशिष्टं निजलाभतुष्टं विस्पष्टमाचष्ट च कृत्यशिष्टम् ।।

श्रीश० दि० , ११-३

' ङ्गम् ' वर्णों की एक साथ आवृत्ति प्रत्येक पदान्त में द्रष्टव्य है -

नमन्मौलिभृङ्गं नमौलिक्षिङ्गं त्रुटत्पापसङ्गं रटत्पदिभृङ्गम् ।
समाश्लिष्टगङ्गं प्रहृष्टान्तराङ्गं तमारुह्य तुङ्गं ददर्शैशलिङ्गम् ।।

श्रीश० दि० , १०-१११

' स्व और स्म ' वर्णों की आवृत्ति

पर्वेशश्मिसुखस्वीमपहायी पूर्वीकुर्वीदिह गर्वीमनुसृत्य कुर्वपूर्वीम् ।
न स्मरसि वस्त्वस्मदीयमिति कस्मात्संस्मर तदस्मर परमस्मदुक्त्या ।।

श्रीश० दि० , १०-४७ ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में अनुप्रास अलङ्कार के लगभग सभी भेद दृष्टिगोचर होते हैं । आगे अनुप्रास अलङ्कार के सभी भेदों का " श्रीशङ्करदिग्विजय " के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जा रहा है । इस अध्ययन में अनुप्रास अलङ्कार के उदाहरणों को वर्णक्रम से ग्रहण किया गया है ।

क- वृत्त्यनुप्रास और छेकानुप्रास

एक या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति वृत्त्यनुप्रास है और अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति छेकानुप्रास है । " श्रीशङ्करदिग्विजय " में विद्यमान वृत्त्यनुप्रास का यहाँ प्रमुखता से और प्रसङ्गवश विद्यमान छेकानुप्रास का वर्णक्रमानुसार विवरण इस प्रकार है :

" क् " वर्ण की वृत्त्यनुप्रासिकता -

क्रूराणां कवितावलां कतिपयैः कष्टेन कृष्टैः पदैः

श्रीश० दि० , १-१६

यहाँ क् वर्ण की अनेकधा आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है । " कवितावलां " पद में व् और त् की एक बार आवृत्ति और " कष्टेन कृष्टैः " पदों में भी ष्ट्‌वर्णों की एक बार आवृत्ति होने से इन दोनों स्थलों में छेकानुप्रास का सौन्दर्य विद्यमान है ।

" ख् " वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

अखिलैः खिलं खलु खलैर्दुरापि विमिर्वैदिकम्

श्रीश० दि० , १५-१६४

यहाँ ख् वर्ण के साथ-साथ ल् वर्ण की भी अनेकधा आवृत्ति हुई है । अतः यहाँ वृत्त्यनुप्रास है ।

' ग् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

कवेर्मिशङ्करसद्गुरोर्गुणगणा ---------- ।

श्रीश० दि० , १-६

यहाँ ' ग् ' वर्ण की अनेकधा आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है । परन्तु ' गुणगणा ' पद में ग् और ण् वर्णों की एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास माना जा सकता है ।

' घ् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

घनाघनघनारवप्रथमबन्धुभिर्दुन्दुभिः ।

श्रीश० दि० , १६-६१

यहाँ ' घ् ' और ' न् ' दोनों वर्णों का वृत्त्यनुप्रास रमणीय है । इसके अतिरिक्त ' भ् ' और ' द् ' वर्णों की एक बार आवृत्ति होने पर भी क्रमत: साम्य के अभाव में वृत्त्यनुप्रास है ।

' च् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

कच्चित्कच्चरसुच्चटच्चरजरत्कन्थानुबद्धादरम् ।

श्रीश० दि० , ४-८६

यहाँ ' च् ' की अनेकधा आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास का चमत्कार है परन्तु क् के साथ च् की एक बार आवृत्ति होने में छेकानुप्रास का भी चमत्कार विद्यमान है ।

' ज् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

ज्वलनज्वालजटाछटस्त्रिशूली ।

श्रीश० दि० , १५-२६

यहाँ ' ज् ' और ' ट् ' वर्णों की अनेकधा आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास का चमत्कार है परन्तु ज् व् और ट् इन तीनों वर्णों की क्रम से एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास माना जा सकता है ।

' ट् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

जाटाटङ्कजटाकुटीरविहरन्न -------- ।

श्रीश० दि० , ४-७६

यहाँ ' ट् ' वर्ण की अनेकधा आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ।

' त् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

तयोर्विवेक्तुं तुलतारतम्यं ।

श्रीश० दि० , ८-५६

यहाँ ' त् ' की अनेक बार आवृत्ति होने के कारण वृत्त्यनुप्रास है ।

' थ् ' वर्ण का अनुप्रास -

तथागतपथात्त ।

श्रीश० दि० , ४-८६

' द् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

दु:खासारदुरन्तदुष्कृतघनां दु:संसृतिप्रावृषं ।
दुर्वारामिह दारुणां परिहरन्दूराद्दुराराशय: ।।

श्रीश० दि० , ५-११४

यहाँ ' द् ' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति होने के कारण वृत्त्यनुप्रास है ।

' धृ ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

सुधामाधुरीसाधुरीतिः ।

श्रीश० दि० , ६-६५

यहाँ ' धृ ' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है परन्तु ' माधुरीसाधुरी ' इस पदांश में ' धृ ' और ' र् ' वर्णों का क्रम से एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास है ।

' न् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

' न् ' वर्ण का अनुप्रास ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में यत्र-तत्र छिटका हुआ है । उनमें से एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है -

निशान्तकान्तानटनोपदेष्टा नितान्तमस्यामवदन्तरङ्गः ।

श्रीश० दि० , ६-८४

यहाँ ' न् ' की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है परन्तु ' निशान्तकान्ता ' पद में प्रयुक्त ' न् ' और ' त् ' वर्णों की क्रम से एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास है ।

' प् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

सद्गुरुकृपापीयूषपारम्परी ---- ।

श्रीश० दि० , १-६

यहाँ ' प् ' वर्ण की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ।

' म् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

भान्ति भानि शुचिमानि शुभानि ।

श्रीश० दि० , ५-१४३ ।

यहाँ " म् " के साथ " न् " वर्ण का भी अनेकधा आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ दोनों वर्णों का वृत्त्यनुप्रासत्व निर्विवाद है।

" म् " वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

मौचामाचाममन्थौ मधुरिमगरिमा शङ्करात्रायी वाचा ।

श्रीश० दि० , ४-६३

यहाँ " म् " की अनेकधा आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास का चमत्कार है परन्तु " मौचामाचा " पदांश में " म् " और " च् " वर्णों की क्रम से एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास है। इसी प्रकार " मधुरिम गरिमा " पद में " र् " और " म् " वर्णों की क्रम से एक बार आवृत्ति हुई है। अतः यहाँ भी छेकानुप्रास है।

" य् " वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

नृत्यन्मृत्युञ्जयौ ------- । श्रीश० दि० , १-१४.

यहाँ " य् " की अनेकधा आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है। " नृत्यन्मृत्यु " पद में " त् " के साथ " य् " की क्रमेण एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास माना जा सकता है।

" र् " वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

घोणवारिभिरभीरुनराणां -------- । श्रीश० दि० , ५-३७

यहाँ " र् " वर्ण की अनेकधा आवृत्ति हुई है।

" ल् " वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

धम्मिल्ले नवमल्लिमल्लिकुसुमप्रकल्पनाशिल्पिनी । श्रीश० दि० ,४-१००

इसके अतिरिक्त ' समुल्लोल कल्लोलभङ्गी ' - श्रीश० दि० , १२-८८ में भी ' ल् ' वर्ण की अनेकधा आवृत्ति होने के कारण दोनों उदाहरणों में वृत्त्यनुप्रास है । ' कल्पनाशिल्पिनो ' पद में ' ल्प्न् ' वर्णों की क्रम से एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास भी विद्यमान है ।

' व् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

स्वावर्वगवविलीम् । श्रीश० दि० , ४-६६

' स् ' वर्ण का वृत्त्यनुप्रास -

सौदामनीसाधितसम्प्रदायसमर्थनादेशिकमन्यतश्च । श्रीश० दि० , १२-३

यहाँ ' स् ' वर्ण की कई बार आवृत्ति अनेक वर्णों के व्यवधान के पश्चात् हुई तथापि अनुप्रास का सौन्दर्य उत्पन्न कर रही है ।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में संयुक्ताक्षरों का वृत्त्यनुप्रास भी दृष्टिगोचर होता है । इनका कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है -

' न्द् ' का वृत्त्यनुप्रास -

अवदन्नन्दनं स्कन्दममन्दं चन्द्रशेखर: ।
दन्तचन्द्रातपानन्दिवृन्दारककोरक: ।। श्रीश० दि० , १-४७

यहाँ ' न् ' के साथ साथ ' द् ' वर्ण का भी वृत्त्यनुप्रास विद्यमान है । ' वृन्दारककोरक: ' पद में ' र् ' ' क् ' वर्णों की क्रम से एक बार आवृत्ति हुई है । अत: इस अंश में छेकानुप्रास भी दर्शनीय है ।

न् और त् दो वर्णों की एक साथ वृत्त्यनुप्रासिकता

चिन्तासन्तानतन्तुग्रथितनव ------ । श्रीश० दि० , ६-४०

' स्म् ' वर्णों का वृत्त्यनुप्रासत्व -

प्रबले सति हा भगन्दराख्ये स्मरति स्म स्मरशासनं मुनीन्द्र: ।

श्री० दि० , १६-२८

' श्च् ' वर्णों का वृत्त्यनुप्रास -

कश्चिद्विपश्चिदिह निश्चलधीर्विरेजे । श्री० दि० , २-४

' प्स् ' वर्णों का वृत्त्यनुप्रास -

अप्सां द्रप्सं सुलिप्सं । श्री० दि० , ४-६३

' र्ण् ' वर्णों का वृत्त्यनुप्रास -

वात्यातूर्णविघूर्णदर्णविषय: ------ । श्री० दि० , ४-८३

छेकानुप्रास

अभी तक वृत्त्यनुप्रास को प्रमुखता से प्रकट करने वाले उदाहरणों का अध्ययन किया गया है । अब छेकानुप्रास को प्रमुखता से प्रकट करने वाले कतिपय उदाहरणों का अध्ययन किया जा रहा है ।

विद्वज्जालतप:फलं श्रुतिवधूधम्मिल्लमल्लीस्रजं
सद्विद्यासिकसूक्तसुग्धमधुरागण्यातिपुण्योदयम् ।
वाग्देवीचिरभोग्यभाग्यविभवप्राग्भारकौशल्यं
भाष्यं ते निपिबन्ति हन्त न पुनर्येषां भवे सम्भव: ।।

श्री० दि० , ६-१०५

यहाँ ' ल्ल् ' , ' ण्य् ' , ' ग्य् ' , ' न्त् ' , ' म्भ् ' इन सभी वर्णों की एक-एक बार आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास का चमत्कार है ।

सन्त: सन्तोषपोषं दधतु तव कृताम्नायशोभिर्यशोभिः
शौरालोकैरुलूका इव निखिलखला मौह्यमाहो वहन्तु ।
धीरश्रीशङ्कराराय्यैप्रणतिपरिणतिप्रस्थ्यदन्तर्दुरन्त -
ध्वान्ता: सन्तो वयं तु प्रचुरतरनिजानन्दसिन्धौ निमग्ना: ।।

श्रीश० दि० , ६-४१

सन्त , यशश , रलक , खल , मह , परणत , वर्णों को एक-एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास का चमत्कार है परन्तु " न्त " वर्णों की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ।

एक अन्य उदाहरण छेकानुप्रास का देखना अनुपयुक्त न होगा -

कामं यस्य समूलघातमवधीत् स्वर्गापवर्गापहं
रोषं य: खलु चूर्णपिष्टमपिषन्नि:शेषदोषावहम् ।
लोभादीनपि य: परांस्तृणसमुच्छेदं समुच्छिच्छिदे
स्वस्यान्तेवसतां सतां स भगवत्पाद: कथं वर्ण्यते ।। श्रीश० दि० ,४-६६

यहाँ रेखाङ्कित पदों में छेकानुप्रास विद्यमान है ।

ख- अन्त्यानुप्रास

पद अथवा पाद के अन्त में प्रथम स्वर के साथ यथावस्थ व्यञ्जन की आवृत्ति अन्त्यानुप्रास है ।[१] " श्रीशङ्करदिग्विजय " में अन्त्यानुप्रास के कई स्थल प्राप्त होते हैं । उनमें से कुछ स्थल इस प्रकार हैं -

भृङ्गतव सङ्गतिमपास्य गिरिशृङ्गे तुङ्गविटपिनि सङ्गमजुषि त्वदङ्गे ।
स्वाङ्गरचिता: सकलुषान्तरङ्गा: सङ्गमकृते मङ्गमुपयन्ति भृङ्गा: ।।

श्रीश० दि० , १०-४५

- -

१- व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु ।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ।। सा० द० , १०-६

यहाँ पाद के अन्त में और पद के मध्य में भी " ङग् " संयुक्ताक्षर की आवृत्ति हुई है परन्तु पादान्त में यथावस्थ आवृत्ति हुई है ।

इति वशीकृतमण्डनमण्डित: प्रणतसत्वरणात्र्यदपिडत: ।
सकलसद्गुणमण्डलमण्डित: स निरगात् कृतदुर्मतखण्डित: ।।

श्री० दि० , १०-१०६

यहाँ चारों चरणों के अन्त में स्वर के साथ व्यञ्जन की यथावस्थ आवृत्ति होने के कारण अन्त्यानुप्रास है ।

प्रणमद्भवबीजभर्जनं प्रणिपत्याभूतसम्पदार्जनम् ।
प्रमुमोद स मल्लिकार्जुनं प्रभराम्भासचिवं नतार्जुनम् ।। श्री०दि० ,१०-११२

यहाँ प्रथम दो चरणों के अन्त में एक समान स्वर-व्यञ्जन की यथावस्थ आवृत्ति हुई है तथा अन्तिम दो चरणों में एक समान स्वर-व्यञ्जन की यथावस्थ आवृत्ति हुई है । अत: यहाँ अन्त्यानुप्रास का सौन्दर्य विद्यमान है ।

इत्युदीर्णजलवाहविनीले स्फीतवातपरिधूततमाले ।
प्राणभृत्प्रवरणप्रतिकूले नीडनीलकशालिनि काले ।। श्री० दि०, ५-१३३

इस श्लोक के चारों चरणों के अन्त में " ल् " वर्ण के साथ " ए " स्वर की आवृत्ति होने के कारण अन्त्यानुप्रास का चमत्कार है । अनुप्रास के प्रसङ्ग में आचार्यों ने " ड् " और " ल् " में भेद नहीं माना है । इस सिद्धान्त के अनुसार " नीडनील " में छेकानुप्रास तथा सम्पूर्ण वाक्य में " न " की बार बार आवृत्ति होने के कारण वृत्त्यनुप्रास भी उपस्थित है । अत: इस श्लोक में अनुप्रास के तीन भेद एकत्र रूप में देखे जा सकते हैं ।

भेदयमन्यमजिनं परिधानं रूपमेव नियमेन विधानम् ।
कर्मदातृवर शास्ति बटूनां कर्मदायिनिगमाप्तिपटूनाम् ।। श्री०दि०, ५-१७

यहाँ प्रथम दोनों चरणों के अन्त में अविकल स्वरों और व्यञ्जनों ' धानम् ' की आवृत्ति हुई है तथा अन्तिम दोनों चरणों के अन्त में अविकल व्यञ्जनों और स्वरों ' टूलाम् ' की आवृत्ति होने के कारण अन्त्यानुप्रास की सुन्दर छटा है ।

ग- श्रुत्यनुप्रास

एक ही उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाले व्यञ्जनों के सादृश्य में आचार्य विश्वनाथ ने श्रुत्यनुप्रास का चमत्कार माना है ।[१]

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में कहीं-कहीं श्रुत्यनुप्रास का सौन्दर्य भी मन को हर लेता है । इसका एक सुन्दर उदाहरण इस प्रकार है --

वञ्चितात्मानवधिकसुखासारकासारसंघी -- ।

श्रीश० दि० , ४-६४

यहाँ ' सासार ' और ' कासार ' व्यञ्जन समूहों में प्रयुक्त ' स् ' और ' क् ' वर्ण एक उच्चारण स्थानीय होने के कारण श्रुत्यनुप्रास का चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं ।

३- यमक

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में जिस प्रकार ' अनुप्रास ' अलङ्कार की भरमार है उस प्रकार ' यमक ' अलङ्कार की नहीं । इसके कुछ इनेगिने उदाहरण ही मिलते हैं । अन्य आलङ्कारिकों के द्वारा वर्णित ' यमक ' अलङ्कार के भेद

- -

१- उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ।। सा० द० , १०-५ ।

इस ग्रन्थ में अनुपलब्ध हैं । मात्र भरतमुनिकृत " यमक " के भेदों का स्वरूप इसमें दिखायी देता है । भरतमुनिकृत आम्रेडित[1] यमक प्रकार का दर्शन शङ्कराचार्य की सूक्तियों की प्रशंसा में होता है --

> द्वरोत्सारितदुष्टपांसुपटलीदुर्नीतयोऽनीतयो
> वातादेशिकवाङ्मया: शुभगुणग्रामालया मालया: ।
> मुष्णान्ति श्रमपुल्लसत्परिमलश्रीमेदुरा मे दुरा -
> यासस्याऽऽधिहविर्भुजो भवमयं धोप्रान्तरे प्रान्तरे ।।

श्रीशि० दि० , ४-८१

उपर्युक्त श्लोक के प्रथम चरण में प्रयुक्त दोनों " नीतयो " वर्णसमूह निरर्थक है । द्वितीय चरण का प्रथम " मालया " वर्ण समूह निरर्थक तथा द्वितीय " मालया: " वर्णसमूह (लक्ष्मी का निवास) सार्थक है । तृतीय चरण में स्थित प्रथम " मेदुरा " पद (सान्द्र , स्निग्ध , अधिक स्नेह से युक्त अर्थ व्यक्त करने के कारण) सार्थक तथा द्वितीय " मेदुरा " वर्णसमूह निरर्थक है । अन्तिम चरण में स्थित दोनों " प्रान्तरे " पद सार्थक हैं । प्रथम " प्रान्तरे " का अर्थ कोटर में तथा द्वितीय " प्रान्तरे " का अर्थ वन में है । रुद्रट के अनुसार यह " एकदेशज " यमकप्रकार होगा ।

इसी यमक प्रकार का एक और उदाहरण शङ्कराचार्य के शिष्यों के वर्णन में द्रष्टव्य है -

> वाणीनिर्जितपन्नगेश्वरगुरुप्राचेतसा चेतसा ।
> बिभ्राणा चरणं मुनेविरचितव्यालम्बनं प्रलम्बनम् ।।

श्रीशि० दि० , १४-१४५

- -

१- आम्रेडित यमक प्रकार का लक्षण है -
पादस्यान्तं पदं यत्र द्विद्विरेकमिहोच्यते ।
पादान्त्याम्रेडितं नाम विज्ञेयं निपुणैर्यथा ।। भरत नाट्यशास्त्र , १७-७९

यहाँ प्रथम चरण में प्रयुक्त " केतसा " वर्ण समूह निरर्थक तथा द्वितीय " केतसा " पद का अर्थ " चित्त (मन) है " होने के कारण सार्थक है । द्वितीय चरण में प्रयुक्त प्रथम " पल्लवं " वर्णसमूह निरर्थक तथा द्वितीय " पल्लवं " पद का अर्थ " नवीन पत्तियाँ " होने के कारण सार्थक है ।

इसी प्रकार - रुचिरेशयसय:परिहृततिमिरैर्हारिणी हारिणीऽभी ।

श्रीश० दि० , ६-४०

में प्रयुक्त दोनों " हारिणी " पद सार्थक हैं । प्रथम 'हारिणी' पद का अर्थ 'हरणकरनेवाला' तथा द्वितीय " हारिणी " पद का अर्थ " हार " (माला) है । यहाँ पदावृत्तिरूप यमक का चमत्कार है ।

एक अन्य उदाहरण इसी यमक प्रकार का द्रष्टव्य है -

वसुतियमभितोऽसौ नर्मदां नर्मदां तां

मगधभुविनिवासं निर्ममे निर्ममेन्द्र: ।। श्रीश० दि० , १०-१०५

यहाँ प्रथम चरण में प्रयुक्त दोनों " नर्मदां " पद सार्थक हैं । प्रथम " नर्मदां " पद का अर्थ 'कौतूहल उत्पन्न करने वाली' तथा द्वितीय " नर्मदां " पद का अर्थ 'नर्मदा नदी' है । द्वितीय चरण में प्रयुक्त प्रथम 'निर्ममे' पद क्रियार्थक होने के कारण सार्थक है । द्वितीय " निर्ममे " वर्णसमूह निरर्थक है ।

कहीं कहीं पादादि यमक का चमत्कार भी " श्रीशङ्करदिग्विजय " में दिखायी पड़ता है -

सुमनोहरगन्धिनो सतां सुमनोवद्विमला शिवङ्करी ।

सुमनोनिकरप्रचोदिता सुमनोवृष्टिरमुच्चाऽद्भुतम् ।।

श्रीश० दि० , २-७७

यहाँ " सुमनो " वर्णों की प्रत्येक पादादि में आवृत्ति हुई है। प्रथम पाद का " सुमनो " वर्णसमूह निरर्थक है। द्वितीय पाद के " सुमनो " का अर्थ 'सुन्दरमन' होने के कारण सार्थक है। तृतीय पाद के " सुमनो " पद का अर्थ 'देवता' तथा चतुर्थ पाद के आरम्भ में स्थित " सुमनो " का अर्थ 'पुष्प' होने के कारण सार्थक वर्णसमूह हैं। ये सभी वर्णसमूह पाद के प्रारम्भ में स्थित होने के कारण " पादादि यमक " के सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाले हैं।

" श्रीशङ्कर दिग्विजय " में पादमध्यगतयमक भी प्रयुक्त हुआ है -

विगतमोहतमोहतिमाप्यथं विधुतमायतमा यतयोऽभवन्।
अमृतदस्य तदस्य दृशः सुतावथतरेम तरेम शुभार्णवम् ॥

श्रीश० दि०, १०-२७

प्रथम पंक्ति में आवृत्त " तमोह " और " तमाय " वर्णसमूह निरर्थक हैं। तृतीय चरण में आवृत्त " तदस्य " वर्णसमूह में से प्रथम वर्णसमूह निरर्थक द्वितीय 'तदस्य' (ऐसी उनकी) सार्थक तथा चतुर्थचरण में आवृत्त प्रथम " तरेम " वर्णसमूह निरर्थक तथा द्वितीय " तरेम " पद " उत्तीर्ण " के अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण सार्थक है।

४ - श्लेष

अर्थ के भेद होने से भिन्न-भिन्न शब्द जब एक साथ उच्चारण के कारण परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं तब श्लेष रूप शब्दालङ्कारजन्य चमत्कार माना जाता है।[१]

१- वाच्यभेदेन भिन्नायद्युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥
काव्य प्रकाश, सू० सं० - ११८

' श्रीशङ्0करदिग्विजय ' में कवि माधवाचार्य ने दण्डी , सुबन्धु , बाण और त्रिविक्रमभट्ट जैसे महाकवियों के समान श्लेष के प्रति असामान्य रुचि नहीं दिखायी है वरन् स्वाभाविक रूप से यदा-कदा ही इसे प्रस्फुटित होने दिया है ।

श्लेष का मनोहारित्व रूप हमें शङ्0कराचार्य द्वारा की गयी हरि (विष्णु) और शङ्0कर की एक साथ स्तुति में दिखायी पड़ता है ।[1] पूर्व प्रसङ्0ग के अनुसार विष्णु और शिव दोनों पक्षों में श्लोकार्थ विवक्षित है । इस प्रसङ्0ग के कुल दस श्लोक हैं जिनमें विष्णु के १० अवतारों का वर्णन हुवा है । आगे इनके सौन्दर्य का अध्ययन किया गया है :

वन्द्यं महासोमकलाविलासं गामादरेणाऽऽकलयन्ननादिम् ।
मैनं महः किञ्चन दिव्यमङ्0गीकुर्वन्निविभुर्मे कुशलानि कुर्यात् ।।
श्री श0 दि0 , १२-६

विष्णुपरक अर्थ - वन्दनीय , प्रचण्ड प्रलयकाल के समुद्र के जल में विलास करने वाले , अनादि और दिव्य मत्स्य से सम्बद्ध (मीनाकृति रूप) तेज को धारण करते हुए पृथ्वीरूपी नौका को आदर से लेने (खींचने) वाले और अनन्त शक्ति सम्पन्न विष्णु मेरा कल्याण करें ।

शिवपरक अर्थ - वन्दनीय , चन्द्रमा की कला के विलासों से सम्पन्न, अनादि वृषभ अथवा श्रुति को आदर से देखने वाले , मैना (हिमालय की पत्नी)

- -

१- श्रमापनोदाय मिदावदानामब्धिमुद्रामिव दर्शयन्तौ ।
आराध्य देवौ हरिशङ्0करौ स द्वयर्थाभिरित्यर्थयति स्म वाग्भिः ।।
श्रीश0 दि0 , १२-८

से उत्पन्न दिव्य पार्वती रूपी तेज से युक्त अनन्त शक्ति सम्पन्न शिव मेरा कुशल करें ।

यहाँ " महासोमकलाविलासं " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में महत: सोमस्य कलासु विलास: यस्य तत् अर्थात् प्रचण्ड प्रलयकाल के समुद्र के जल-खण्डों में विलास है जिसका अर्थात् विष्णु और शिव पक्ष में महतो सोमस्य कलाया: विलासो यस्मिन् तत् अर्थात् चन्द्रमा की कला का विलास है जिसमें अर्थात् शिव) समङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त होते हैं । " गां " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में पृथ्वी और शिव पक्ष में श्रुति या वृषभ) और " मैनं " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में मत्स्य सम्बन्धी तथा शिव पक्ष में मैना की पुत्री) अमङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त हो रहे हैं ।

यो मन्दरागं दधदादितेयान्सुधाभुज: स्माऽऽतनुतेऽविषादो ।
स्वामद्रिलीलोचितचारुमूर्तें कृपामपारां स भवान्वधत्ताम् ।।

श्रीश० दि० , १२-१०

कच्छपावतार विष्णुपरक अर्थ - जिन्होंने मन्दर नामक पर्वत को धारण कर देवताओं को अमृत भोजन कराया है , जो स्वयं खेदरहित हैं तथा जिन्होंने मन्दराचल के धारण करने योग्य सुन्दर (कच्छप) मूर्ति को धारण किया है वही आप अपनी अपार कृपा मुझ पर करें ।

शिवपरक अर्थ - जो विषपान करने वाले हैं अतएव मन्दकान्ति को धारण करते हुए देवताओं को अमृतपान सम्भव कराने वाले हैं , जो कैलाश पर्वत पर अपनी सुन्दर मूर्ति से नाना प्रकार के विलास करने वाले हैं वही आप अपनी अपार कृपा मुझ पर करें ।

यहाँ " मन्दरागं " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में मन्दरश्चासौ अग: तम् अर्थात् मन्दर नामक पहाड़ को और शिव पक्ष में मन्द: राग: तम् अर्थात मन्द कान्ति को) और " अविषादो " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में न विद्यते विषाद: यस्मिन् स इति अर्थात् दु:ख नहीं है जिसमें और शिव पक्ष में विषम् अत्ति इति विषादो अर्थात् विष खाने वाले) समङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त हो रहे हैं ।

उल्लासयन्यो महिमानमुच्चै: स्फुरद्वराहीशकलेवरोऽसौ ।
तस्मै विदध्म: करयोरजस्रं सायन्तनाम्भोरुहसामरस्यम् ।।
श्रीशि० दि०, १२-११

वराहावतार विष्णुपरक अर्थ - जो अपनी दंष्ट्रा से पृथ्वी के विस्तार को ऊपर उठाने वाले हैं तथा जो शूकरों के स्वामी के रूप को धारण करने वाले हैं उन भगवान विष्णु को हम लोग सायङ्काल में सम्पुटित होने वाली कमल की आकृति के समान आकृति वाली अञ्जली से प्रणाम कर रहे हैं ।

शिवपरक अर्थ - जो प्रशस्त महिमा को प्रकाशित करते हुए सर्पों के स्वामी श्रेष्ठ वासुकि को अपने शरीर पर धारण करने वाले हैं उन्हें हम लोग सायङ्कालीन सम्पुटित कमल की आकृति के समान आकृति वाली अञ्जली से प्रणाम कर रहे हैं ।

यहाँ " महिमानमुच्चै: " पद के दो अर्थ (विष्णु के पक्ष में मह्या: मानम् उच्चै: अर्थात् पृथ्वी के विस्तार को ऊपर और शिवपक्ष में महिमानम् उच्चै: अर्थात् प्रशस्त महिमा) तथा " वराहीशकलेवर: " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में वराहाणाम् ईश: इति वराहीश: तत्कलेवर: यस्य स: इति वराहीशकलेवर: अर्थात् वराहों के स्वामी हैं शरीर जिसके अर्थात् विष्णु और शिव पक्ष में वराहीश: कलेवरे यस्य स: अर्थात् श्रेष्ठ वासुकि हैं शरीर पर जिसके अर्थात् शिव) समङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त होते हैं ।

स्नावहन्केसरिणां वरां य: सुरद्विषत्कुञ्जरमाजघान ।
प्रह्लादमुल्लासितमादधानं पञ्चाननं तं प्रणुम: पुराणम् ।।
श्रा॰शि॰ दि॰ , १२-१२

नरसिंहावतार विष्णुपरक अर्थ - जिन्होंने श्रेष्ठ सिंहरूप को धारण कर देवताओं के शत्रु हिरण्यकशिपु रूपी हाथी को मार डाला और प्रह्लाद को आनन्दित किया है उस सिंहरूपी पुराण पुरुष को मैं प्रणाम करता हूँ।

शिवपरक अर्थ - जो पञ्चमुख को धारण करने वाले हैं , जो सिर पर नदियों में श्रेष्ठ गङ्गा को वहन करने वाले हैं और जिन्होंने देवों के शत्रु गजासुर को मारा अतस्व आनन्दित हुए हैं उस पुराण पुरुष को मैं प्रणाम करता हूँ।

यहाँ ' केसरिणां वरां ' के दो अर्थ (नरसिंह पक्ष में श्रेष्ठ सिंह रूपधारी और शिवपक्ष में सिर पर नदियों में श्रेष्ठ अर्थात् गङ्गा) ', सुरद्विषत्कुञ्जरम् ' पद के दो अर्थ (नरसिंह पक्ष में देवताओं के शत्रु हिरण्यकशिपुरूपी हाथी तथा शिव पक्ष में देवताओं के शत्रु गजासुर हाथी) और ' पञ्चाननं ' पद के दो अर्थ (सिंह तथा शिव) गृहीत होने के कारण श्लेष अलङ्कार है।

उदेतु बल्याहरणाभिलाषी यो वामनो हार्यजिनं वसान: ।
तपांसि कान्तारहितो व्यतानीदायोऽवतादाश्रमिणामयं न: ।।
श्रीशि॰ दि॰ , १२-१३

वामनावतार विष्णुपरक अर्थ - जिन्होंने राजा बलि से त्रैलोक्यहरण की इच्छा से सुन्दर मृगचर्म धारण किया था और जिसने कौमारावस्था में तपस्या की थी वही ब्रह्मचारी हम लोगों की रक्षा करें।

शिवपरक अर्थ - जो दक्ष प्रजापति के यज्ञ में बलि (पूजा) को ग्रहण करने के अभिलाषी हैं, जिन्होंने मनोहर मृगचर्म को धारण किया है, जिन्होंने कान्ता से रहित होकर तपस्या की है वह मेरी रक्षा करें।

यहाँ " बल्याहरणाभिलाषी " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में बलेः सकाशात्त्रैलोक्यस्य हरणम् अभिलाषा यस्य सः अर्थात् बलि के पास से तीन लोक के हरण की इच्छा है जिसकी अर्थात् वामन रूपधारी विष्णु और शिव पक्ष में दक्षस्य बलेः आहरणाय अभिलाषा यस्य सः अर्थात् दक्ष प्रजापति के यज्ञ में बलि (भक्ष्य) ग्रहण करने की अभिलाषा है जिसकी अर्थात् शिव) और " वामनो हार्यजिनं " पद के दो अर्थ (विष्णुपक्ष में वामन + हारि + अजिनं अर्थात् सुन्दर मृगचर्म को धारण करने वाले वामन और शिव पक्ष में वा + मनोहारि + अजिनं अर्थात् मनोहर मृगचर्म को धारण करने वाले) सभङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त हो रहे हैं।

> येनाधिकोधत्त्वारिणाऽऽशु जितोऽर्जुनः सङ्गररङ्गभूमौ ।
> नक्षत्रनाथस्फुरितेन तेन नाथेन नेनापि वयं सनाथाः ॥
>
> श्रीश० दि०, १२-१४

परशुरामावतार विष्णुपरक अर्थ - जिन उद्धत्र बालक परशुराम के द्वारा कार्तवीर्य अर्जुन को युद्ध क्षेत्र में जीता गया था, चन्द्रमा के समान चमकने वाले उन अपूर्वनाथ को पाकर हम लोग सनाथ हो गये हैं।

शिवपरक अर्थ - जिनके सिर पर जल चमक रहा है, लड़ाई में जिन्होंने अर्जुन को भी जीत लिया है, जिनके माथे पर चन्द्रमा चमक रहा है उन अपूर्व स्वामी से हम लोग सनाथ हुए हैं।

यहाँ उद्धत्वारिणा पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में अत्यधिक उत्साहित बालक के द्वारा और शिव पक्ष में उद्धत + वारि अर्थात् अत्यधिक उछलते हुए जल वाली गङ्गा से) और " नक्षत्रनाथस्फुरितेन " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में

नक्षत्रनाथवत् स्फुरितेन अर्थात् चन्द्रमा के समान चमकने वाले और शिवपक्ष में नक्षत्रनाथ: स्फुरित: यस्मिन् स: अर्थात् चन्द्रमा चमकता है जिसके ऊपर अर्थात् शिव) सभङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त हो रहे हैं । " अर्जुन: " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में कार्तवीर्य अर्जुन और पाण्डव पुत्र अर्जुन) अभङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त हो रहे हैं ।

विलासिनाऽलीकभवेन धाम्ना कामं द्विषन्तं स दशास्यमस्यन् ।
देवो धरापत्यकुचोष्मसाक्षी देयादमन्दात्मसुखानुभूतिम् ।।

श्रीश० दि० , १२-१५

रामावतार विष्णुपरक अर्थ - शोभायुक्त बाणों से उद्भूत पराक्रम के द्वारा द्रोहरत दश मुख वाले रावण को मारने वाले और जो पृथ्वी की कन्या जानकी के पयोधरों की उष्णता के साक्षात् अनुभवी हैं वही मुझे अनन्त ब्रह्मानन्द का अनुभव करायें ।

शिवपरक अर्थ - संसार (के ऐश्वर्य या कारणभूत अविद्या) को मिथ्या कर देने वाले (अमोघ अतएव) शोभा से युक्त , (तृतीय नेत्र की अग्निरूपी) तेज के द्वारा दश अवस्थाओं वाले एवं द्वेष (शत्रुवत् आचरण) करने वाले कामदेव को भस्म करने वाले और जो पार्वती के पयोधरों की उष्णता के साक्षात् अनुभवी हैं वही मुझे अनन्त ब्रह्मानन्द का अनुभव करायें ।

यहाँ " विलासिनाऽलीकभवेन " पद के दो अर्थ (राम के पक्ष में विलासिन: नालीका: तेभ्य: भव: यस्य तत् तेन अर्थात् शोभा युक्त बाण से उत्पन्न है जो उसके द्वारा और शिव पक्ष में विलासिना और अलीकं भव: यस्मिन् तत् तेन इस विग्रह से शोभायुक्त और संसार को मिथ्या करने वाले) सभङ्ग श्लेष से प्राप्त होते हैं । " दशास्यम् " पद के दो अर्थ (राम के पक्ष में रावण और शिव के पक्ष में कामदेव) अभङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त होते हैं ।

उच्चालकेतुः स्थिरधर्ममूर्तिर्हालाहलस्वीकरणोग्रकण्ठः ।
स रोहिणीशाभिचुम्ब्यमाननिजोत्तमाङ्गोऽवतु कोऽपि भूमा ।।

श्रीश० दि० , १२-१६

बलरामावतार विष्णुपरक अर्थ - ऊँचे तालवृक्ष के समान पताका वाले , धर्म की साक्षात् स्थिर मूर्ति , सुरा तथा हल के ग्रहण करने पर भी श्रेष्ठ कण्ठ वाले , रोहिणी के पति वासुदेव के द्वारा चुम्बित सिर वाले और मन-वाणी से अगोचर वह कोई साक्षात् ब्रह्म हैं । वह हो मेरी रक्षा करें ।

शिवपरक अर्थ - सङ्गीत-प्रयुक्त श्रेष्ठ ताल के चिह्नों से युक्त , धर्म के लिये स्थिर मूर्ति धारण करने वाले , हालाहल विष पान करने के कारण उग्रकण्ठ वाले और रोहिणी के ईश अर्थात् चन्द्रमा के द्वारा सदैव चुम्बित मस्तक वाले वह कोई परमात्मा हैं । वही मेरी रक्षा करें ।

यहाँ " उच्चालकेतुः " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में उत्कटः तालाख्य वृक्ष इव केतुः यस्य सः अर्थात् ऊँचे तालवृक्ष के समान पताका है जिनकी अर्थात् बलराम और शिवपक्ष में उत्कृष्टः (सङ्गीत प्रयुक्तः) तालः केतुःयस्य (नटराजस्य शिवस्य) सः अर्थात् श्रेष्ठ सङ्गीत-प्रयुक्त ताल है चिह्न जिस नटराज का अर्थात् शिव) और " हालाहल " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में " हाला " पद का अर्थ मदिरा है तथा शिव पक्ष में " हालाहल " संयुक्त पद का अर्थ विष) सभङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त हो रहे हैं । " रोहिणीशः " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में बलराम की माँ रोहिणी के पति अर्थात् वासुदेव और शिवपक्ष में रोहिणी नक्षत्र के स्वामी अर्थात् चन्द्रमा) अभङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त हो रहे हैं ।

विनायकेनाऽऽकलिताखिलार्थं निषेदुषोत्सङ्गभुवि प्रहृष्यन् ।
यः पूतनामोक्षविधौ विरव्यातवो कोऽपि कलापभूषणः ।।

श्रीश० दि० , १२-१७

कृष्णावतार विष्णुपरक अर्थ - कालिय मर्दन के समय सर्प का विष जिनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं डाल सका क्योंकि समीप में विराजमान गरुड़ उनकी सेवा में उपस्थित थे तथा प्रद्युम्न जिन्होंने पूतना नामक राक्षसी को मोहित करने वाली चित्तवृत्ति से युक्त कर दिया था और सिर पर मयूर पिच्छ रूप आभूषण वाले वह कोई अलौकिक तत्त्व ही हैं। वह को मेरी रक्षा करें।

यहाँ " विनायक " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में वि + नायक अर्थात् पक्षियों के राजा गरुड़ और शिव पक्ष में वीनां नायकः इति विनायकः अर्थात् गणेश जी), " पूतनामोहक " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में पूतना + मोहक अर्थात् पूतना को मोहित करने वाले और शिवपक्ष में पूत + नाम + ऊहक अर्थात् पवित्र नाम है जिनका अर्थात् शिव तथा " ऊहक " पद " चिन्तक " (भक्तों) के अर्थ में प्रयुक्त हुवा है) और " अहितापं " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में अहि + ताप अर्थात् सर्प का विष और शिव पक्ष में आहित + आप इस विग्रह से " आहित " का अर्थ लाना और " आप " का अर्थ जल) समङ्ग श्लेष के द्वारा गृहीत हुए हैं। " कलाप " पद के दो अर्थ (विष्णु पक्ष में मयूरपिच्छ और शिव पक्ष में चन्द्रमा) अभङ्ग श्लेष के द्वारा प्राप्त होते हैं।

पाठीनकेतोर्जेयिने प्रतीतसर्वज्ञभावाय दयैकसीम्ने ।
प्राय: क्रतुद्वेष कृतादराय बोधैकधाम्ने स्पृहयामि भूम्ने ।।
श्रीश० दि०, १२-१८

बुद्धावतार विष्णुपरक अर्थ - मीनकेतु कामदेव पर विजय प्राप्त करने वाले, सर्वज्ञता के लिये प्रसिद्ध, दया की एक मात्र सीमा वाले, यज्ञ से द्वेष करने वाले पुरुषों को आदर देने वाले और ज्ञान के एकमात्र आलय स्वरूप

जन्मरहित आपको प्राप्त करने की मेरी इच्छा है ।

शिवपरक अर्थ - मीनकेतु कामदेव को जीतने वाले , सर्वज्ञता के कारण सर्वत्र प्रसिद्ध , दया की एक मात्र सीमा वाले , क्रतु (सङ्कल्प , इच्छा या दक्ष प्रजापति के यज्ञ) से द्वेष करने वाले को आदर देने वाले , ज्ञान के एकमात्रनिधान , ब्रह्मरूप आपको (जानने की) मेरी इच्छा है ।

यहाँ " क्रतु " पद में अभङ्ग श्लेष है । विष्णु पक्ष में इसका अर्थ " यज्ञ " तथा शिव पक्ष में "सङ्कल्प' अथवा 'इच्छा' है ।

व्यतीत्य चेतो विषयं जनानां विघोतमानाय तमोनिहन्त्रे ।
भूम्ने सदावासकृताश्रयाय भूयांसि मे सन्तुतमां नमांसि ॥
श्री०शि० दि० , १२-१६

कल्कि के अवतार के रूप में विष्णुपरक अर्थ - मनुष्यों के चित्त के विषय को अतिक्रमण करके प्रकाशित होने वाले (अर्थात् समस्त इन्द्रियों के क्षेत्र के बाहर) अज्ञानरूपी तम का सर्वनाश करने वाले सज्जनों को आश्रय देने के लिये कृतयुग जैसा वातावरण बनाने वाले , परमात्मरूप आपको मैं बारम्बार प्रणाम कर रहा हूँ ।

शिवपरक अर्थ - मनुष्यों के चित्त के विषय के परे प्रकाशित होने वाले , अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले , परब्रह्मरूप , सज्जनों के पास सदैव निवास करने के लिये आश्रय (अन्तःकरण) बनाने वाले अथवा सज्जनों के निवास के लिये स्थान (काशी में स्थान) बनाने वाले आपको मैं बारम्बार प्रणाम कर रहा हूँ ।

यहाँ " सदावासकृताश्रयाय " पद में सभङ्ग श्लेष है ।

विष्णुपक्ष में विग्रह होगा - सतामावासाय कृते (कृतयुगे) आश्रयः येन सः तथा शिवपक्ष में सदा वासाय कृतम् आश्रयः येन सः ।

५ - वक्रोक्ति

वक्ता के द्वारा अन्य अभिप्राय से कहे गये वाक्य का यदि श्रोता काकु या श्लेष के द्वारा अन्य अर्थ समझ ले तो वहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार का चमत्कार होगा यह अलङ्कार श्लेष और काकु के भेद से दो प्रकार का होता है।[१]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में वक्रोक्ति अलङ्कार का मात्र एक प्रसङ्ग श्राद्ध कर्म के अवसर पर वर्जित प्रवेश वाले संन्यासी शङ्कराचार्य के दर्शन से क्रुद्ध हुए मण्डनमिश्र और शङ्कराचार्य के कथोपकथन[२] में प्राप्त होता है जो इस प्रकार है : मण्डनमिश्र की शङ्कराचार्य के प्रति उक्ति - "मुण्डी कहाँ से"? मण्डनमिश्र की यह उक्ति मार्गपरक अभिप्राय से कही गयी थी परन्तु शङ्कराचार्य ने इसका अन्यथा (अङ्गपरक) अर्थ समझ कर उत्तर दिया - "गले तक मुण्डी हूँ।"

शङ्कराचार्य के इस उत्तर को सुनकर मण्डनमिश्र ने स्पष्ट किया कि मेरे द्वारा आपका मार्ग पूछा गया है (पन्थास्ते पृच्छ्यते मया)। इसे सुनकर शङ्कराचार्य "पन्था: पृच्छ्यते" कर्मवाच्य वाक्य का अर्थ मार्ग मण्डनमिश्र के द्वारा पूछा गया है मैं (शङ्कराचार्य) नहीं समझ कर मण्डनमिश्र से ये प्रश्न करते हैं -

- -

१- यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ।।

का० प्र०, सू० सं० - १०२

२- कुतो मुण्ड्यागलान्मुण्डी पन्थास्ते पृच्छ्यते मया ।
किमाह पन्थास्त्वन्माता मुण्डेत्याह तथैव हि ।।
पन्थानं त्वमपृच्छस्त्वां पन्था: प्रत्याह मण्डन
त्वन्मातेत्यत्र शब्दोऽयं न मां ब्रूयादपृच्छकम् ।।

श्रीश० दि०, ८-१६, १७

" मार्ग से पूछने पर क्या उत्तर मिला "? इस पर क्रुद्ध होकर मण्डनमिश्र ने उत्तर दिया कि " मार्ग ने कहा तुम्हारी (शङ्कराचार्य की) माता मुण्डी है।"

शङ्कराचार्य " तुम्हारी " पद का मण्डनमिश्र के पक्ष में अर्थ घटित करते हुए बोले - मार्ग से तुमने पूछा था इसलिये यह उत्तर तुम्हारी माता के लिये ही है। मैंने तो मार्ग से कुछ पूछा ही नहीं था।

उपर्युक्त सभी स्थल " काकु वक्रोक्ति " के हैं।

शङ्कराचार्य की टेढ़ी बातों से झुँझलाकर मण्डनमिश्र उन पर दोषारोपण करते हुए बोले - क्या आपने सुरा पी ली है?

मण्डनमिश्र द्वारा पीने के अर्थ में कही गयी " पीली " शब्द का शङ्कराचार्य ने रङ्गपरक अर्थ लेते हुए उत्तर दिया -

" सुरा पीली नहीं अपितु श्वेत होती है "।

शङ्कराचार्य के उत्तर से द्विगुणित क्रोध वाले मण्डनमिश्र उन्हें पागल की उपाधि देते हुए बोले - कलञ्ज खाने से मत्त हुए आप प्रतिकूलवादी हैं।

मण्डनमिश्र के वाक्य में स्थित " मत्तो जात: " का अस्मद् शब्द से तसिलप्रत्यान्त अर्थ ग्रहण करते हुए शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया - कि आप ठीक कह रहे हैं। पिता के समान ही आपसे उत्पन्न (पुत्र)" कलञ्ज " खाने वाला है।

उपर्युक्त उद्धरण[1] " श्लेष वक्रोक्ति " के हैं।

१- अहो पीता किमु सुरा नैव श्वेता यत: स्मर।
किं त्वं जानासि तद्वर्णमहं वर्णं भवान्रसम्॥ श्रीश० दि०, ८-१८
मत्तो जात: कलञ्जाशी विपरीतानि भाषते।
सत्यं ब्रवीति पितृवत्त्वत्तो जात: कलञ्जभुक्॥ श्रीश० दि०, ८-१९।

६ - उपमा

उपमेय और उपमान में भेद होने पर उनके साधर्म्य के कथन[1] में आचार्यों ने उपमा अलङ्कार का सौन्दर्य देखा है ।

जिस प्रकार शब्दालङ्कारों में ' अनुप्रास ' का ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में सर्वाधिक प्रयोग हुआ है उसी प्रकार अर्थालङ्कारों में ' उपमा ' अलङ्कार का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है । उपमा अलङ्कार में भी आचार्य दण्डी द्वारा वर्णित उपमा का एक भेद वाक्यार्थोपमा[2] अधिकांश स्थलों पर दृष्टिगत होती है । ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में लौकिक , प्राकृतिक , पौराणिक और दार्शनिक आदि अनेक प्रकार की उपमाएँ मिलती हैं । आगे इनका क्रमिक अध्ययन किया जा रहा है :

क- लौकिक उपमाएँ

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में उपमा अलङ्कार की योजना में प्राय: दैनिक जीवन से सम्बन्धित तथा सामान्यजनों से सुपरिचित विषयों को ही उपमान के रूप में कल्पित किया गया है । इनके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं - दर्पण का प्रयोग प्राय: सभी गृहों में होता है अत: इससे सर्वसामान्य का सुपरिचित होना स्वाभाविक ही है । इसी दर्पण को ' उपमान ' कल्पित करके माधवाचार्य ने अपनी कृति की विशदता का परिचय दिया है - ' जिस प्रकार हाथियों का विशाल समुदाय छोटे भी दर्पण में देखा जा सकता है उसी प्रकार[3] मेरे इस लघु सङ्ग्रह में ' शङ्करजय ' के वाक्यों का सार देखा जा सकता है । '

- -

१- साधर्म्यमुपमा भेदे । का० प्र० , सू० सं० - १२४

२- वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थ: कोऽपि यद्युपमीयते ।
एकानेकेव शब्दत्वात्सा वाक्यार्थोपमा द्विधा ।। काव्यादर्श, २-४३

३- यद्वत् घटानां पटलो विशालो विलोक्यतेऽल्पेऽपि दर्पणेऽपि ।
तद्वन्मदीये लघुसङ्ग्रहेऽस्मिन्नुदीक्ष्यतां शाङ्करवाक्यसार: ।।
श्रीश० दि० , १-२ ।

यहाँ दो वाक्यार्थों द्वारा उपमा का सौन्दर्य प्रकट किया गया है। इसमें " हाथी"परक वाक्यार्थ उपमान और " लघुसङ्ग्रह "परक वाक्यार्थ उपमेय के रूप में न्यस्त हैं

शरीर की चञ्चलता को बोधगम्य बनाने के लिये पवन के वेग से अत्यन्त चञ्चल पताका के कोटि का उपमान के रूप में प्रयोग - " हे माँ। कौन मूर्ख व्यक्ति वायु के प्रबल वेग से फहराने वाले चीनांशुक की ध्वजा के कोण के समान चञ्चल भी इस शरीर में स्थिर होने का विचार रखता है"।[1]

यहाँ उपमेय " कलेवर ", उपमान " चीनांशुक कोटि " साधारण धर्म " चञ्चलत्व " शब्दतः उक्त है परन्तु उपमावाचक शब्द " इव " का कथन न होने से लुप्तोपमा है। इसी प्रकार वेद के अर्थ को दूषित करने वाले बौद्धों की बहुलता को सङ्केतित करने के लिये रात्रि के अन्धकार का उपमान रूप में सटीक प्रयोग हुआ है - " बौद्धों के द्वारा रचित आगमों का अवलम्बन करने वाले वेदशास्त्र के दूषक बौद्धों के द्वारा इस समय पृथ्वी उसी प्रकार व्याप्त हो गयी है जिस प्रकार घने अन्धकार से रात्रि व्याप्त हो जाती है।"[2]

यहाँ पर भी वाक्यार्थोपमा का सौन्दर्य है। " बौद्ध "-परक वाक्यार्थ उपमेय के रूप में और " अन्धकार " परक वाक्यार्थ उपमान के रूप में, " इव " उपमावाचक शब्द और " व्याप्तता " साधारण धर्म के रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

१- प्रबलानिलवेगवेल्लितध्वजचीनांशुककोटिचञ्चले ।
अपि मूढमतिः कलेवरे कुरुते कः स्थिरबुद्धिमम्बके ।। श्रीश० दि० , ५-५२

२- तत्प्रणीतागमालम्बैर्वेदविदूषकैः ।
व्याप्तेदानीं प्रभो धात्री रात्रिः सन्तमसैरिव ।। श्रीश० दि० , १-३१

शङ्कराचार्य को सभी कलाएँ प्राप्त थीं इस तथ्य में सुन्दरी उपमान का प्रयोग - " श्रेष्ठ (शङ्कराचार्य) को प्राप्त कर सम्पूर्ण कलाएँ भाग्यशालिता को प्राप्त हो गयीं जिस प्रकार अपने योग्य पति को प्राप्त कर सुन्दरियाँ भाग्यशालिता को प्राप्त हो जाती हैं"।[1]

यहाँ पर भी वाक्यार्थोपमा का चमत्कार है । 'कला'परक वाक्यार्थ उपमेय और 'सुन्दरी'परक वाक्यार्थ उपमान के रूप में न्यस्त है ।

दुर्जनों की कठोरता एक सुविख्यात तथ्य है । बौद्ध पाखण्डियों के वर्णन में इस उपमान का चित्ताकर्षक प्रयोग द्रष्टव्य है : " शैव और वैष्णव आगम में आसक्त , लिङ्ग तथा चक्र आदि चिह्नों से अपने शरीर को चिह्नित करने वाले (बौद्ध) पाखण्डियों के द्वारा यज्ञादि कर्म उसी प्रकार त्याग दिया गया था जिस प्रकार दुर्जनों के द्वारा दयाभाव को त्याग दिया जाता है"।[2]

यहाँ " दुर्जन "परक वाक्यार्थ उपमान और " पाखण्डी "परक वाक्यार्थ उपमेय के रूप में न्यस्त है । " संन्यस्तता " साधारणधर्म और " इव " उपमावाचक शब्द भी यहाँ शब्दत: कथित हैं ।

ख- प्राकृतिक उपमाएँ

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में सूर्य , चन्द्र , तालाब और मेघ आदि प्राकृतिक वस्तुएँ अनेक बार कवि के भावाभिव्यक्ति के माध्यम बनी हैं । इन प्राकृतिक उपमानों का उदाहरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

- -

१- वरमेनमवाप्य भेजिरे परभागं सकला: कला अपि ।
इमवाप्य निजोचितं पतिं कमनीया इव वामलोचना: ।। श्रीश० दि० , ४-३४

२- शिवविष्णवागमपरैर्लिङ्गचक्रादिचिह्नितै: ।
पाखण्डै: कर्म संन्यस्तं कारुण्यमिव दुर्जनै: ।। श्रीश० दि० , १-३५ ।

सूर्य-उपमान -

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में सूर्य का उपमान के रूप में प्रयोग अनेक बार हुआ है। भगवान शङ्कर के द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार हेतु देवों को आश्वासन दिये जाने के पश्चात् कार्तिकेय के प्रति किये गये कटाक्षपात के वर्णन में " सूर्य " उपमान की कल्पना दृष्टिगोचर होती है - " देवताओं से इस प्रकार कहते हुए शिवजी ने दूसरों के लिये दुष्प्राप्य कटाक्षों को कार्तिकेय के ऊपर उसी प्रकार रखा (अर्थात् देखा) जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों को कमल पर रखता है।"[1]

यहाँ " शङ्कराचार्यपरक वाक्यार्थ उपमेय और " सूर्यपरक वाक्यार्थ उपमान है। " इव " उपमावाचक शब्द और " रखना " साधारण धर्म है।

सूर्य के तेज का उपमान के रूप में प्रयोग गर्भिणी शङ्कराचार्य की माँ के तेज वर्णन में द्रष्टव्य है : " उस मृगनयनी ने शिव के तेज से युक्त गर्भ धारण किया था। गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने लगा जिससे उसका शरीर तेजोतिरेक के कारण लौटायी गयी सम्पूर्ण दृष्टि वाला उसी प्रकार हो गया जिस प्रकार दिन के मध्य में वर्तमान सूर्य का उग्र तेज लोगों की दृष्टि को परावर्तित करने वाला हो जाता है।"[2]

यहाँ शङ्कराचार्य की माँ के शरीर का " तेज " उपमेय, मध्याह्न काल के सूर्य का " तेज " उपमान, " दृष्टिविनिवारित्व " साधारण धर्म और " इव " उपमावाचक शब्द का कथन होने के कारण पूर्णोपमालङ्कार है।

- -

१- ब्रुवन्नेवं दिविषदः कटाक्षानन्यदुर्लभान् ।
कुमारे निदधे भानुः किरणानिव पङ्कजे ।। श्रीश० दि० , १-४५

२- गर्भं दधार शिवगर्भमसौ मृगाक्षी गर्भोऽप्यवर्धत शनैरमवच्छरीरम् ।
तेजोतिरेकविनिवारितदृष्टिपातविश्वं सविश्वमध्य इवोग्रतेजः ।।
श्रीश० दि० , २-५७ ;

१-६१ , १५-१५८ , १५-१७४ , ४-६६ में भी " सूर्य " उपमान के रूप में गृहीत हुआ है।

चन्द्र उपमान

" चन्द्र " का भी उपमान के रूप में अनेक बार चयन हुआ है। इसका एक उदाहरण शङ्कराचार्य के चिन्तित शिष्यों की उक्ति में द्रष्टव्य है : " दूसरे शरीर में छुपे हुये हमारे गुरु यद्यपि अत्यन्त कठिनता से खोजने योग्य हैं तथापि प्रकाशमान अपने गुणों से ही वे उसी प्रकार जानने योग्य हैं जिस प्रकार राहु के उदर में स्थित चन्द्रमा अपनी किरणों से वेधनीय होता है।"[1]

यहाँ " गुरु शङ्कराचार्य " परक वाक्यार्थ उपमेय और " शशिपरक वाक्यार्थ उपमान , " इव " उपमावाचक शब्द और वेधनीयत्व " साधारण धर्म के रूप में उक्त हैं।

इसके अतिरिक्त कई अन्य स्थलों पर " चन्द्रोपमान " का प्रयोग हुआ है परन्तु ये स्थल कल्पना की दृष्टि से अति सामान्य हैं। अत: यहाँ विस्तार से अध्ययन न करके उन्हें पाद टिप्पणी[2] में श्लोक सङ्ख्या के द्वारा इङ्गित कर दिया गया है।

तालाब उपमान -

कुमारिलभट्ट के द्वारा बौद्धों की निन्दा किये जाने पर बौद्धों की प्रतिक्रिया के वर्णन में " तालाब " प्राकृतिक उपमान का प्रयोग द्रष्टव्य है - " वह (बौद्धों की) सभा क्रोध से लाल होने वाले बौद्धों के मुखों से उसी प्रकार शोभित हुई जिस प्रकार प्रात:कालीन सूर्य की किरणों के कारण लाल कमलों से युक्त तालाब सुशोभित होता है।"[3]

- -

१- यद्यप्यन्यगात्रप्रतिच्छन्नरूपी दुरन्वेषणः स्याद्गुरुर्नस्तथाऽपि ।
स्वभानूदरस्थः शशीव प्रकाशिस्तदीयैर्गुणैरेव वेद्धुं स शक्यः ॥ श्रीश० दि०, १०-३३

२- श्रीश० दि० , ४-५२ , ५-२१ , १०-४१ , ११-५४ , १२-४२ , १०-४७ , १-२८ , १४-४३ , १६-६५ ।

३- सा सभा बदनैस्तेषां रोषपाटलकान्तिभिः ।
बभौ बालातपाताम्रैः सरसीव सरोरुहैः ॥ श्रीश० दि० , १-६८ ।

यहाँ " सभा "परक वाक्यार्थ उपमेय और " सरोवरपरक वाक्यार्थ उपमान के रूप में न्यस्त है । " इव " उपमावाचक शब्द तथा "शोभनत्व " साधारण धर्म है ।

" तालाब " उपमान का एक और सुन्दर प्रयोग अमरुक राजा को पुनर्जीवित देखने वाली आश्चर्यान्वित स्त्रियों की दशा के वर्णन में द्रष्टव्य है - " पति को जीवित पाकर विकसित कमल के समान मुखवाली और आनन्दयुक्त स्वर करने वाली वे स्त्रियाँ सूर्योदय के पश्चात् खिलने वाले कमलों से युक्त और सारस के शब्दों से गुञ्जायमान सरोवरों के समान सुशोभित हुईं ।"[1]

यहाँ पर " सावयवोपमा " (वाक्यार्थोपमा) है । यहाँ अवयवियों नारियों और वारिजिनियों के अतिरिक्त उनके अङ्गों यथा पति और अरुण , हर्षध्वनि और सारस की ध्वनि तथा मुख और कमल में भी क्रमशः उपमेय और उपमान भाव की कल्पना हुई है । यहाँ " सरोवरपरक वाक्यार्थ उपमान तथा " नारीपरक वाक्यार्थ उपमेय है ।

समुद्र उपमान -

शङ्कराचार्य का भाष्य विपक्षियों के द्वारा सर्वथा अकाट्य है: इसे व्यक्त करने के लिये समुद्र उपमान का सटीक चयन हुआ है - " इसके अनन्तर (उपनिषदों के भाष्य , उपदेश साहस्री आदि की रचना के पश्चात्) व्रतियों में श्रेष्ठ शङ्कराचार्य ने विनयी शिष्यों को अपना भाष्य विधिवत्

- -

१- तं प्राप्तजीवमुपलभ्य पतिं प्रभूतहर्षस्वना: प्रमुदिताननपङ्कजास्ता: ।
नार्यो विरेजुररुणोदयसम्प्रफुल्लपद्मा: ससारसरवा इव वारिजिन्य: ।।
शीशं० दि० , ६-१०८

पढ़ाया जो अद्वैतविरोधियों के तर्कों से उसी प्रकार अशोष्य (अकाट्य) है जिस प्रकार समुद्र सूर्य की किरणों से अशोष्य रहता है।[1]

यहाँ " माध्वपरक वाक्यार्थ उपमेय और " समुद्रपरक वाक्यार्थ उपमान है। " तत्रतस्येव " सूत्र से इवार्थ में " वति " प्रत्यय के प्रयोग तथा " वति " प्रत्यय का अन्य पद से समास होने के कारण यहाँ तद्धितगा श्रौती समासगा उपमा है।

मोर उपमान -

वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के उद्देश्य से कुमारिल के द्वारा पर्वतपतन स्वीकार किया गया था। उनके इस कर्म को देखने के लिये आश्चर्यचकित अपार जन समूह उमड़ पड़ा था। इस दृश्य के वर्णन में मोर उपमान का प्रयोग रमणीय है - " उनके अद्भुत कर्म को सुनकर ब्राह्मण लोग विभिन्न दिशाओं से उसी प्रकार निकल पड़े जिस प्रकार मेघ के गर्जन को सुनकर मोर कुञ्जों से बाहर आ जाते हैं।[3]

यहाँ " मोरपरक वाक्यार्थ उपमान और " द्विजपरक वाक्यार्थ उपमान के रूप में स्थित है।

- -

१- अथ वृत्तीन्दुविधिवद्विनेयानध्यापयामास स नैजभाष्यम्।
तर्कैः परेषां तरुणैविविष्वन्मरीचिभिः सिन्धुवदप्रशोष्यम्॥
श्रीश० दि० , ६-६५

२- धनपति सूरिकृत टीका में " विविष्वन् " के स्थान पर " विविस्वन् " पाठ मिलता है।

३- श्रुत्वातदद्भुतं कर्म द्विजा दिग्भ्यः समाययुः।
घनघोषमिवाऽऽकर्ण्य निकुञ्जेभ्यः शिखावलाः॥
श्रीश० दि० , १-७८

उलूक उपमान -

मण्डनमिश्र द्वारा शङ्कराचार्य की प्रशंसा के अवसर पर " उलूक " उपमान का प्रयोग भाव के विशदीकरण में अत्यन्त सहायक हुआ है - " सज्जन उपनिषद् के उपदेशों से सुशोभित आपके यश से सन्तोष प्राप्त करें । इसके विपरीत दुष्टों का समुदाय सूर्य की किरणों से (अदर्शन रूप) मोह को प्राप्त करने वाले उलूक के समान मोह को प्राप्त करें "।[1]

यहाँ " उलूकपरक वाक्यार्थ उपमान और " दुष्टसमुदायपरक वाक्यार्थ उपमेय के रूप में कल्पित हैं । " मोहत्व " साधारणधर्म और " इव " उपमावाचक शब्द भी यहाँ उक्त हैं ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में " मेघ " का भी उपमान के रूप में अनेक बार प्रयोग हुआ है परन्तु ये स्थल कल्पना की दृष्टि से इतने सामान्य हैं कि यहाँ इनका विस्तार से अध्ययन आवश्यक प्रतीत नहीं होता । अतः ऐसे स्थलों का निर्देश पाद टिप्पणी[2] में इनकी श्लोक सङ्ख्या के द्वारा कर दिया गया है ।

ग- पौराणिक उपमाएँ

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में यत्र-तत्र पौराणिक उपमानों का प्रयोग भी उपमालङ्कार के प्रसङ्ग में दृष्टिगोचर होता है । इनके कुछ रमणीय स्थलों का आगे अध्ययन किया गया है :

- -

[illegible]

१- सन्तः सन्तोषपोषं दधतु तव कृताम्नायशीर्षैर्यशोभिः ।
सौरालोकैरुलूका इव निखिलखला मोहमाहो वहन्तु ॥
श्रीश० दि० , ८-४१ ।

२ - श्रीश० दि० , ४-८३ , ७-१३ , १५-१७ , ७-१५ , १६-११ ।

कल्पवृक्ष उपमान -

कल्पवृक्ष का वर्णन प्राय: पुराणों में मिलता है । " श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य की प्रशंसा के अवसर पर " कल्पवृक्ष " का उपमान के रूप में अनेक बार चयन हुआ है । इस प्रसङ्ग के कतिपय सुन्दर स्थलों का अध्ययन आगे किया जा रहा है :

" शोभन यशरूपी फूलों के गुच्छों वाले , आश्रित विद्वानरूपी भौंरे वाले , गुणरूपी पल्लव वाले और क्षमारूपी रस से युक्त ज्ञानरूपी फल वाले देववृक्ष (कल्पवृक्ष) के समान विद्वत्शिरोमणि शङ्कराचार्य शोभित हुए ।[1] "

यहाँ उपमा के अङ्ग के रूप में रूपक और श्लेष भी आया है । "सुरशाखीव रराज सूरिराट् " इस अंश में पूर्णोपमा है । " विबुधा: " और " आलि: " पदों में श्लेष है । " सुयश: कुसुमोच्चय: ", " गुणपल्लव: " " अवबोधफल: " और " क्षमारस: " आदि में रूपक अलङ्कार है ।

एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है : " शङ्कराचार्य का अद्भुत शोभा वाला कटिप्रदेश स्वर्ण की कान्ति वाले मूँज की तीक्ष्ण प्रभा से व्याप्त था जिसके कारण वे पुण्यों से प्राप्य तथा पक जाने के कारण पीतवर्ण की लतिका से आलिङ्गित स्वर्ग में उगने वाले (कल्पवृक्ष) के समान प्रतीत हो रहे थे ।[2] "

यहाँ " शङ्कराचार्यपरक वाक्यार्थ उपमेय और " स्वर्गवृक्षपरक वाक्यार्थ उपमान के रूप में विवक्षित हैं ।

१- सुयश: कुसुमोच्चय: श्रयद्विबुधालिर्गुणपल्लवोद्गम: ।
अवबोधफल: क्षमारस: सुरशाखीव रराज सूरिराट् ।। श्रीश० दि० , ४-७३

२- जातरूपरुचिमुञ्जसुधाम्ना जातरूपकटिमद्भुतधाम्ना ।
नाकभूजमिव सत्कृतिलभ्यं पाकपीतलतिकापरिरब्धम् ।। श्रीश० दि० , ५-२३

" वसन्त " और " स्वर्ग की वाटिका " उपमान -

राजा सुधन्वा की सभा के वर्णन में " वसन्त " और " स्वर्ग की - वाटिका " का उपमान के रूप में सटीक कथन हुआ है : " स्वर्णासन पर बैठे हुए राजा को कुमारिलभट्ट ने आशीर्वाद से अभिनन्दित करके उस सभा को वसन्त के द्वारा स्वर्ग की वाटिका के समान सुशोभित किया ।"[1]

यहाँ " सभापरक वाक्यार्थ उपमेय और " भुवनोपरक वाक्यार्थ उपमान है । शोभनत्व " साधारणधर्म और " इव " उपमावाचक शब्द हैं ।

" सुमेरु " पर्वत उपमान -

" पुराने विद्वानों में और आज के विद्वानों में न कोई शङ्कराचार्य के समान है और न भविष्य में होगा जिस प्रकार सुमेरुपर्वत के समान कोई पर्वत त्रिकाल में नहीं है ।"[2]

यह अनन्वयानुप्राणित उपमा अलङ्कार का स्थल है । इसमें " तत् " (शङ्कराचार्य) उपमेय , " समेरुपर्वत " उपमान , " यथा " उपमावाचक शब्द और " सदृश अविद्यमानता " साधारणधर्म है । " यथा " पद के प्रयोग से तुरन्त सादृश्य की प्रतीति होने के कारण और समासरहित होने के कारण यह " श्रौतीवाक्यगा " उपमा का प्रकारविशेष है ।

१- सोऽभिनन्द्याऽऽशिषा भूपमासीनः काञ्चनासने ।
तां सभां शोभयामास सुरभिर्भुवनीमिव ।। शं० दि० , १-६३

२- न बभूव पुरातनेषु तत्सदृशो नाद्यतनेषु दृश्यते ।
भविता किमनागतेषु वा न सुमेरोः सदृशो यथा गिरिः ।।
शं० दि० , ४-७१

' मधुरिपु ' उपमान -

विष्णु भगवान ने मधु और कैटभ नामक दैत्यों का वध किया था - यह कथा पुराणों में प्राप्त होती है । इस कथा के आधार पर विष्णु के लिये ' मधुरिपु ' विशेषण का प्रयोग किया जाता है । ' शंकरदिग्विजय ' में नदी की तटी की तुलना के लिये मधुरिपु की मूर्ति उपमान के रूप में चुना गया है :

'मत्स्य और कच्छप अवतारों वाली , सुदर्शन चक्र को धारण करने वाली , चौदह भुवनों को गर्भ में धारण करने वाली , कमलिनी से पूजित और लक्ष्मी से समन्वित मधुरिपु (अर्थात् विष्णु) की मूर्ति परमहंसों (मुमुक्षुओं) के द्वारा जिस प्रकार सेवित की जाती है उसी मत्स्य और कच्छप आदि जीवों वाली , चक्रवात को धारण करने वाली , गर्भ में स्थित जल वाली , कमलनियों से शोभित , सुन्दर नदी की तटी इस समय (शरत्काल में) श्रेष्ठ हंसों (पक्षीविशेष) के द्वारा सेवित की जाती है ।'[1]

यहाँ श्लेषगर्भित पूर्णोपमा का सौन्दर्य है ।

यहाँ ' तटिनी ' उपमेय , ' मधुरिपु की मूर्ति ' उपमान , ' इव ' उपमा वाचक शब्द और ' सेव्यत्व ' साधारण धर्म हैं । ' हंसैः ' पद श्लिष्ट है । इसके दो अर्थ (विष्णु पक्ष में मुमुक्षुओं के द्वारा और तटी पक्ष में हंस नामक पक्षी विशेष के द्वारा) हैं ।

' अमृत ' उपमान का प्रयोग ' शंकरदिग्विजय ' में प्राय: वाणी और यश के वर्णन-प्रसंग में हुआ है । ये सभी उपमालंकार के अत्यन्त साधारण

१- मत्स्यकच्छपमयी धृतचक्रा गर्भवर्तिभुवना नलिनाढ्या ।
श्रीयुताऽद्य तटिनी परहंसैः सेव्यते मधुरिपोरिव मूर्तिः ।।
श्रीश० दि० , ५-१४४

स्थल है अर्थात् मात्र अलङ्कार के लिये अलङ्कार का प्रयोग हुआ है । अत: यहाँ विस्तार से अध्ययन न करके उन्हें पाद टिप्पणी[1] में श्लोक सङ्ख्या के द्वारा सङ्केत कर दिया गया है ।

शङ्कराचार्य की योगसिद्धि के वर्णन में " अगस्त्य मुनि " उपमान के रूप में : " उन्होंने (शङ्कराचार्य ने) शीघ्र ही घड़े को अभिमन्त्रित करके उस (बढ़ी हुई नदी के) प्रवाह के सामने रख दिया । इसमें समस्त जल उसी प्रकार समाविष्ट हो गया जिस प्रकार कुम्भ सम्भव अर्थात् अगस्त्य मुनि के हाथ में समुद्र समाविष्ट हो गया था ।[2]

यहाँ " घड़ा " परक वाक्यार्थ उपमेय और " कुम्भसम्भव की हथेली " परक वाक्यार्थ उपमान के रूप में विवक्षित है । " इव " उपमावाचक शब्द और " समाविष्टता " साधारण धर्म है।

इसके अतिरिक्त भी कई स्थलों पर पौराणिक उपमान प्रयुक्त हुए हैं जिनका सङ्केत पादटिप्पणी[3] में श्लोकसङ्ख्या द्वारा कर दिया गया है ।

घ- दार्शनिक उपमाएँ

माधवाचार्य स्वयं एक उच्च कोटि के दार्शनिक थे । इसके अतिरिक्त दार्शनिकप्रवर शङ्कराचार्य के चरित्रवर्णन जैसे विषय पर लेखनी चलाने

- -

१- श्रीश० दि० , १-५७ , १-६१ , ४-८४ , ५-२७ , ४-१६६ , १२-८३ , ८६ ।

२- सोऽभिमन्त्र्य करकं त्वरमाणस्तत्प्रवाहपुरत: प्रणिधाय ।
कृत्स्नमत्र समविशयदम्भ: कुम्भसम्भव इव स्वकरेऽब्धिम् ।।
श्रीश० दि० , ५-१३८

३- श्रीश० दि० , ३-८० , ८१ , १-४६ ।

के कारण उनके काव्य में दार्शनिक तथ्यों , सिद्धान्तों का उपमान के रूप में ग्रहण अत्यन्त स्वाभाविक था । वर्णावर्णन के माध्यम से दार्शनिक तथ्यों का जिस सुगमता एवं सहजता से इन्होंने बोध कराया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । प्राय: संस्कृत साहित्य के काव्यों में ऋतुओं का मानवीकरण हुआ है परन्तु दार्शनिक तथ्यों का मानवीकरण कहीं भी नहीं दृष्टिगोचर होता है । कवि माधवाचार्य ने दर्शन के तथ्यों का न केवल मानवीकरण किया है अपितु उसे प्राकृतिक उपादानरूप उपमेय (जो सदैव उपमान के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं) का उपमान बनाकर ऋतु के वर्णन में चार चाँद लगा दिया है । चमत्कार की अनोखी सूझ के कारण रमणीय इन स्थलों के प्रसङ्ग में यह कहना कठिन हो जाता है कि यहाँ प्रकृति का वर्णन उत्तम है या दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रस्तुतीकरण । आगे दार्शनिक उपमानों से अन्वित उपमा के कतिपय स्थलों का अध्ययन किया जा रहा है :

' परमात्मतत्व ' उपमान -

शिष्य शङ्कराचार्य के प्रति उपदेश करने वाले गुरु गोविन्दाचार्य की उक्ति - " हे सौम्य ! (शङ्कराचार्य) देखो शरद्-ऋतु के कारण आकाश ब्रह्मविद्या के कारण परमात्मतत्व के समान विशद हो गया है ।[१] "

यहाँ ' आकाशपरक वाक्यार्थ उपमेय ' परमात्मतत्व ' परक वाक्यार्थ उपमान , ' इव ' उपमावाचक शब्द और ' विशदता ' साधारणधर्म हैं ।

' निर्मल बोध ' उपमान -

' यह चन्द्रमा मेघों के द्वारा मार्ग के मुक्त कर दिये जाने पर अतिस्फुट कान्ति वाला होकर उसी प्रकार प्रकाशित हो रहा है जिस प्रकार माया के

- -

१- पश्य सौम्य शरदा विमलं खं विद्ययैव विशदं परतत्वम् ।

श्रीश० दि० , ५-१४०

आवरण के छूट जाने पर तत्वज्ञानियों का बोध प्रकाशित होता है।[1]

यहाँ " चन्द्रमापरक वाक्यार्थ उपमेय , " बोधपरक वाक्यार्थ उपमान " इव " उपमावाचक शब्द और " भातित्व " साधारण धर्म के रूप में न्यस्त हैं।

योगशास्त्र में निर्दिष्ट " मैत्री " आदि गुण उपमान -

" मेघ समूह के चले जाने पर सुन्दर और स्वच्छ प्रकाश वाले नक्षत्र उसी प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं जिस प्रकार राग-द्वेष के अपनयन हो जाने पर विशुद्ध मैत्री आदि गुण प्रकाशित होते हैं।[2]"

" मन " उपमान -

तालाब के जल की विशदता को प्रतिपादित करने के लिये " मन " उपमान का प्रयोग इस उदाहरण में द्रष्टव्य है :

" हंसों की सङ्गति से शोभित , धूलि से रहित , तरङ्गों से शून्य , पङ्कहीन तालाब का अत्यन्त गम्भीर जल हंसों (संन्यासियों) की सङ्गति से रजोगुण हीन , क्षोभरहित , पापरूपीपङ्क से हीन अत्यन्त गम्भीर तुम्हारे मन के समान प्रकाशित हो रहा है।[3] "

यह श्लेषगर्भित उपमालङ्कार का स्थल है। यहाँ " जल " परक वाक्यार्थ उपमेय और " मनपरक वाक्यार्थ उपमान , " इव " उपमावाचक शब्द

- -

१- शीतदीधितिरसौ जलमुग्भिर्मुक्तपद्धतिरतिस्फुटकान्तिः।
भाति तत्वविदुषामिव बोधो मायिकावरणनिर्गमशुभ्रः॥ श्रीश० दि०, ५-१४२

२- वारिवाहनिवहे प्रतियाते भान्ति भानि शुचिभानि शुभानि।
मत्सरादिविगमे इति मैत्रीपूर्विका इव गुणाः परिशुद्धाः॥ श्रीश०दि०,५-१४३

३- हंससङ्गतिलसद्विरजस्कं क्षोभवर्जितमपङ्कुल पङ्कम्।
वारि सारसमतीव गभीरं तावकं मन इव प्रतिभाति॥ श्रीश० दि०, ५-१४७

और " प्रतिभातितत्व " साधारण धर्म के रूप में न्यस्त हैं । " हंस " और " विरजस्कं" पदों में श्लेष है । हंस पद के दो अर्थ (तालाब पक्ष में पक्षी विशेष और शङ्कराचार्य के मन के पक्ष में संन्यासी) विवक्षित हैं । इसी प्रकार विरजस्कं पद के दो अर्थ (तालाब पक्ष में धूलिरहित तथा मन पक्ष में रजोगुण हीन) विवक्षित हैं । शङ्कराचार्य के प्रसङ्ग में " पङ्क " पद में रूपक होगा ।

" मुनि का हृदय " उपमान -

गुरु गोविन्दाचार्य की शङ्कराचार्य के प्रति उक्ति - " हे सौम्य । विकसित , सूर्य की किरणों को धारण करने वाले , ऊपर की ओर मुख किये हुए कमल उसी प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं जिस प्रकार विष्णु के चिन्तन में लीन , उन्नत विचारों से पूर्ण मुनियों के हृदय योग की कलाओं के कारण विकसित होकर प्रकाशित होते हैं ।"[१]

यहाँ भी " श्लेष " उपमा का अङ्ग बनकर आया है । " हरि " पद के दो अर्थ (कमलपक्ष में सूर्य और मुनि पक्ष में विष्णु) प्राप्त होते हैं ।

यहाँ " पङ्कजपरक वाक्यार्थ उपमेय और " हृदयपरक वाक्यार्थ उपमान है ।

शङ्कराचार्य एक उच्चकोटि के संन्यासी थे । इसलिये इनके चरित्र वर्णन के लिये उक्त माधवाचार्य के द्वारा संन्यासी को उपमान के रूप में चुनना अत्यन्त स्वाभाविक ही था । प्रस्तुत है इस प्रसङ्ग का एक सुन्दर उदाहरण :

१- पङ्कजानि समुद्धहरीणि प्रोद्गतानि विकचानि कनन्ति ।
सौम्य योगकलयेव विफुल्लान्युन्मुखानि हृदयानि मुनीनाम् ।।
श्रीश० दि० , ५-१४६

" यह शरत्काल चन्द्रिका रूपी भस्म से लिप्त शरीर वाला होकर, चन्द्रमण्डलरूपी कमण्डलु से शोभित होकर और बन्धुजीव के पुष्पसमूह रूपी रेशमीवस्त्र से आवृत होकर निःस्पृह संन्यासी के समान प्रतीत हो रहा है।[1] "

यह रूपकगर्भित उपमा अलङ्कार का स्थल है। यहाँ उपमेय " अयम् " (शरत्काल), उपमान " यति ", उपमावाचक शब्द " इव " शब्दतः उक्त हैं परन्तु साधारण धर्म " प्रतीतत्व " अनुक्त है। अतः यह लुप्तोपमा का स्थल है। " चन्द्रिकाभस्मित ", " चन्द्रमण्डलकमण्डलु " और " कुसुमोत्करशाटी " पदों में रूपक अलङ्कार है जो उपमालङ्कार के सौन्दर्य में चार चाँद लगा रहा है।

एक अन्य उदाहरण इसी प्रसङ्ग का देखना अनुचित न होगा -

" धूलिरूपी भस्म से व्याप्त, पत्ररूपी रेशमी वस्त्र से आवृत, भ्रमररूपी जपमाला और कलिकारूपी कमण्डलु से युक्त वृक्ष संन्यासियों की समानता को धारण कर रहे हैं।[2] "

यहाँ भी रूपकगर्भित उपमालङ्कार का सौन्दर्य है। यहाँ " क्षितिरुह " उपमेय, " यति " उपमान धारण करना साधारण धर्म और " तौल्यम् " उपमावाचक शब्द हैं। उपमावाचक शब्द के सुनते ही साधारण धर्म के सम्बन्धरूप सादृश्य का बोध नहीं होता है इसलिये इसके प्रयोग से यहाँ " आर्थी " उपमा होगा। इसके साथ ही उपमान " यति " के साथ उपमावाचक शब्द " तौल्यम् " का समास होने से यह समासगा (आर्थी) उपमा है।

१- चन्द्रिकाभस्मितचर्चितगात्रश्चन्द्रमण्डलकमण्डलुशोभी ।
बन्धुजीवकुसुमोत्करशाटीसम्वृतो यतिरिवायमभैक्षः ॥
श्री० दि०, ५-१४६

२- रेणुभस्मकलितैर्दलशाटीसम्वृतैः कुसुमलिङ्गजपमालैः ।
वृन्तकुड्मलकमण्डलुयुक्तैर्धारितो क्षितिरुहैर्यतितौल्यम् ॥
श्री० दि०, ५-१५०

ड०- मालोपमाएँ

कुछ मालोपमाएँ भी द्रष्टव्य हैं -

शङ्०कराचार्य की अल्पायु के विषय में जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् उनकी माँ की मन:स्थिति के वर्णन में मालोपमा - " अङ्०कुश से पीड़ित हथिनी के समान , आषाढ़मास की उष्णता से सुखायी गयी नदी के समान तथा वायु के तेज झोंकों से कम्पित हुई कदली (केला) की तरह , मुनि के (पुत्रायुविषयक) वचनों से वह सुत्वत्सला माता दु:खी हो गयी ।[1]

यहाँ " सा " (माँ)उपमेय " के लिये तीन उपमान क्रमश: - " करिणी " " शैवालिनी " और " कदली " प्रयुक्त हुए हैं । तीनों उपमानों के साथ " इव " उपमावाचकशब्द का समास होने से यहाँ समासगा श्रौती मालोपमा का चमत्कार है । तीनों उपमानों के प्रसङ्०ग में साधारणधर्म भिन्न-भिन्न हैं जो क्रमश: इस प्रकार हैं - " पीड़ितत्व " " शुष्कत्व " और " कम्पनत्व " ।

मृत अमरुक राजा के शरीर में प्रविष्ट राजारूप शङ्०कराचार्य के वर्णन में तद्धितगा मालोपमा: " ययाति के समान (यह) याचकों को धन देता है , अर्थशानी (यह) बृहस्पति के समान वचन बोलता है , प्रतिपक्षी राजाओं को अर्जुन के समान (यह) जीतता है तथा शङ्०कर भगवान के समान (यह) सब कुछ जानता है ।[2]

- -

१- सृणिना करिणीव साऽर्दिता शुचिना शैवालिनीव शोषिता ।
मरुता कदलीव कम्पिता मुनिवाचा सुतवत्सलाऽभवत् ॥
श्रीश० दि० , ५-५०

२- वसु ददाति ययातिवदर्थिने वदति गीष्पतिवद्गिरमर्थवित् ।
जयति फाल्गुनवत्प्रतिपार्थिवान्सकलमप्यवगच्छति शर्ववत् ॥
श्रीश० दि० , १०-५ ।

प्रस्तुत उद्धरण में उपमेय अनुक्त है जिसका प्रसङ्गवश अध्याहार करना पड़ेगा। अतः अध्याहृत उपमेय - अमरुक राजा रूप शङ्कराचार्य के लिये चार प्रसिद्ध उपमान जो क्रमशः हैं - ययाति , गीष्पति , फाल्गुन और शची-का प्रयोग हुआ है। सभी उपमानों के प्रसङ्ग में साधारणधर्म क्रमशः हैं - वसुदानत्व , वदनत्व , जेयत्व और बोधत्व। " तत्र तस्येव " सूत्र से षष्ठ्यन्त सभी उपमानों से इवार्थ में " वति " प्रत्यय का प्रयोग होने से यह तद्धितगा श्रौती लुप्तमालोपमा का स्थल है।

शङ्कराचार्य की विद्वत्ता के वर्णन में प्रयुक्त एक अन्य मालोपमा का उद्धरण देखना अनुचित न होगा -

" वेद में ब्रह्मा के समान , वेदाङ्गों के विषय में गार्ग्य के सदृश , वेदाङ्गों के तात्पर्य विवेचन में बृहस्पति तुल्य , वेद विहित कर्म के वर्णन में जैमिनि के समान तथा वेदवचन के द्वारा प्रकट किये गये ज्ञान के विषय में व्यास के समान नवीन वाणी के विलास से युक्त वह (बालक शङ्कराचार्य) मानों साक्षात् व्यास का अवतार था। [1]

यहाँ " स " (शङ्कराचार्य)उपमेय के लिये ब्रह्मा , गार्ग्य , बृहस्पति , जैमिनिमुनि और व्यास - इन पाँच उपमानों का प्रयोग हुआ है। मात्र " जैमिनि " उपमान के साथ " इव " पद का प्रयोग हुआ है। अतः इस अंश में " श्रौती " उपमा होगी। अन्य अंशों में " सम " आदि का प्रयोग होने से आर्थी उपमा कोष्ठक है। " वेदे ब्रह्म " में साधारण धर्म तथा वाचकशब्द दोनों का लोप होने से लुप्तोपमा भी है। अन्य अंशों में भी साधारण धर्म अनुक्त है। " व्यासेनैव स मूर्तिमानिव " अंश में उत्प्रेक्षा की स्वतन्त्र स्थिति है।

- -

१- वेदे ब्रह्मसमस्तदङ्गविषये गार्ग्योपमस्तत्कथा
तात्पर्यार्थविवेचने गुरुसमस्तत्कर्मसंवर्णने।
आसीज्जैमिनिरेव तद्वचनजप्रोद्बोधकाण्डे स्मो
व्यासेनैव स मूर्तिमानिव नवो वाणीविलासैर्युतः॥

शं०दि० , ४-१६

इसके अतिरिक्त भी मालोपमाएँ विवेच्य ग्रन्थ में दृष्टिगोचर होती हैं। जिनकी श्लोक संख्यायें नीचे निर्दिष्ट हैं।[1]

६- अनन्वय

जब एक वाक्य में एक ही पदार्थ को उपमान और उपमेय दोनों वर्णित कर दिया जाय तब वहाँ अनन्वय अलङ्कार का सौन्दर्य होता है।[2]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य की कलाओं के प्रशंसा के अवसर पर अनन्वय अलङ्कार का प्रयोग हुआ है -" तीनों लोक में कला मात्र से भी शङ्कराचार्य की बराबरी करने वाले किसी भी व्यक्ति को हम लोग नहीं मानते हैं। विद्वानों में वह अपने समान स्वयं हैं, यदि यह कहा जाय तो कौन व्यक्ति है जो इसका निषेध करेगा।[3]

यहाँ शङ्कराचार्य उपमेय और उपमान दोनों रूपों में कल्पित किये गये हैं। अतः यहाँ अनन्वय अलङ्कार का चमत्कार है।

एक अन्य स्थल पर अनन्वय अलङ्कार उपमा के अङ्ग के रूप में दिखाई पड़ता है जिसका उल्लेख उपमा के प्रसङ्ग में किया गया है। अतः द्रष्टव्य है पूर्व पृष्ठ सङ्ख्या ३२५।

- -

१- श्रीश० दि० २-७८ ; ६-२० ; ४-७०

२- उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वयः।

का० प्र०, सू० सं० - १३४

३- कलयाऽपि तुलानुकारिणं कलयामो न वयं जगत्त्रये।
विदुषां स्वसमो यदि स्वयं भविता नेति वदन्ति तत्र के॥

श्रीश० दि०, ४-६३

८- उत्प्रेक्षा

प्रकृत अर्थात् उपमेय की सम अर्थात् उपमान के साथ सम्भावना व्यक्त करना उत्प्रेक्षा अलङ्कार कहलाता है।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में उत्प्रेक्षा अलङ्कार के भी अनेक हृदयावर्जक स्थल प्राप्त होते हैं। कुछ रमणीय स्थल यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं :

शङ्कराचार्य के कपालों की प्रशंसा में उत्प्रेक्षा -

" चन्द्रमा की कान्ति के समान यश वाले शङ्कराचार्य के दोनों सुन्दर कपोल इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानों मुख का आश्रय लेने वाली सरस्वती के लिये ब्रह्मा के द्वारा बनाये गये दो दर्पण हों।[2] "

यहाँ उपमेय " कपोलों " में उपमान " दर्पण " की उत्कट सम्भावना व्यक्त होने के कारण उत्प्रेक्षा का चमत्कार है। " इव " पद के प्रयोग के कारण यहाँ वाच्योत्प्रेक्षा है।

शङ्कराचार्य के द्वारा ब्रह्मभाव प्राप्त कर लिये जाने पर प्रकृति की प्रतिक्रिया के वर्णन में मनोहर एक उत्प्रेक्षा- " ब्रह्मभाव को प्राप्त कर जब विद्वत्श्रेष्ठ शङ्कराचार्य ने आवागमन से मुक्ति के लिये उस परमात्मा का सम्यक ध्यान किया तब विषयों में अनुराग करना विद्युत के समान चञ्चल है मानों इसे कहता हुआ मेघ उत्पन्न हुआ।[3] "

- -

१- सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। का० प्र० , सू०सं० - १३६

२- सुकपोलतले यशस्विनः शशिभाते सितभानुवर्चसः।
वदनाश्रितभारतीकृते विधिसङ्कल्पितदर्पणाविव ।। श्रीश०दि० , ४-५३

३- तमसावमधिगत्य सुधीन्द्रे तं समीहति च संसृतिमुक्त्यै।
सञ्चचाल वदयन्निव मेघश्चञ्चलाचपलतां विषयेषु ।। श्रीश० दि०, ५-११८

यहाँ जड़ मेघ की क्रिया " उच्चचाल " रूप उपमेय में सचेतन की क्रिया " कथयन् " रूप उपमान की उत्प्रेक्षा हुई है। " इव " पद के प्रयोग से इस स्थल में वाच्यक्रियोत्प्रेक्षा है।

शङ्कराचार्य की ज्ञानमुद्रा के प्रति उत्प्रेक्षा -

" पुस्तक ही शरीर है जिसका ऐसे श्रुति के सार को वाम हस्त में ग्रहण करने से और ज्ञानमुद्रा को धारण करने वाले दक्षिण हस्त से योगी शङ्कराचार्य विपक्षियों के द्वारा किये गये (श्रुतिसारगत) दोषों का उद्धार करते हुए से प्रतीत हो रहे थे।[1] "

यहाँ ज्ञानमुद्रान्वित हस्त के आकार रूप उपमेय में विपक्षीकृत दोषों के उद्धारविषयक मुद्रा की उत्कट सम्भावना व्यक्त की गयी है। यहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द " इव " का कथन होने से " वाच्योत्प्रेक्षा " का सौन्दर्य विद्यमान है। " पुस्तकवपुः " अंश में रूपक है।

शङ्कराचार्य की भुजाओं में उत्प्रेक्षा -

" बाहरी तथा भीतरी शत्रुओं को नियन्त्रित करने में परिघ की विशालता को हरण करने वाले शुभलक्षण से युक्त शङ्कराचार्य की दोनों भुजाएँ मानों दो विजय स्तम्भ हों।[2] "

१- आदाय पुस्तकवपुः श्रुतिसारमेकहस्तेन वादिकृततद्गतकण्टकानाम् ।
उद्धारमारचयतीव विबोधमुद्रामुद्बिभ्रतो निजकरेण परेण योगी ।।
श्रीश० दि० , ४-४६

२- परिघप्रथिमापहारिणौ शुशुभाते शुभलक्षणौ भुजौ ।
बहिरन्तरशत्रुनिग्रहे विजयस्तम्भयुगीधुरन्धरौ ।।
श्रीश० दि० , ४-४८

यहाँ उपमान जड़ पदार्थ " विजय स्तम्भ " में सम्भव परिघ की विशालता से युक्त धर्म का उपमेय सचेतन के अङ्ग " भुजाओं " में सम्भावना रूपी हेतु के कारण हेतूत्प्रेक्षा का सौन्दर्य है ।

शङ्कराचार्य के वक्षस्थल के प्रति उत्प्रेक्षा -

" कपाटफलक के समान विशाल , पुष्ट और सुन्दर शङ्कराचार्य की उरःस्थली सुशोभित थी । (जो) पृथ्वी पर भ्रमण करने के कारण थकी हुई जयलक्ष्मी के द्वारा (विश्राम के लिये) आश्रय ली गयी मोटी शय्या के समान प्रतीत हो रही थी ।[1] "

यहाँ 'वक्षस्थल' रूप उपमेय में 'पृथुशय्या' रूप उपमान की उत्कट सम्भावना व्यक्त की गयी है । " इव " पद के प्रयोग से उत्प्रेक्षा वाच्य है न कि गम्य । कमावररस्फालविशाल " अंश में उपमा वाचक शब्द अनुक्त होने से लुप्तोपमा है । यह उत्प्रेक्षा के सौन्दर्य का वर्धक होने के कारण उसका अङ्ग है ।

गर्भिणी शङ्कराचार्य की माँ के स्थिति-चित्रण में उत्प्रेक्षा -

" उस स्त्री के घटाकार पयोधरों के मध्य में मानों द्वैतवाद निवास करता था और मध्य (कटि) में माध्यमिक मत । महात्माओं के द्वारा निन्दनीय इन दोनों मतों की निन्दा उस नितान्त सुन्दरी के गर्भ में रहते समय ही उस बालक (शङ्कराचार्य) ने कर दी ।[2] "

१- रुचिरा तदुरःस्थली कमावररस्फालविशालमांसला ।
धरणीभ्रमणोदितश्रमात् पृथुशय्येव जयश्रियाऽऽश्रिता ।।
श्रीश० दि० , ४-४८

२- द्वैतप्रवादं कुचकुम्भमध्ये मध्ये पुनर्माध्यमिकं मतं च ।
कुक्षिगतोऽपि स एव सोऽमी व्यगर्हयामास महात्मगर्ह्यम् ।।
श्रीश० दि० , २-७०

यहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द का प्रयोग न होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा है। साधारण अवस्था में दोनों पयोधर पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इन दोनों पयोधर रूपी उपमेय में कवि ने द्वैतवाद रूपी उपमान की उत्कट कल्पना की है। गर्भावस्था में पीनता के कारण ये पयोधर पृथक्-पृथक् होते हुए भी एकत्व की प्रतीति कराने लगते हैं। इस एकत्व की प्रतीति में कवि ने शङ्कराचार्य के द्वारा द्वैतवाद की निन्दा (और अद्वैतवाद की स्थापना) करने की उत्कट कल्पना कर ली है। इसी प्रकार मध्यउदर भाग में माध्यमिक मत (शून्यवाद) के निवास की उत्कट कल्पना और गर्भभार के कारण इसकी कृशता में माध्यमिक मत के उच्छेद की सम्भावना व्यक्त होने के कारण यहाँ उत्प्रेक्षा का चमत्कार है।

शङ्कराचार्य के यशवर्णन में गम्योत्प्रेक्षा -

" संसार में सबसे शुद्ध कौन सा पदार्थ है? इस परम्परा में चन्द्रमा का नाम अग्रगण्य था परन्तु शङ्कराचार्य के निर्मल यश के द्वारा वह चन्द्रमा परास्त कर दिया गया है। इस कारण मानो अब वह अपने कलङ्क को धोने के लिये ही समुद्र में डूबता है और शिव के मस्तक पर निवास कर उनकी सेवा करता है।[1] "

यहाँ उदधि मज्जन और शिवसेवन इन दो क्रियाओं के हेतु के रूप में कलङ्कनिवृत्ति की उत्कट कल्पना होने के कारण हेतूत्प्रेक्षा अलङ्कार है। एक ही समय में चन्द्रमा की दो स्थानों पर उपस्थिति का वर्णन होने के कारण यहाँ " विशेष " अलङ्कार " का भी सौन्दर्य है।

१- परिशुद्धकथासु निर्जितो यशसा यस्य कृताङ्कनः शशी।
स्वकलङ्कनिवृत्तयेऽधुनाऽम्बुधौ मज्जति सेवते शिवम्॥
श्रीश० वि०, ४-६६

मेघ गर्जन के प्रति उत्प्रेक्षा -

' क्या विष्णु के पद अर्थात् आकाश में रहने वाले ये मेघ अपने मित्रों को ब्रह्मविषयक उपदेश कर रहे हैं? जिनकी ध्वनि को सुनकर सम्पूर्ण प्राणी जगत् निश्चय ही अत्यधिक आनन्द को प्राप्त कर लेता है।'[1]

यहाँ मेघ गर्जन रूप उपमेय में ब्रह्मविषयक उपदेश रूप उपमान की उत्कट सम्भावना व्यक्त की गयी है। ' किं नु ' पद उत्प्रेक्षा का वाचक होने के कारण यहाँ वाच्योत्प्रेक्षा है।

इन्द्रधनुष के प्रति गम्योत्प्रेक्षा -

' ज्ञान के कारण अभिमानी ये यति लोग देवराज मेरा भी यज्ञ से पूजन नहीं करतेइस कारण क्रोधयुक्त इन्द्र ने आकाश में अपना धनुष प्रकट कर दिया।'[2]

यहाँ उपमेय इन्द्रधनुष के प्रकटन रूप क्रिया के हेतु के रूप में उपमान इन्द्र के क्रोध की उत्कट सम्भावना प्रकट होने के कारण उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य है।

गङ्गा के स्थिर प्रवाह के प्रति उत्प्रेक्षा -

' गङ्गा के प्रवाह के कारण अवरुद्ध वेग वाली अतएव स्थिर प्रवाह के कारण यमुना ऐसी प्रतीत होती है मानों नयी सखी से मिलने के कारण लज्जित होकर मन्दगति वाली हो गयी है।'[3]

- -

१- किंनु विष्णुपदसंश्रयतोऽब्दा ब्रह्मतामुपदिशन्ति सुहृद्भ्यः।
यन्निशम्य निखिलाः स्वनमेषां बिभ्रति स्म किल निर्भरमोदान्॥
श्रीश० दि०, ५-१२१

२- देवराजमपि मां न यजन्ति ज्ञानगर्वभरिता यतयोऽमी।
इत्यमर्षवशेन पयोदस्यन्दनेन धनुराविकारी ॥
श्रीश० दि०, ५-१२२

३- गङ्गाप्रवाहिरुपरुद्धवेगा कलिन्दकन्या स्थिमितप्रवाहा।
अपूर्वसख्यागतलज्जयेव मन्थरं भाति विचित्रपाथाः॥ श्रीश० दि०, ६-६४

यहाँ यमुना की नियन्त्रित गति के कारण के रूप में लज्जा उत्प्रेक्षित हुई है । " इव " के प्रयोग होने से यहाँ वाच्यहेतूत्प्रेक्षा है ।

गौड़पाद के वर्णन में उत्प्रेक्षा -

" गौड़पाद का हाथ विकसित श्वेत कमल की कान्ति के समान प्रतीत होने वाले कमण्डलु से सुशोभित था जो श्वेतकमल के पास सान्ध्यकालीन लालिमा के कारण लाल हुए बादल की शोभा धारण कर रहा था ।"[1]

श्लोक के प्रथमार्ध में उपमा अलङ्कार का सौन्दर्य है । द्वितीयार्ध में गौड़पाद के हाथ की लालिमा जो व्यङ्ग्य है उपमेय के रूप में विवक्षित है । इस उपमेय में उपमानभूत सान्ध्यकालीन लालिमा से युक्त बादल की उत्कट सम्भावना व्यक्त की गयी है । यहाँ उत्प्रेक्षावाचक पद का प्रयोग न होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा है ।

एक अन्य उदाहरण - " अँगुलियों से संयुक्त रुद्राक्ष की माला को गौड़पाद अपने अँगूठे के अग्रभाग से घुमा रहे थे जिसे देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा था कि हाथ को लाल कमल समझकर भौंरों की पङ्क्ति मँडरा रही है ।"[2]

यहाँ गौड़पाद के हाथ में रक्तकमल की तथा रुद्राक्ष की माला में भौंरों की पङ्क्ति की उत्कट सम्भावना प्रकट होने के कारण उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य है ।

- -

१- पाणौ फुल्लश्वेतपङ्केरुहश्रीमैत्रीपात्रीभूतपात्रा घटेन ।
आराद्राजत्कैरवानन्दसन्ध्यारागारक्ताम्भोद लीलां दधानम् ।।
श्रीश० दि० , १६-३४

२- पाणौ शोणाम्भोजबुद्ध्या समन्ताद्भ्राम्यद्भृङ्गीमण्डलीतुल्यतुल्याम् ।
अङ्गुल्यग्रासङ्गिरुद्राक्षमालामङ्गुष्ठाग्रेणाक्षकृद्भ्रामयन्तम् ।।
श्रीश० दि० , १६-३५

कुमारिलभट्ट के द्वारा बौद्धों की निन्दा किये जाने के फलस्वरूप बौद्धों की प्रतिक्रिया में उत्प्रेक्षा -

" कुमारिलभट्ट के प्रति आक्षेपयुक्त कथनों और परस्पर खण्डन करने से उत्पन्न अतिशय कोलाहल ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो रसातल को भेद देगा ।"[1]

यहाँ उदतिष्ठन् (उत्-उच्चैः तारस्वरेण अतिष्ठन् जायमानः) उपमेय में भिन्दन् (विदीर्णं कुर्वन्) उपमान की सम्भावना व्यक्त होने के कारण क्रियोत्प्रेक्षा है । " भिन्दन्निव " पद में प्रयुक्त " इव " पद उत्प्रेक्षा का वाचक है ।

कुमारिलभट्ट के द्वारा वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के पश्चात् बौद्धों की दशा के चित्रण में उत्प्रेक्षा -

" बौद्धों को " सर्वज्ञ " उपाधि को न सहते हुए सर्वज्ञ कुमारिभट्ट ने, द्वेषी, मौनविभूषित उनको चित्रलिखित सा कर दिया ।"[2]

यहाँ उपमेय सचेतन किन्तु तत्काल मौन बौद्धों में उपमान जड़ अतएव सतत निःशब्द चित्र की उत्कट कल्पना व्यक्त होने के कारण उत्प्रेक्षा अलङ्कार का सौन्दर्य है ।

कुमारिलभट्ट के द्वारा वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने हेतु पर्वत पतन क्रिया स्वीकार की गयी थी । इस क्रिया के दृश्य वर्णन में उत्प्रेक्षा -

- -

१- उपन्यस्यत्सु साक्षेपं खण्डयत्सु परस्परम् ।
तेष्वदतिष्ठन्निर्घोषो भिन्दन्निव रसातलम् ।। श्रीश० दि० , १-६६

२- स सर्वज्ञपदं विशोऽसहमान इव द्विषाम् ।
चकार चित्रविन्यस्तानिवान्मौनविभूषितान् ।। श्रीश० दि० , १-७१

" कुमारिलभट्ट को पर्वत से गिरते हुए देखकर वहाँ उपस्थित जनसमूह परस्पर कहने लगे कि क्या दौहित्र के द्वारा दिये गये भी पुण्य के नाश हो जाने पर यह ययाति है जो स्वर्ग से गिर रहा है।[1] "

यहाँ उपमेयभूत कुमारिलभट्ट में उपमानभूत ययाति की सम्भावना व्यक्त होने के कारण उत्प्रेक्षा है।

६- रूपक

अत्यन्त सादृश्य के कारण प्रसिद्ध भेद वाले उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन रूपक अलङ्कार कहलाता है।[2]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में अर्थालङ्कारों के मध्य उपमा के पश्चात् रूपक का ही सर्वाधिक स्थल दृष्टिगत होता है। यहाँ कतिपय सुन्दर उदाहरणों का अध्ययन किया जा रहा है :

शङ्कराचार्य की स्तुति में रूपक -

" भगवान शङ्कर के श्वेत भस्म से शोभित त्रिपुण्ड्र को कुछ लोग कृपासमुद्ररूपी उस मुनि का आश्रय लेने वाली त्रिपथगा कहते हैं परन्तु हम लोग (कवि) तो यह कहते हैं कि ये तीन रेखाएँ वेदों के श्रेष्ठ भाग उपनिषद् की व्याख्यारूप उपकार से उत्पन्न तीन अत्यन्त सुन्दर कीर्तियाँ हैं।[3] "

१- किमु दौहित्रदत्तेऽपि पुण्ये विलयमास्थिते ।
ययातिश्च्यवते स्वर्गात्पुनरित्यूचिरे जनाः ।। श्रीश० दि० , १-७६

२- तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः । का० प्र० , सूत्र सं० - १३८

३- त्रिपुण्ड्रं तस्याऽऽहुः सितभसितशोभि त्रिपथगां
कृपापारावारं कतिचन मुनिं तं श्रितवतीम् ।
वयं त्वेतद्ब्रूमो जगति किल तिस्रः सुरुचिरा-
स्त्रयीमौलिव्याकृत्युपकृतिभवाः कीर्तय इति ।। श्रीश० दि० , ४-५८

यहाँ शङ्कराचार्य और कृपापारावार , त्रिपुण्ड्र और त्रिपथगा या कीर्तियों में भेद प्रसिद्ध होने पर भी अत्यन्त सादृश्य के कारण अभेद का कथन कर दिया गया है । अत: यहाँ रूपक अलङ्कार है ।

कवि के द्वारा अपनी रचना के परिचय देने के अवसर पर रूपक -

" चन्द्रखण्ड (द्वितीया का चन्द्रमा) रूपी आभूषण वाले महादेव की कृपारूपी अन्त:लक्ष्मी से युक्त , गुरु के प्रति प्रेम की स्थिरता के कारण उनके पूजन योग्य मधुर वचन रूपी पुष्प समूह वाला , नवकालिदास (कवि माधवाचार्य) की काव्य परम्परा रूपी यह प्रौढ़ कल्पवृक्ष आज विद्वानों के हृदय को हर्षरूपी गन्ध प्रदान करने के लिये उद्यत हुआ है ।"[1]

यहाँ कृपा पर अन्त:लक्ष्मी का , मधुर व्याहार पर प्रसूनोत्कर , कविता समूह पर कल्पवृक्ष का आरोप होने के कारण रूपक अलङ्कार है ।

कवि के द्वारा अपनी रचना के उद्देश्य बताने में रूपक -

" अपने को धन्य मानने वाले , विवेकशून्य , अपने को सज्जन समझने वाले और लक्ष्मीरूपी नटी के नृत्य से मतवाले अधम मनुष्यों की कथा के संसर्गरूपी पङ्क से लिप्त अपनी वाणी को आज मैं गुरु शङ्कराचार्य की लीला से उत्पन्न कीर्तिसमुद्र की जलधारा से अच्छी तरह धो रहा हूँ ।"[2]

१- पीयूषद्युतिखण्डमण्डनकृपारूपान्तरश्रीगुरु -
प्रेमस्थैमसमर्हणार्हमधुरव्याहारसूनोत्कर: ।
प्रौढोऽयं नवकालिदासकवितासन्तानसन्तानको
दद्यादद्य समुद्यत: सुमनसामामोदपारम्परीम् ।। श्रीश० दि० , १-६

२- धन्यम्मन्यविवेकशून्यसुजनम्मन्याब्धिकन्यानटी
नृत्योन्मत्तनराधमाधमकथासम्मर्द दुष्कर्दमै: ।।
दिग्धां मे गिरमद्य शङ्करगुरुक्रीडासमुद्यद्यश:
पारावारसमुच्चलज्जलभरै: संक्षालयामि स्फुटम् ।।
श्रीश० दि० , १-७

यहाँ उपमेय क्रमशः अब्धिकन्या , कथासम्मर्द,यश और उपमान क्रमशः नटी , दुष्कर्दम , पारावार में भेद प्रसिद्ध होने पर भी सादृश्यातिशयवश इनमें अभेद कल्पित होने के कारण रूपक अलङ्कार है ।

कुमारिलभट्ट के द्वारा बौद्धदर्शनसम्मत सिद्धान्तों के खण्डन करने के अवसर पर रूपक -

' युक्तिरूपी कुठार से बौद्धसिद्धान्तरूपी वृक्ष को काटकर कुमारिलभट्ट ने एकत्रित किये गये बौद्धग्रन्थ रूपी इन्धन को जलाकर उनकी (बौद्धों की) क्रोधरूपी ज्वाला को बढ़ाया ।'[1]

यहाँ युक्ति पर कुठार का आरोप , बौद्धसिद्धान्त पर वृक्ष का आरोप , बौद्धग्रन्थ पर ईन्धन का आरोप और क्रोध पर ज्वाला का आरोप होने के कारण साङ्गरूपक का चमत्कार है ।

परमहंसत्व को प्राप्त शङ्कराचार्य की प्रशंसा में रूपक -

' दुःख का आगमन ही वेगवृष्टि रूप है , पाप ही मेघ रूप है ऐसे दारुण संसाररूपी वर्षा ऋतु को उदाराशय शङ्कराचार्य ने दूर से ही त्याग दिया है । प्रचण्ड प्रतिपक्षी पण्डितों के यशरूपी कमलनाल के अंकुर को भक्ष्य बनाने वाले , हंसकुल के आभूषणस्वरूप वे सज्जनों के हृदयरूपी सुन्दर मानसरोवर में विहार करते हैं ।'[2]

- -

१- छित्त्वा युक्तिकुठारेण बुद्धसिद्धान्तशाखिनम् ।
स तद्ग्रन्थेन्धनैस्तीर्णैः क्रोधज्वालामवर्धयत् ।। श्रीश० दि० , १-६७

२- दुःखासारदुरन्तदुष्कृतघनां दुःसंसृतिप्रावृषं
दुर्वारामिह दारुणां परिहरन् दूरादुदाराशयः ।
उच्चण्डप्रतिपक्षपण्डितयशोनालीकनालाङ्कुर -
ग्रासी हंसकुलावतंसपदभाक् सन्मानसे क्रीडति ।। श्रीश० दि० , ५-११४

शङ्कराचार्य पर भयङ्कर सिंह के रूप के आरोपण में साङ्गरूपक -

" वेदान्तरूपी जङ्गल में भ्रमण करने वाले, तीक्ष्ण सूक्तिरूपी नख और दंष्ट्रा को धारण करने वाले वादी (प्रतिपक्षी) रूपी हाथियों के लिये भयङ्कर महर्षि शङ्कराचार्यरूपी सिंह शोभित हुए।"[1]

यहाँ वेदान्त पर कान्तार का आरोप, तीक्ष्ण सूक्तियों पर नख का आरोप वादियों पर गज का आरोप और शङ्कराचार्य पर भयङ्कर सिंह का आरोप होने के कारण रूपक अलङ्कार है।

शङ्कराचार्य की सूक्ति के वर्णन में रूपक -

" बौद्धों के मार्ग तथा क्षपणक के सिद्धान्त से ठगे गये अतएव मृतप्राय, बाद में सभी लोगों को जिलाने वाली शङ्कराचार्य की उक्ति सरस्वतीरूपी शुक्ति से निकलने वाली मुक्तामणि है। वह मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न विकट भव के भय को दूर करने वाली है।"[2]

यहाँ " भारती " उपमेय पर " जरठ " उपमान का और " उक्ति " उपमेय पर 'मुक्ता' उपमान का आरोप होने से साङ्गरूपक है।

शङ्कराचार्य की सूक्ति प्रशंसा में रूपक का एक और उदाहरण देखना अनुचित न होगा -

" शङ्कराचार्य की नयी सुधा से सिञ्चित सूक्तियाँ स्वयं कण्टक (भेदवादी)

- -

१- वेदान्तकान्तारकृतप्रचारः सुतीक्ष्णसूक्तिनखाग्रदंष्ट्रः।
भयङ्करो वादिमतङ्गजानां महर्षिकण्ठीरव उल्ललास ।।श्रीश० दि०, ६-८०

२- तथागतपथाक्षतक्षपणकप्रतारणाक्षताः -
प्रतारणहतानुवर्त्य खिलजीवकञ्जीविनी।
हरत्यतिदुरत्ययं भवभयं गुरूक्तिनृणा -
मनाधुनिकभारतीजरठशुक्तिमुक्तामणिः ।। श्रीश० दि०, ४-८६

मार्ग को छोड़ देने वाले अहङ्कार और संशय से रहित विद्वानरूपी पथिकों से आकुल मोक्ष के राजमार्ग रूप अद्वैतमार्ग के ऊपर मकरन्दवृन्द को प्रवित करने वाले फूलों की मालाओं के द्वारा तोरण की रचना कर रही हैं।[1]

यहाँ " प्राज्ञ " उपमेय पर 'पथिक' उपमान का आरोप , मोक्ष के राजमार्गरूप उपमेय पर अद्वैतमार्गरूप उपमान का आरोप हुआ है परन्तु मकरन्दवृन्द और कुसुमस्रक का प्रतियोगी कथित नहीं है। अतः यहाँ निरङ्ग रूपक का सौन्दर्य है।

शङ्कराचार्य के भाष्य की प्रशंसा में रूपक -

" अनादि वेदरूपी समुद्र के मन्थन से उत्पन्न , काम-क्रोध आदि शत्रुओं को धिक्कारने वाले विद्वानों के द्वारा सेवनीय , अजरता तथा अमरता को देता हुआ यतिचन्द्र शङ्कराचार्य का भाष्यरूपी अमृत अत्यन्त सुशोभित हुआ।[2]

यहाँ " यति " उपमेय पर " इन्दु " उपमान का आरोप , " वेद " उपमेय पर " समुद्र " उपमान का आरोप और " भाष्य " उपमेय पर " सुधा " उपमान का आरोप होने के कारण रूपक अलङ्कार का चमत्कार है।

इसी प्रसङ्ग का एक अन्य उदाहरण -

" सज्जनों के हृदयकमल को विकसित करती हुई , गाढान्धकार को दूर

१- अद्वैते परिमुक्तकण्टकपथे कैवल्यघण्टापथे
स्वार्थपूर्वकदुर्विकल्परहितप्राज्ञाध्वनीनाकुले।
प्रस्यन्दन्मकरन्दवृन्दकुसुमस्रक्तोरणप्रक्रिया -
माचार्यस्य वितन्वते नवसुधासिक्ताः स्वयं सूक्तयः ।। श्रीश०दि० , ४-८०

२- अनादिवाक्सागरमन्थनोत्था सेव्या बुधैर्धिक्कृतदुःसपत्नैः ।
विश्राणयन्ती विजरामरत्वं विदिद्युते भाष्यसुधा यतीन्दोः ।।
श्रीश० दि० , ६-१००

करती हुई , प्रतिपक्षीरूपी उल्लूओं को नष्ट करती हुई यतिश्रेष्ठ शङ्कराचार्यरूपी सूर्य की भाष्यरूपी प्रभा चमक रही है ।[1]

यहाँ सज्जनों के हृदय पर कमल का आरोप , प्रतिपक्षियों पर उल्लूओं का आरोप , यतिश्रेष्ठ पर भानु का आरोप और भाष्य पर सूर्य की प्रभा का आरोप हुआ है ।

मण्डनमिश्र के द्वारा शङ्कराचार्य की स्तुति करने में रूपक -

" यदि आपकी सूक्तिरूपी चन्द्रमा की किरणें प्रकाशित न हों तो अत्यन्त तीव्र दुःसह संसाररूपी सूर्य की प्रचुर धूप से उत्पन्न सन्ताप को कौन शान्त करेगा ।"[2]

यहाँ सूक्ति पर चन्द्रकिरणों का आरोप , भव पर उष्णाकर का आरोप हुआ है परन्तु उसके प्रतियोगी धूप उपमान से उपमेय का कथन नहीं हुआ है । अतः यहाँ निरङ्ग रूपक है ।

" कर्मरूपी यन्त्र पर चढ़कर मैं (मण्डनमिश्र) तपस्या , शास्त्र , घर , स्त्री , पुत्र , भृत्य तथा धन में अभिमान रखकर संसाररूपी कूप में गिरा हुआ था । उससे आपने (शङ्कराचार्य ने)(मुझे) उबार लिया ।"[3]

१- सतां हृदब्जानि विकासयन्ती तमांसि गाढानि विदारयन्ती ।
प्रत्यर्थ्युलूकान्प्रविलापयन्ती भाष्यप्रभाऽभाद्यतिवर्यभानोः ॥

श्रीश० दि० , ६-१०१

२- भवदुक्तिसूक्त्यमृतभानुकरा न चरेयुरार्य यदि कः शमयेत् ।
अतितीव्रदुःसहभवोष्णकरप्रचुरातपप्रभवतापमिमम् ॥

श्रीश० दि० , ८-३४

३- क्रतु कर्मयन्त्रमधिरुह्य तपःश्रुतगेहदारसुतभृत्यधनैः ।
अतिरूढमानमतिःपतितो भवतोद्धृतोऽस्मि भवकूपबिलात् ॥

श्रीश० दि० , ८-३५

यहाँ कर्म पर यन्त्र और भव पर कूप का आरोप होने के कारण रूपक अलङ्कार है ।

सनन्दन के प्रसङ्ग में रूपक -

' वैराग्य के कारण विवाह न करने वाला वह ब्राह्मण कुमार दृढ़ तथा दुष्प्राप्य गुरु की कृपारूपी नौका पर चढ़कर संसाररूपी समुद्र को पार करने की इच्छा से आकर शङ्कराचार्य के चरणकमल पर गिर पड़ा ।'[1]

यहाँ ' गुरुकृपा ' उपमेय पर ' नौका ' उपमान का आरोप तथा ' संसार ' उपमेय पर ' समुद्र ' उपमान का आरोप , ' पद ' उपमेय पर 'अम्बुज ' उपमान का आरोप हुआ है ।

' संसाररूपी घोर समुद्र से पार ले जाने के लिये शङ्कराचार्य से पोतवणिक् बनने के लिये निरन्तर प्रार्थना करने वाले उसको इन्होंने अपनी कृपारूपी डांड बनाकर उत्तमाश्रम (संन्यासाश्रम)रूपी नौका पर बैठाकर पार लगा दिया ।'[2]

यहाँ संसार पर समुद्र का आरोप , कृपा पर केनि का आरोप , उत्तमाश्रम पर तरीम (नौका) का आरोप और शङ्कराचार्य पर सांयात्रिकी का आरोप होने से साङ्गरूपक का चमत्कार है ।

१- आगत्य देशिकपदाम्बुजयोरपप्तत्संसारवारिधिमनुत्तरमुत्तितीर्षुः ।
वैराग्यवानकृतदारपरिग्रहस्य कारुण्यनावमधिरुह्य दृढां दुरापाम् ।।
श्रीश० दि० , ६-२

२- संसारघोरजलधेस्तरणाय शश्वत्सांयात्रिकीभवनमर्थयमानमेनम् ।
हन्तोत्तमाश्रमतरीमधिरोप्य पारं निन्ये निपातितकृपारसकेनिपात: ।।
श्रीश० दि० , ६-१५

व्यास जी के वर्णन में रूपक -

" वे अद्वैतविद्यारूपी अङ्कुश की तीक्ष्णधार से अहङ्काररूपी श्रेष्ठ हाथी को वश में करने वाले तथा अपने अद्वैतशास्त्ररूपी शङ्कु (खूँटे) में उज्ज्वल सूत्ररूपी रस्सियों से अकृत्रिमश्रुतिरूपी हजारों गायों को बाँधने वाले थे ।"[1]

यहाँ अद्वैतविद्या पर अङ्कुश की तीक्ष्णधार का आरोप , अहङ्कार पर कुञ्जरेन्द्र का आरोप , अद्वैतशास्त्र पर शङ्कु का आरोप , अद्वैतशास्त्र के सूत्रों पर दाम (रस्सी) का आरोप और श्रुति पर गाय का आरोप होने से साङ्ग रूपक है । " गो " पद में श्लेष है जिसका एक अर्थ श्रुति और दूसरा अर्थ गाय है ।

मालारूपक

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में कहीं-कहीं माला रूपक के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं । यथा -

शङ्कराचार्य की उक्तियों की प्रशंसा करते हुए कवि ने कहा है कि " खेद के नये अङ्कुर , मन के घने सन्ताप के बीज , क्लेशों के पूर्वरङ्ग , दोषों की महान (विस्तृत) प्रस्तावनाडिण्डिम , असत्यों के मूलकर्म (जनक) और दुष्ट चिन्ता की वाटिका रूप देहादि में रहने वाले अहङ्कार को मुनिशेखर शङ्कराचार्य की अतुलनीय उक्तियाँ काटकर गिरा देती हैं ।"[2]

१- अद्वैतविद्यासृणितीक्ष्णधारावशीकृताहङ्कृतिकुञ्जरेन्द्रम् ।
स्वशास्त्रशङ्कूज्ज्वलसूत्रदामनियन्त्रिताकृत्रिमगोसहस्रम् ।। श्रीश० दि० , ७-१६

२- आयासस्य नवाङ्कुरं घनमनस्तापस्य बीजं निजं
क्लेशानामपि पूर्वरङ्गमलघुप्रस्तावनाडिण्डिमम् ।
दोषाणामनृतस्य कार्मणमसच्चिन्तालतैर्निष्कुटं
देहादौ मुनिशेखरोक्तिरतुलाऽहंकारमुत्कृन्तति ।। श्रीश० दि० , ४-८५

यहाँ एक मात्र उपमेय 'अहङ्कार' पर अनेक उपमानों का आरोप होने के कारण मालारूपक का सौन्दर्य है। खेद के सन्दर्भ में उस पर नये अङ्कुर का आरोप, मन के सन्दर्भ में उस पर घने सन्ताप के बीज का आरोप, क्लेशों के सन्दर्भ में उस पर पूर्वरङ्ग का आरोप, दोषों के सन्दर्भ में प्रस्तावना के डिण्डिम का आरोप, अनृत के सन्दर्भ में जनक का आरोप और दुश्चिन्ता के सन्दर्भ में वाटिका का आरोप हुआ है।

मण्डनमिश्र द्वारा की गयी शङ्कराचार्य की स्तुति में मालारूपक -

" अपने (मण्डनमिश्र के) अगणित पुण्यों के कारण सद्गुरु की वाणी का जो परिचय मैंने प्राप्त किया है वह शान्तिरूप से परिणत होने वाले पूर्व पुण्य का अङ्कुर है, दम का विकसित पल्लव है, वैराग्यरूपी वृक्ष की कली है, तितिक्षारूपी लता का पुष्पसमुदाय है, ध्यानरूपी पुष्प के मकरन्द का विस्तार है और श्रद्धा का उद्भूत फल है।[1]

यहाँ वाणी के परिचय रूप उपमेय पर अनेक उपमानों यथा - पूर्व पुण्य का अङ्कुर, दम का विकसित पल्लव, वैराग्यरूपी वृक्ष की कली आदि का आरोप होने के कारण माला रूपक है। इसके अतिरिक्त वाणी के परिचय के सन्दर्भ में प्रयुक्त उपमानों में भी पृथक्-पृथक् रूपक का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है। यथा - वैराग्य उपमेय पर वृक्ष उपमान का आरोप, तितिक्षा उपमेय पर लता उपमान का आरोप और ध्यान उपमेय पर पुष्प उपमान का आरोप हुआ है।

१- शान्तिप्राक्सुकृताङ्कुरं दमसमुल्लासोल्लसत्पल्लवं
वैराग्यद्रुमकोरकं सहनतावल्लीप्रसूनोत्करम्।
एकाग्रीसुमनोमरन्दविसृतिं श्रद्धासमुत्थफलं
विन्देयं सुगुरोर्गिरां परिचयं पुण्यैरगण्यैरहम्॥

श्रीश० दि०, ८-३७

रूपक अन्य अलङ्कारों के साथ -

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में रूपक अन्य अलङ्कारों के साथ निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों रूपों में दिखायी पड़ता है ।

रूपक और उपमा की सापेक्ष स्थिति -

शङ्कराचार्य की प्रशंसा के अवसर पर - " अत्यन्त गर्वीले प्रतिपक्षी पण्डित रूपी कपास को दूर उड़ाने के लिये आँधी के वेग के समान, बाधारहित अगाध तत्वज्ञानीरूपी चन्द्रमा को प्रकट करने के लिये क्षीरसागर के समान , चारों ओर निर्बाध गति से फैलने वाली संसाररूपी दावाग्नि से उत्पन्न सन्ताप के लिये साक्षात् मेघ के समान संसार भर में व्याप्त कीर्ति वाले यतिराज शङ्कराचार्य जगत् के कल्याण के लिये सदा जागरूक रहते हैं ।[१]"

यहाँ गर्वीले प्रतिपक्षीभूत उपमेय पर कपास उपमान का आरोप , बोध उपमेय पर अमृत किरण (चन्द्र) उपमान का आरोप , भव उपमेय पर दवदहन उपमान का आरोप हुआ है । अतः इन अंशों में रूपक का सौन्दर्य है ।

उपमेय यतिपति शङ्कराचार्य के अनेक उपमान यथा वातूलवेग , दुग्धाम्बुराशि और मेघ प्रस्तुत किये गये हैं । इस प्रसङ्ग में उपमावाचक शब्द और साधारण धर्म का लोप होने के कारण लुप्तोपमा का सौन्दर्य है ।

शङ्कराचार्य के भाष्य की प्रशंसा के अवसर पर रूपक श्लेष और लुप्तोपमा के साथ -

" उस भाष्यरूपी चन्द्रमा ने मुनिरूपी क्षीरसागर से निकलकर देवों

- -

१- दुर्वारावर्वगर्वाञ्चितबुधवनतातूलवातूलवेगो
निर्बाधागाधबोधामृतकिरणसमुन्मेषदुग्धाम्बुराशिः ।
निष्प्रत्यूहं प्रसर्पद्भवदवदहनोद्भूतसन्तापमेघो
जागर्ति स्फीतकीर्तिर्जगति यतिपतिः शङ्कराचार्यवर्यः ।।
श्रीश० दि० , ४-१०५

(और पण्डितों) को अमृत (अमृत तुल्य ज्ञान) देते हुए किरणों (वचनों) से कुमतिरूपी अन्धकार को दूर करके ब्राह्मणों के मन रूपी चकोरों को तृप्त किया ।[1]

यहाँ ' भाष्य ' उपमेय पर ' चन्द्र ' उपमान का आरोप , ' मुनि ' उपमेय पर ' क्षीरसागर ' उपमान का आरोप ' कुमति ' उपमेय पर ' अन्धकार ' उपमान का आरोप और ' विप्रमन ' उपमेय पर ' चकोर ' उपमान का आरोप हुआ है । अतः इन अंशों में रूपक है । अमृत के सन्दर्भ में लुप्तोपमा है । ' गोभिः ' (किरणों से , वचनों से) और ' बुधेभ्यः ' (देवों के लिये , विद्वानों के लिये) पद श्लिष्ट हैं । यहाँ सभी अलङ्कारों की सापेक्ष स्थिति है ।

रूपक व्यतिरेक के साथ -

' श्रुति रूपी सिन्धु को न्यायरूपी मन्दराचल के द्वारा मन्थन किये जाने से उत्पन्न भाष्यरूपी नवीन सुधा आश्चर्य है कि केवल श्रवणमात्र से विद्वानों को अमरत्व प्रदान कर देती है ।[2] '

यहाँ श्रुति पर सिन्धु का , न्यायशास्त्र पर मन्दराचल का तथा भाष्य पर नूतन सुधा का आरोप होने से इन अंशों में रूपक की स्थिति है । इसके अतिरिक्त जहाँ प्राचीन अर्थात् वास्तविक सुधा पान होने पर लोगों को अमरत्व प्रदान करती है वहाँ यह नवीन भाष्यसुधा श्रवणगोचर होकर ही अमरत्व प्रदान कर देने वाली है - इस अंश में प्राचीन सुधा उपमान से नवीन भाष्यसुधा उपमेय की श्रेष्ठता गम्य होने के कारण गम्य व्यतिरेक का सौन्दर्य है ।

- -

१- स भाष्यचन्द्रो मुनिदुग्धसिन्धोरुत्थाय दास्यन्नमृतं बुधेभ्यः ।
विधूय गोभिः कुमतान्धकारानतर्पयद्विप्रमनश्चकोरान् ॥ श्रीश० दि०, ६-९९

२- न्यायमन्दरविमन्थनजाता भाष्यनूतनसुधा श्रुतिसिन्धोः ।
केवलश्रवणतो विबुधेभ्यश्चित्रमत्र वितरत्यमृतत्वम् ॥ श्रीश० दि० , ६-१०२

इसके अतिरिक्त भी " श्रीशङ्कर दिग्विजय " में अनेक उदाहरण रूपक अलङ्कार के देखे जा सकते हैं परन्तु वे उदाहरण अतिसामान्य हैं। अतः उनका यहाँ अध्ययन आवश्यक नहीं प्रतीत हुआ।

१०- अपह्नुति

प्रकृत अर्थात् उपमेय का निषेध करके जो अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि की जाती है उसे अपह्नुति-अलङ्कार[१] कहा जाता है।

यह अपह्नुति दो प्रकार की होती है। जहाँ उपमेय का निषेध शब्दतः किया जाता है वह " शाब्दी " अपह्नुति कहलाती है और जहाँ उपमेय का निषेध शब्दतः नहीं करके अर्थात गम्य होता है वह " आर्थी " अपह्नुति कहलाती है। आर्थी अपह्नुति में भी उपमेय के निषेध के लिये कभी कैतवार्थक कभी परिणामार्थक और कभी अन्य उपायों का अवलम्बन किया जाता है।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में आर्थी कैतवापह्नुति ही दृष्टिगोचर होती है। प्रस्तुत है शङ्कराचार्य की माँ के वर्णन प्रसङ्ग में अपह्नुति -

" ब्रह्मा ने शङ्कराचार्य के दुग्धपान के लिये उनकी माँ के स्तनों के बहाने से दो नवीन अमृत से पूर्ण घट बना दिया है।[२] "

यहाँ दुग्धभरित स्तन नहीं अपितु दो नवीन अमृत से पूर्ण घट है यह प्रतीति हो रही है। यहाँ शब्दतः प्रकृत का निषेध नहीं किया गया है अपितु

१- प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः। का० प्र०, सूत्र सं० १४५

२- पयोधरव्याजमिषादमुष्याः पयःपिबत्यर्थविधानयोग्यौ।
कुम्भौ नवीनामृतपूरितौ द्रागम्भोजयोनिः कलयाम्बभूव ।। श्रीश० दि०, २-६६

" मिषाद् " कैतवार्थक पद का प्रयोग हुआ है । अतः यहाँ आर्थी कैतवापह्नुति का सौन्दर्य स्पष्ट है ।

एक अन्य स्थल पर कैतवापह्नुति रूपक से अनुप्राणित होकर आया है ।

संन्यास आश्रम ग्रहण करने के पश्चात् शङ्कराचार्य की अवस्था का वर्णन करने वाले कवि का यह मन्तव्य है कि " अज्ञानरूपी विशाल हाथी को मारकर प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य के समान लाल वस्त्रों के व्याज से गजचर्म को धारण करने वाले यह (शङ्कराचार्य) गजासुर को मारकर रक्त से भीगे गजचर्म को धारण करने वाले साक्षात् शङ्कर भगवान हैं ।[1] "

यहाँ शङ्कराचार्य लाल वस्त्र नहीं अपितु रक्तरञ्जित गजचर्म पहने हुए हैं - यह प्रतीति हो रही । यहाँ प्रकृत " अरुण शाटी पल्लवस्य " का शब्दतः निषेध नहीं किया गया है अपितु " कपट " पद का प्रयोग हुआ है । अतः यहाँ आर्थी अपह्नुति है । इसके अतिरिक्त " अबोधमहेभं " और " शाटीपल्लवस्य " में रूपक , " एष धूर्जटि " और " उष्णकिरणारुणशाटी " में लुप्तोपमा भी है ।

१७- <u>समासोक्ति</u>

श्लिष्ट विशेषणों के बल पर अप्रकृत अर्थ के बोध में[2] समासोक्ति अलङ्कार का सौन्दर्य माना जाता है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में समासोक्ति अलङ्कार का एक सुन्दर उदाहरण शङ्कराचार्य की असंप्रज्ञातसमाधि के वर्णन में उपलब्ध होता है - " व्याससूत्रोक्त

- -

१- एषधूर्जटिरबोधमहेभं सन्निहत्य रुधिराप्लुतचर्म ।
उद्वहन्नुष्णकिरणारुणशाटीपल्लवस्य कपटेन विभर्ति ।। श्रीश० दि० , ५-१०६

२- परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः । का० प्र० , सू०सं० - १४७

युक्तियों से सम्पन्न उपनिषदों के मधुर उपदेशों (को बार-बार श्रवण करने) से चिरकालिक अनादिसिद्ध तथा अत्यन्त दृढ़ अभिमान को छोड़कर शीघ्र ही श्रुति आदि में प्रसिद्ध उस प्रियतमरूप ब्रह्म के पास पहुँचकर (भी) उसे छूने में अधीर होती हुई उनकी (शङ्कराचार्य की) बुद्धि उसी क्षण कहीं विलीन हो गयी।[1]

यहाँ प्रस्तुत शङ्कराचार्य की बुद्धि के श्लिष्ट विशेषणों और साम्यता के बल पर अप्रस्तुत नायिकापरक अर्थ भी झाँक रहा है -

समीपस्थ सखियों के प्रयत्नपूर्वक मधुर एवं युक्तिपूर्ण वचनों से समझाये जाने पर दीर्घकालिक , स्वाभाविक एवं दृढ़ अभिमान को छोड़कर शीघ्र ही उस सर्वश्रेष्ठ रामादितुल्य प्रिय पति के पास पहुँचकर भली-भाँति स्पर्श करने में असमर्थ (वह नायिका) शीघ्र ही भागकर किसी कोने में छिप गयी।

यहाँ ' उपनिषदों ' और ' परमहंस ' पद श्लिष्ट हैं। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत (बुद्धि) के सभी विशेषण साम्यता के बल पर अप्रस्तुत अर्थ को प्रकट कर रहे हैं।

एक दूसरा समासोक्ति का उत्तम स्थल शङ्कराचार्य की लोकोत्तर वर्णित करने के अवसर पर दृष्टिगोचर होता है -

' अद्वितीय परमात्मा में अनुरक्त , अज्ञानी क्षणिक विज्ञानवादियों के द्वारा अपहृत , अनेक आत्माओं में आसक्ति के भ्रम से निष्ठुर , जन्ममरण से रहित , आत्मरूप एकमात्र सत्ता जो अत्यन्त प्रिय थी उसे त्रिलोक रक्षक तपस्वी

- -

१- शनैः सान्त्वालापैः सनयमुपनीतोपनिषदां
चिरायत्तं त्यक्त्वा सहजमभिमानं दृढतरम्।
समेत्य प्रेयांसं सपदि परहंसं पुनरसा -
वधीरा संस्प्रष्टुं क्व नु सपदि सद्धीर्लयमगात्॥
श्रीश० दि०, ५-१२६

वेशधारी शङ्कराचार्य ने विद्या के विरोधियों को पराजित कर पुनः उसके स्वरूप में स्थापित किया ।[1]

यहाँ विशेष्य ' शङ्कर ' के श्लिष्ट विशेषण यथा - पुरुषोत्तमे रतिमती , अयोन्युद्भवाम् , मायाभिक्षुणा और बुधवैरिणः के अतिरिक्त अन्य विशेषण साम्यता के बल पर अप्रस्तुत मर्यादापुरुषोत्तम रामपरक अर्थ की प्रतीति करा रहे हैं जो इस प्रकार हैं -

' अद्वितीय पुरुष राम में अनुरक्त रहने वाली , रावण के द्वारा अपहरण की गयी , अनेक पुरुषों में आसक्ति के भ्रम से निष्ठुर , अयोनिज सदा सीता जो अत्यन्त प्रिय थी उसे त्रिलोक रक्षक , तपस्वी वेशधारी तथा सबको सुख देने वाले राम देवताओं के शत्रु राक्षसों को पराजित कर पुनः अपने घर वापस ले आये । '

यहाँ विशेष्य ' शङ्कर ' पद भी श्लिष्ट माना जा सकता है । राम पक्ष में इसका अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य 'शं करोति' इति शङ्करः अर्थात् सुखशान्ति देने वाले हैं तथा शङ्कराचार्य पक्ष में इसका अर्थ रूढ़ि लभ्य है परन्तु प्रकरणवश ' शङ्करः ' पद का नियन्त्रण शङ्कराचार्य के पक्ष में हो जाने के कारण इसे अश्लिष्ट मानकर समासोक्ति माना गया है ।

शङ्कराचार्य की प्रशंसा के अवसर पर समासोक्ति लुप्तोपमा , रूपक और श्लेष के साथ द्रष्टव्य है -

---

१- एकस्मिन्पुरुषोत्तमे रतिमतीं सदामयोन्युद्भवां
मायाभिक्षुहृतामनेकपुरुषासक्तिभ्रमान्निष्ठुराम् ।
जित्वा तान्बुधवैरिणः प्रियतमा प्रत्याहरच्छिवरा -
दास्ते तापसवेषवान्त्रिजगतां त्राता स नः शङ्करः ।।
श्रीश० दि० , ४-११०

" सूत्रग्रथित न्यायसमूहरूपी रत्नों का हार व्यासजी ने (पहले) दिखलाया था परन्तु (सूत्र के) अर्थ को न जानने के कारण बहुत से विद्वानों के द्वारा गृहण नहीं किया गया । अब शङ्कराचार्य के द्वारा अर्थज्ञान की प्राप्ति सुलभ कराये जाने के कारण वे विद्वान् मण्डित हो गये हैं और व्यासजी भी कृतार्थता को प्राप्त हो गये हैं । अतः यतिपति शङ्कराचार्य की उदारता चकित कराने वाली है ।"[1]

यहाँ " सूत्रकलितन्यायौघरत्नावली दर्शयति स्म " यह वाक्य व्यास जी - उपमेय का श्लिष्ट विशेषण है । अर्थलाभात् , बुधै अर्थाप्त्या , मण्डिता: और पण्डिता पद भी श्लिष्ट हैं जिनके बल पर दूसरा अर्थ जौहरीपरक गम्य हो रहा है - " न्यायसमूह रत्नों को धागे में ग्रथित करके माला के रूप में जौहरी ने लोगों को दिखलाया था परन्तु उन व्यक्तियों के पास उसके योग्य धन प्राप्त न होने के कारण कितने भी विद्वानों के द्वारा नहीं खरीदा गया । अब धन की प्राप्ति सुलभ होने के कारण वे पण्डित माला पहनकर अलङ्कृत हो गये ।"

११- निदर्शना

वस्तु का सम्बन्ध अनुपपन्न होता हुआ भी उपमा में पर्यवसान " निदर्शना " अलङ्कार है ।[2]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य के गुणवर्णन में असमर्थ कवि की इस उक्ति में निदर्शना का सुन्दर प्रयोग देखा जा सकता है -

- -

१- व्यासो दर्शयति स्म सूत्रकलितन्यायौघरत्नावली -
रर्थालाभवशान्न कैरपि बुधैरेता गृहीताश्चिरम् ।
अर्थाप्त्या सुलभाभिरधुना ते मण्डिताः पण्डिता
व्यासश्चाऽऽप कृतार्थतां यतिपतेरौदार्यमाश्चर्यकृत् ।। श्रीश० दि० , ६-१०४

२- निदर्शना अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक: ।
का० प्र० , सू० सं० - १४८

' शङ्कराचार्य की स्तुति के लिये रचना आरम्भ कर कुछ लोग श्लोकार्ध में डूब जाते हैं तो कुछ लोग श्लोकार्ध के भी अर्ध में ही डूब जाते हैं - ऐसी स्थिति में शङ्कराचार्य के समस्त गुणों के वर्णन का इच्छुक मैं अपना प्रयास चन्द्रमा को अपने हाथों से पकड़ने का प्रयास करने वाले बालक का दुस्साहस समझता हूँ।[1] '

यहाँ कवि के शङ्कराचार्य की स्तुति वर्णन रूप व्यापार के दुस्साहस का प्रतिबिम्ब बालक का अपने हाथों से चन्द्रमा पकड़ने रूप व्यापार का दुस्साहस असम्बन्धवस्तु सम्बन्ध द्वारा बोधगम्य हो रहा है। यहाँ प्रथम वाक्यार्थ उपमेय और द्वितीय वाक्यार्थ उपमान के रूप में न्यस्त है। इन दोनों वाक्यार्थों में कोई सम्बन्ध न होने पर भी उपमा में पर्यवसान होने के कारण वाक्यार्थ निदर्शना का चमत्कार है।

१२- <u>अप्रस्तुतप्रशंसा</u>

अप्रस्तुत के कथन से जो प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है उसे ' अप्रस्तुतप्रशंसा ' अलङ्कार कहते हैं।[2]

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में मेघाच्छादित सूर्य के वर्णन में अप्रस्तुतप्रशंसा माध्यम बनी है।

' यह सूर्य हम लोगों (मेघों) को निष्ठुरचरणों (किरणों) से सदा स्पर्श करता है - इसका यह अपराध दूर रहे अर्थात् क्षम्य है, परन्तु हमारे (मेघों के) द्वारा (पत्नी स्वरूपा) पृथ्वी को दिये जलरूपी पुष्पों को भी यह दूर

- -

[illegible] -

१- उपक्रम्य स्तोतुं कतिचन गुणान् शङ्करगुरोः
प्रभग्नाः श्लोकार्धे कतिचन तदर्धार्धरचने।
अहं तुष्टूषुस्तानहह कलये शीतकिरणं
कराभ्यामाधर्तुं व्यवसितमतेः साहसिकताम्॥ श्रीश० दि०, १-१२

२- अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया। का० प्र०, सू० सं० १५०

कर देता है इस कारण नलिनी के पति सूर्य को मेघों ने घेर लिया ।[1]

यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त - नलिनीपति (सूर्य) के द्वारा मेघ की पत्नी स्वरूपा पृथ्वी के जलरूपी पुष्पापहरण करके उसे कष्ट पहुँचाया गया है - से प्रस्तुत वृत्तान्त मेघों के द्वारा भी नलिनीपति (सूर्य) का अच्छादन कर उसकी पत्नी नलिनी को पति के अदर्शनजन्य कष्ट का अनुभव कराया गया - की प्रतीति होने के कारण अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार है ।

१४- <u>अतिशयोक्ति</u>

'अध्यवसाय' की सिद्धि की प्रतीति अतिशयोक्ति अलङ्कार कहलाता है ।[2]

विषय (उपमेय) के निगरणपूर्वक उसके साथ विषयी (उपमान) की अभेदप्रतिपत्ति ही अध्यवसाय है ।

अतिशयोक्ति ५ प्रकार की हुआ करती है -

१- भेद में अभेद वर्णन रूप २- सम्बन्ध में असम्बन्ध वर्णन रूप ३- अभेद में भेद वर्णन रूप ४- असम्बन्ध में भी सम्बन्ध वर्णन रूप और ५- कार्य-कारण भाव-नियम का विपर्यय वर्णनरूप ।[3]

१- एषा नः स्पृशति निष्ठुरपादैस्तु तिष्ठतु वितीर्णमवन्यै ।
अस्मदीयमपि पुष्पमनैषीदित्यरोधि नलिनीपतिरब्दैः ।।
श्रीश० दि० , ५-११६

२+३ - सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।
भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ।।
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ।
सा० द० , १०-४६, ४७

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य के पिता शिवगुरु के द्वारा किये गये यज्ञकर्मों की सम्पन्नता के वर्णन में सम्बन्धातिशयोक्ति द्रष्टव्य है - " उन्होंने (शिवगुरु ने) स्वर्गलोक को जीतने की इच्छा से बहुत धन से साध्य अनेक यागों से यज्ञ किया । उस यज्ञ की आशा करने वाले देवताओं ने स्वर्गीय अमृत को भी भुला दिया ।[1]"

यहाँ पर देवों में अमृत सम्बन्धी स्मरण रूप सम्बन्ध होने पर भी यागों की अधिकता के कारण उसके विस्मरण रूप असम्बन्ध का निरूपण होने के कारण अतिशयोक्ति का चमत्कार है ।

एक अन्य स्थल पर अतिशयोक्ति अन्य अलङ्कारों के साथ शङ्कराचार्य के गुणवर्णन में उपनिबद्ध हुई है - " कमलिनी ने लोकालोक नामक पहाड़ की गुफा से प्रश्न किया कि तुम बहुत दिनों के बाद (आज) क्यों प्रसन्न हो? क्या तुम शङ्कराचार्य की उत्कृष्टरूप में फैलने वाली कीर्तिरूपी प्रियतम के समान चन्द्रमा का आलिङ्गन करके सन्तुष्ट हो गयी हो? इसे सुनकर कन्दरा ने कमलिनी से प्रश्न किया - हे कमलिनी, तुम बहुत दिनों के पश्चात् आज क्यों हर्षित हो रही हो? इस प्रकार उन दोनों की प्रसन्नता ही एक दूसरे के प्रश्नों का उत्तर बन गयीं ।[2]"

१- यागैरनेकैर्बहुवित्तसाध्यैर्विजितुकामो भुवनान्ययष्ट ।
व्यस्मारि देवैरमृतं तदाशैर्दिने दिने सेवितयज्ञभागैः ।।
श्रीश० दि० , २-३७

२- लोकालोकदरि प्रसीदसि चिरात् किं शङ्करश्रीगुरु -
प्रोद्यत्कीर्तिनिशाकरं प्रियतमं संश्लिष्य संतुष्यसि ।
त्वं वाद्युत्पलिनि प्रहृष्यसि चिरात् कस्मात्र हेतुस्तयो -
रित्थं प्रश्नगिरां परस्परमभूत् स्मेरत्वमेवोत्तरम् ।।
श्रीश० दि० , ४-१०४

यहाँ जड़ कमलिनी और जड़ लोकालोककन्दरी के बीच वार्तालाप का सम्बन्ध न होनेपर भी दोनों में सम्बन्ध का प्रतिपादन करने के कारण और इसी प्रकार लोकालोकपर्वत की कन्दरा और कीर्तिसमूह रूपी चन्द्रमा के आलिङ्गन का सम्बन्ध न होने पर भी दोनों में सम्बन्ध का प्रतिपादन करने के कारण अतिशयोक्ति अलङ्कार है। ' कीर्तिनिशाकरं ' में रूपकालङ्कार, ' स्मैरत्व-मेवोचरम् ' अंश में उत्प्रेक्षा, ' निशाकरं प्रियतमं ' अंश में लुप्तोपमा है। यहाँ ' उत्प्रेक्षा ' की स्थिति स्वतन्त्र है तथा ' रूपक ' और ' लुप्तोपमा ' दोनों अतिशयोक्ति के अङ्ग के रूप में हैं।

एक अन्य स्थल[1] पर अतिशयोक्ति भ्रान्तिमान के अङ्ग के रूप में आया है।

१५- प्रतिवस्तूपमा

जहाँ एक ही साधारणधर्म को दो वाक्यों में दो बार भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा जाय वहाँ प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है।[2]

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में शङ्कराचार्य के पिता शिवगुरु को गृहस्थाश्रम ग्रहण कराने के निमित्त प्रस्तुत तर्क में प्रतिवस्तूपमा का एक उत्तम उदाहरण द्रष्टव्य है -

' उचित समय पर वपन किये गये बीज से जितनी अच्छी फसल उत्पन्न होती है उतनी विपरीत काल में बोये गये बीज से नहीं। ठीक उसी प्रकार से विवाहादि संस्कार भी उचित समय पर किये जाने पर फल देते हैं अन्यथा निरर्थक ही होते हैं।[3] '

- -

१- श्रीश० दि०, ४-६७

२- प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः। का०प्र०, सू०सं०- १५३

३- कालोप्तबीजादिह यादृशं स्यात् सस्यं न तादृग्विपरीतकालात्।
तथा विवाहादि कृतं स्वकाले फलाय कल्पेत न चेद् वृथा स्यात् ॥
श्रीश०दि० २-११

यहाँ समय पर कार्य करने के " औचित्य " रूप साधारण धर्म का दो भिन्न-भिन्न वाक्यों के द्वारा प्रतिपादन होने के कारण " प्रतिवस्तूपमा " अलङ्०कार का सौन्दर्य है ।

१९- दृष्टान्त[१]

उपमान , उपमेय , उनके विशेषण और साधारणधर्म का भिन्न होते हुए भी औपम्य के प्रतिपादन के लिये उपमानवाक्य और उपमेयवाक्य में पृथगुपादानरूप बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने पर " दृष्टान्त " अलङ्०कार माना जाता है ।

" श्रीशङ्०करदिग्विजय " में दृष्टान्त अलङ्०कार कई अवसरों पर प्रयुक्त हुआ है । अपनी कृति से शङ्०कराचार्य को प्रसन्न करने की इच्छा वाले कवि की इस उक्ति में दृष्टान्त अलङ्०कार का सुन्दर प्रयोग हुआ है - " पुराने कवियों के द्वारा अच्छी तरह प्रशंसित होने पर भी भाष्यकार शङ्०कराचार्य हमारी इस कृति से प्रसन्न हों , यही हमारी प्रार्थना है । क्या क्षीरसागर में रहने वाले कमलनयन भगवान श्रीकृष्ण ने व्रज में रहकर गोपियों से दूध की कामना नहीं की थी "?[२]

यहाँ स्तुति की अधिकता से उकताये शङ्०कराचार्य और दूध की अधिकता से उकताये श्रीकृष्ण भगवान , क्षीर और कृतिगतस्तुति , " तुष्यतु " और " चकमे " में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव होने के कारण दृष्टान्त अलङ्०कार है । श्लोक की प्रथम पंक्ति दार्ष्टान्तिक वाक्य है तथा द्वितीय पङ्०क्ति दृष्टान्त के रूप में माना जा सकता है ।

१- दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन: प्रतिबिम्बनम् । सा० द० , १०-५०

२- स्तुतोऽपि सम्यक्कविभि: पुराणै: कृत्याऽपि नस्तुष्यतु भाष्यकार:
क्षीराब्धिवासी खसीतक्षाला: क्षीरं पुन: किं चकमे न गोष्ठे ।।
श्रीश० दि० , १-४

शङ्करााचार्य के प्रति सनन्दन की उक्ति में दृष्टान्तालङ्कार -' हे त्रिलोकीनाथ ! यदि आप मुझ गरीब पर करुणा से शीघ्र दया करेंगे तो दीन दयालुता के कारण आपको जितना यश मिलेगा उतना धनिक के ऊपर दया करने से कभी नहीं मिल सकता । मरुस्थल में पानी बरसाने वाले मेघ की सज्जन लोग जितनी प्रशंसा करते हैं क्या समुद्र के जल में सौ वर्ष तक भी पानी बरसाने वाले मेघ की कभी उतनी स्तुति हो सकती है ?[1]'

यहाँ सनन्दन और मरुस्थल , शङ्कराचार्य और मेघ , दया से युक्त दृष्टिपात और जलवृष्टि , यश और प्रशंसा , धनिक और समुद्र में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने के कारण दृष्टान्त अलङ्कार है । श्लोक का प्रथम दो चरण दार्ष्टान्तिक वाक्य तथा अन्तिम दो चरण दृष्टान्त वाक्य के रूप में न्यस्त है ।

वर्षा-वर्णन में दृष्टान्त -

'अत्यन्त पिपासित चातकों की पङ्क्तियों ने बहुत समय के पश्चात् जल की तृप्ति को प्राप्त किया । उचित समय पर दृढ़ वस्तु के आश्रय को ग्रहण करने वाला पुरुष यदि चाहे तो अमृत भी प्राप्त कर सकता है ।[2]'

यहाँ मेघ का आश्रय लेने वाले चातक और उचित समय पर दृढ़ आश्रय लेने वाले पुरुष , जल और अमृत , तृप्ति और अमरत्व में बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने के कारण दृष्टान्त अलङ्कार है ।

- -

१- स्याद्दीनदयालुताप्रभवयशोराशिस्त्रिलोकीगुरो
तूर्णं मेदयतो ममाथ न तथा कारुण्यत: श्रीमति ।
वर्षन् भूरि मरुस्थलीषु जलभृत् सद्भिर्यथा पूज्यते
नैवं वर्षशतं पयोनिधिषु वर्षन्नपि स्तूयते ।। श्रीश० दि० , ६-७

२- चातकावलिरनल्पपिपासा प्राप तृप्तिमुदकस्य चिराय ।
प्राप्नुयादमृतमप्यभिवाञ्छन्कालतो बत घनाश्रयकारी ।। श्रीश० दि०, ५-१३२

दृष्टान्त का एक और सामान्य उदाहरण शङ्करााचार्य से पराजित होने के बाद मण्डनमिश्र और उनकी पत्नी की उक्ति में -

' हे पूजनीय ! (शङ्कराचार्य) आपने हम दोनों स्त्री पुरुष को पराजित किया है उससे हम लोगों को किसी प्रकार की लज्जा नहीं है । क्या सूर्य के द्वारा किया गया पराभव चन्द्रमा की अपकीर्ति फैलाता है?'[1]

यहाँ शङ्कराचार्य और सूर्य में , मण्डनमिश्र - उनकी पत्नी और चन्द्रमा में , लज्जा और अपकीर्ति में , विजितौ और अभिभूति में बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव होने के कारण दृष्टान्त अलङ्कार है ।

१६- दीपक

दीपक अलङ्कार दो प्रकार का माना जाता है । प्रथम प्रकृत अर्थात् उपमेय तथा अप्रकृत अर्थात् उपमान के गुण , क्रिया आदि धर्म का एक ही बार ग्रहण ' क्रिया ' दीपक और द्वितीय बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक का ग्रहण ' कारक ' दीपक ।[2]

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में शङ्कराचार्य की वाणी की प्रशंसा के अवसर पर कारक दीपक का सौन्दर्य दृष्टिगत होता है :

' करुणा के समुद्र गुरु के मुख से आदरपूर्वक निकलने वाली , खिली हुई मालतीपुष्प की सुगन्ध के समान प्रिय लगने वाली परिजात वृक्ष के पुष्परस

- -

१- त्वया यदावां विजितौ परात्मन् तत्त्रपामावहतीह्य सर्वथा ।
कृताऽभिभूतिर्न मयूखशालिना निशाकरादेरपकीर्तये खलु ।।
श्रीश० दि० , १०-६८

२- सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।।
सं० का० प्र० , सू०सं०- १५५

को माधुरी को लूटती हुई मधुरता में अग्णी वाणी चित्त को रमण करती है, आह्लादित करती है तथा आनन्द से गद्गद कर देती है।[1]

यहाँ "वाणी" रूप एक कारक का अनेक क्रियाओं - रमण, आह्लादन और नन्दन के साथ सम्बन्ध होने के कारण यह "कारकदीपक" का उदाहरण है।

कारक दीपक का एक अन्य उदाहरण गङ्गा के वर्णन में -

" वह गङ्गा भौरों के कमनीय सुन्दर गुञ्जार से मानों गीत गाती हुई, पवन के द्वारा चञ्चल कमलों से मानों नाचती हुई, श्वेत फेनों से मानों हँसती हुई तथा चञ्चल तरङ्गरूपी हाथों से मानों काशी का आलिङ्गन करती हुई प्रतीत हो रही थी।[2]

यहाँ "या" (जो गङ्गा का सर्वनाम है) एक कारक का अनेक क्रियाओं गायन, नर्तन, हंसन और आलिङ्गन से सम्बन्ध होने के कारण यहाँ दीपक का सौन्दर्य है।

१८- <u>तुल्ययोगिता</u>

प्रस्तुतों अथवा अप्रस्तुतों का एक धर्म से सम्बन्ध "तुल्ययोगिता" अलङ्कार कहा जाता है।[3]

- -

१- उन्मीलन्नवमल्लिसौरभपरीरम्भप्रियम्भावुका
मन्दारद्रुमरन्दवृन्दविलुठन्माधुर्यधुर्या गिरः।
उद्गीर्णा गुरुणा विपारकलणावाराकीर्णाऽऽदरात्
सव्वैतो रमयन्ति हन्त मदयन्त्यामोदयन्ति द्रुतम ॥ श्रीश०दि०, ४-८८

२- गायतीव कलणद्भ्रमरनादैर्नृत्यतीव पवनोच्चलिताब्जैः।
मुञ्चतीव हसितं सितफेनैः श्लिष्यतीव चपलोर्मिकरैर्या ॥ श्रीश०दि०, ५-१६८

३- नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता। का०प्र०, सू०सं० १५७

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में ब्राह्मणी की निर्धनता को दूर करने के लिये शङ्कराचार्य द्वारा प्रसन्न की गयी लक्ष्मी के व्यवहार के वर्णन में तुल्ययोगिता का सौन्दर्य देखा जा सकता है - " इस वचन (शङ्कराचार्य की प्रार्थना) से प्रसन्न हुई लक्ष्मी ने चारों ओर से उसके घर को सोने के आँवलों से भर दिया और जनता के हृदय को विस्मय से भर दिया।[1]"

यहाँ निर्धन ब्राह्मणी का " भवन " और जनता का " हृदय " दोनों प्रस्तुतों से सम्बद्ध एक (अर्थात् समान) क्रिया अपूरयत् (पूरण) का कथन होने से " तुल्ययोगिता " स्पष्ट है।

तुल्ययोगिता श्लेष के साथ शङ्कराचार्य के द्वारा संन्यास ग्रहण करने हेतु गुरुगोविन्द के आश्रम में प्रवेश किये जाने के समय के वर्णन में द्रष्टव्य है - " दण्ड से युक्त , नये कषाय वस्त्र को धारण करने वाले शङ्कराचार्य ने नर्मदा नदी के किनारे रहने वाले गोविन्दनाथ के वन में सन्ध्याकाल के समय जब प्रवेश किया , तब उग्रकिरणों वाले और आकाश को रक्तवर्ण कर देने वाले सूर्य ने अस्ताचल के शिखर का आश्रय लिया।[2] "

यहाँ " शङ्कराचार्य " और " सूर्य " दोनों प्रस्तुतों से सम्बद्ध एक (समान) क्रिया " प्रवेश " का वर्णन होने से तुल्ययोगितालङ्कार है। " दण्डान्वितेन धृतरागनवाम्बरेण " इस अंश में श्लेष है। शङ्कराचार्य के पक्ष में दण्ड का अर्थ " काष्ठदण्ड " तथा सूर्य पक्ष में 'किरणें' अभीष्ट हैं। इसी प्रकार धृतरागनवाम्बर का शङ्कराचार्य के पक्ष में लालनवीन वस्त्रधारी तथा सूर्यपक्ष में आकाश को रक्तवर्ण कर देने वाला अर्थ अभीष्ट है।

१- अमुना वचनेन तोषिता कमला तद्भवनं समन्ततः।
कनकामलकैरपूरयज्जनताया हृदयं च विस्मयैः ॥ श्रीश० दि० , ४-३०

२- दण्डान्वितेन धृतरागनवाम्बरेण गोविन्दनाथवनमिन्दुभवातटस्थम्।
तेन प्रविष्टमजनिष्ट दिनावसाने चण्डत्विषा च शिखरं चरमाचलस्य ॥
श्रीश० दि० , ५-६०

१८- व्यतिरेक

उपमान से उपमेय के आधिक्य वर्णन को " व्यतिरेक " अलङ्कार कहा जाता है ।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में व्यतिरेक अलङ्कार के कई स्थल दृष्टिगत होते हैं । सर्वप्रथम प्रथम सर्ग में ही कवि की इस इच्छा में व्यतिरेक का दर्शन होता है -

" क्षीरसागर के विवरों से निकलने वाले अमृतप्रवाह की माधुरी से भी बढ़कर मधुर वचनों से सर्पों के स्वामी शेषनाग को तिरस्कृत करने वाले तथा कल्याणकारक हृदय के मल को दूर करने के लिये जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य के यश के वर्णन की मेरी अभिलाषा है ।[2]"

यहाँ उपमेय जगद्गुरु शङ्कराचार्य का उपमान शेषनाग से उत्कर्ष दिखाने के कारण व्यतिरेक का चमत्कार है ।

शङ्कराचार्य के मुख की प्रशंसा में प्रयुक्त व्यतिरेक -

" बहुत लोगों का मत है कि बालक शङ्कराचार्य का मुख सर्वजगत् के पुण्यरूपी समुद्र से उसी प्रकार उत्पन्न हुआ है जिस प्रकार क्षीरसागर से चन्द्रमा । (कवि का मत है कि) सुधाधारा को उत्पन्न करने में ही दोनों समान हैं परन्तु चन्द्रमा जहाँ नक्षत्रों में विद्यमान तेजपुञ्ज को हर लेता है वहाँ शङ्कराचार्य का मुख सज्जनों को तेज पुञ्ज प्रदान करता है ।[3]"

- -

१- उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः । का०प्र० , सू०सं०- १५८

२- पयोब्धिविवरोद्गतिःसुतसुधाकरीमाधुरी -
धुरीणमणितावधरीकृतफणाधराधीशितुः ।
शिवङ्करसुशङ्कराभिधजगद्गुरोः प्रायशो
यशो हृदयशोधकं कलयितुं समीहामहे ॥ श्रीश० दि० , १-५

३- समासीत्तस्याऽऽस्यं सुकृतजलधेः सर्वजगतां
पयः पारावारादजनि रजनीशो बहुमतात् ।
सुधाधारोद्गारः सुखगनयोः किन्तु शशभृ -
त्त्वतां तेजःपुञ्जं हरति वदनं तस्य विशति ॥ श्रीश० दि० , ४-५४

यहाँ " रजनीश " उपमान से " वदन " उपमेय की उत्कृष्टता गम्य हो रही है । अतः यह व्यतिरेकाम्य का स्थल है । " स्ता " पद में श्लेष , और " सुवृत्त जलधे: " पद में रूपक अलङ्कार है । " रजनीशो तस्याऽस्यं " में लुप्तोपमा अलङ्कार है ।

शङ्कराचार्य की भाष्य सूक्तियों की प्रशंसा में व्यतिरेक -

" गङ्गा पद्मनाभ (विष्णु) के पैर से उत्पन्न हुई हैं और शङ्कराचार्य की भाष्यसूक्ति शिव के मुख से उत्पन्न हुई है । दोनों में यह भेद है कि पहली अपने जल में लोगों को डुबो देती है और दूसरी (भवसागर में) डूबे हुए लोगों का उद्धार कर देती है ।[१] "

यहाँ " गङ्गा " उपमान से " भाष्यसूक्ति " उपमेय की श्रेष्ठतागम्य हो रही है । जहाँ " गङ्गा " उपमान का जन्मस्थल तुच्छ समझा जाने वाला " पाद " है वहाँ " भाष्यसूक्ति " उपमेय का जन्म स्थल आदरणीय " मुख " है । इसी प्रकार जहाँ " गङ्गा " उपमान लोगों को मग्न कर उन्हें कष्ट पहुँचाती है वहाँ " भाष्यसूक्ति " उपमेय मग्न हुए लोगों का उद्धार कर उन्हें हर्ष प्रदान करती हैं । उपर्युक्त दोनों कारणों से उपमेयभूत " भाष्यसूक्ति " उपमानभूत गङ्गा " से श्रेयान् सिद्ध हो रही है । अतः यहाँ व्यतिरेक का चमत्कार है ।

शिवगुरु (शङ्कराचार्य के पिता) की प्रशंसा में व्यतिरेक का सुन्दर प्रयोग - " शिवगुरु ने मनपसन्द नाना प्रकार की वस्तुएँ देकर पितरों , देवों तथा मनुष्यों को सन्तुष्ट किया । विशिष्ट धन सम्पन्न (विद्याधन सम्पन्न) सुन्दर मन वालों (ब्राह्मण लोगों) के द्वारा पूजित उनको (शिवगुरु को) लोगों

१- पादादासीत्पद्मनाभस्य गङ्गा शम्भोर्वक्त्राच्छाङ्करी भाष्यसूक्ति: ।
आद्या लोकान्दृश्यते मज्जयन्तीत्यन्या मग्नानुद्धरत्येष भेद: ॥

श्रीश० दि० , ६-१०३

ने जङ्गम अर्थात् एक जगह से दूसरी जगह गमन करने वाला कल्पवृक्ष मान लिया था ।[1]

यहाँ उपमेय " शिवगुरु " की उत्कृष्टता का हेतु " जङ्गम " पद के द्वारा वर्णित है । जहाँ उपमानभूत वास्तविक " कल्पवृक्ष " स्थिर होता है वहाँ उपमेय " शिवगुरुरूपकल्पवृक्ष " चञ्चल होने के कारण उपमान " कल्पवृक्ष " से श्रेयान् सिद्ध हो रहे हैं । अतः यहाँ व्यतिरेक का सौन्दर्य है ।

व्यास , वाल्मीकि और शेषनाग से भी शङ्कराचार्य को श्रेष्ठ सिद्ध करने में व्यतिरेक का सामान्य प्रयोग - " शेषनाग साधु शब्दों के द्वारा ही मुमुक्षुओं को सन्तुष्ट कर देते हैं । कवियों में श्रेष्ठ वाल्मीकि असत्य और कल्पित अर्थों के द्वारा बार-बार सन्तोष देते हैं । व्यास लम्बे-लम्बे सूत्र बनाकर विलम्ब से उसके अर्थ की प्राप्ति कराते हैं परन्तु आश्चर्य है कि शङ्कराचार्य शीघ्र ही लोगों को कृतार्थ कर देते हैं "।[2]

उपमानभूत " शेषनाग " (पतञ्जलि) , " वाल्मीकि " और " व्यास " विलम्ब से लोगों को सन्तुष्ट करते हैं जब कि उपमेयभूत " शङ्कराचार्य " शीघ्र ही लोगों को सन्तुष्ट कर देते हैं । इस प्रकार यहाँ उपर्युक्त उपमानों से उपमेय शङ्कराचार्य का आधिक्य सिद्ध होने के कारण व्यतिरेक अलङ्कार है ।

१- सन्तर्पयन्तं पितृदेवमानुषांस्तत्तत्पदार्थैरभिवाञ्छितैः सदा ।
विशिष्टविदैः सुमनोभिरञ्चितं तं मेनिरे जङ्गमकल्पपादपम् ।।

श्रीश० दि० , २-३८

२- शेषः साधुभिरेव तोषयति नूनं शब्दैः पुमर्थार्थिनो
वाल्मीकिः कविराज एष वितथैरर्थैर्मुहुः कल्पितैः ।
व्याचष्टे किल दीर्घसूत्ररणिवार्थं चिरादर्थदां
व्यासः शङ्करदेशिकस्तु कुरुते सद्यः कृतार्थान्जनो ।।

श्रीश० दि० , ६-१८

व्यासजी की स्तुति के अवसर पर भी शङ्कराचार्य की उक्ति में व्यतिरेक अलङ्कार माध्यम बना है - " आप क्लेश को शमन करने के लिये हृदय में भगवान शङ्कर को धारण करते हैं । श्रुतिरूपी चिरन्तन वाणी की रक्षा आप मुख में करते हैं , दया दृष्टि से नरक का संहार करते हैं । इस प्रकार हे अद्भुत कृष्ण ! आपके समग्र गुणों के वर्णन में कौन समर्थ हो सकता है ?"[1]

यहाँ उपमेय " व्यासजी की उत्कृष्टता " गम्य हो रही है । उपमानभूत " गोपाल कृष्ण " ने तो गोपों की रक्षा के लिये केवल सात दिन तक गोवर्धन पर्वत को धारण किया था परन्तु उपमेयभूत " व्यासजी " सज्जनों के क्लेशशमन के लिये गिरीश (शङ्कर) को सदैव अपने हृदय में धारण किये हुए हैं । अतः ये उपमानभूत गोपाल कृष्ण से श्रेयान् सिद्ध हो रहे हैं ।

इसके अतिरिक्त भी कई अन्य स्थलों पर व्यतिरेक अलङ्कार का सौन्दर्य विवेच्य ग्रन्थ में उपलब्ध होता है जिनका संकेत नीचे टिप्पणी में किया गया है ।[2]

२०- विभावना

कारण के निषेध (अभाव) होने पर भी फल की उत्पत्ति का वर्णन " विभावना " अलङ्कार कहलाता है ।[3]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में विभावना का चमत्कार शङ्कराचार्य के शिष्यों की प्रशंसा के अवसर पर द्रष्टव्य है :

- -

१- धत्से सदाऽऽर्तिशमनाय हृदा गिरीशं
गोपायसेऽधिवदनं च चिरन्तनीर्गीः ।
दूरीकरोषि नरकं च दयार्द्रदृष्ट्या
कस्ते गुणान् गदितुमद्भुतकृष्ण शक्तः ।। श्रीश० दि० , ७-३०

२- श्रीश० दि० , ५-१११ , ११२ , ११३ , ६-६०

३- क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना । का०प्र० , सू०सं० १६१

' मौन ही व्याख्या है (जिससे) शङ्काकलङ्क के अङ्कुर के नष्ट हो जाने के कारण (अतएव) निरुत्तर, विश्व में पवित्रचरित्र वामदेवादि लोग उनके (शङ्कराचार्य के) छात्र थे। लोकों के उद्धार के लिये इस भूतल पर आने वाले उन्हीं शङ्कराचार्य का अब शिष्यत्व ग्रहण करने वाले धन्य हैं, सर्वविलक्षण हैं।'[1]

यहाँ 'वाक् व्यापाररूप' प्रसिद्ध कारण के अभाव में 'व्याख्यारूप' कार्य का वर्णन होने के कारण 'विभावना' अलङ्कार है।

२१- अर्थान्तरन्यास

सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न (अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष का सामान्य) के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार 'साधर्म्य' तथा 'वैधर्म्य' से दो प्रकार का होता है।[2]

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में अर्थान्तरन्यास का सौन्दर्य भी यत्र-तत्र मनमोहक है। इसके कुछ सुन्दर उदाहरणों का आगे अध्ययन किया जा रहा है।

शङ्कराचार्य के पिता शिवगुरु के प्रति उनके गुरु की उक्ति में अर्थान्तरन्यास का सामान्य चमत्कार द्रष्टव्य है :

१- व्याख्या मौनमनुत्तराः परिदलच्छङ्काकलङ्काङ्कुरा -
छात्रा विश्वपवित्रचरितास्ते वामदेवादयः ।
तस्यैतस्य विनीतलोकततिमुद्धर्तुं धरित्रीतलं
प्राप्तस्याथ विनेयतामुपगता धन्याः किलान्यादृशाः ।।
श्रीश० दि०, ५-२७

२- सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ।।
का० प्र०, सू० सं० - १६४

" तुम्हारे (शिवगुरु के) विवाह को लालसा वाले तुम्हारे माता-पिता जन्म से लेकर बीते हुए वर्षों को गिन रहे हैं । यह तो माता-पिता का स्वभाव ही होता है कि पहले वे अपने पुत्र के उपनयन की चिन्ता करते हैं तत्पश्चात् विवाह की ।[1] "

यहाँ पर विशेष - शिवगुरु के माता-पिता के स्वभाव का सामान्य-सभी माता-पिता के स्वभाव से समर्थन होने के कारण " अर्थान्तरन्यास " अलङ्कार है ।

पद्मपाद के प्रति तीर्थयात्राविषयक किये गये शङ्कराचार्य के उपदेश में अर्थान्तरन्यास -

" यह सत्सङ्ग बहुत गुणवान होते हुए भी एक दोष से युक्त होने के कारण दुष्ट है । यह समाप्त हो जाने पर चित्त में सन्ताप और दुःखसमूहों को प्रचित करता है । सत्सङ्ग वियोग से पहले रहने के समय सुखदायी होता है । संसार में प्रायः निरन्तर विमल और निर्दोष एक भी वस्तु नहीं है ।[2] "

यहाँ विशेष-सत्सङ्ग की दुष्टता का समर्थन सामान्य-संसार की प्रत्येक वस्तु की दुष्टता से होने के कारण अर्थान्तरन्यास का चमत्कार है ।

शङ्कराचार्य के सिर के इच्छुक कापालिक के प्रति शङ्कराचार्य की उक्ति में अर्थान्तरन्यास -

" हे योगिन् ! यदि इस चिन्तित कार्य (शिरःदान) को मेरे विद्यार्थी जो मेरे ऊपर ही आश्रित हैं जान लें तो नहीं करने देंगे । कौन व्यक्ति अपने शरीर को छोड़ना सहन करेगा ? और कौन पुरुष अपने स्वामी के शरीर छोड़ने

१- आ जन्मनो गणयतो ननु लालसावान्मातापिता परिणयं तव वर्तुका नो ।
पित्रोरियं प्रकृतिरेव पुरोपनीतिं यद्ध्यायतस्तनुभवस्य ततो विवाहम् ।
शं०दि०, २-१२

२- सत्सङ्गोऽयं बहुगुणयुतोऽप्येकदोषेण दुष्टो
यत्स्वान्तेऽयं तपति च परं सूयते दुःखजालम् ।
सत्सङ्गो बत विरहयेः सम्पदः पूर्वकाले
प्रायो लोके सततविमलं नास्ति निर्दोषमेकम् ।। शं० दि० , १४-२३

देगा ।[1]"

यहाँ विशेष विद्यार्थी और शङ्कराचार्य के स्वभाव का समर्थन सामान्य-सभी व्यक्तियों के स्वभाव से किया गया है । अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

उभयभारती की विद्वता के परिचय में अर्थान्तरन्यास -

" शोण नदी के तट पर वह सरस्वती सब अर्थों को जानने वाली और सर्वगुणसम्पन्न ब्राह्मण कन्या के रूप जन्म ग्रहण की । उन्हें सभी विद्याएँ सहज रूप से प्राप्त थी । सिर पर स्वभाव से उगने वाली केशराशि को कौन रोक सकता है?[2]"

यहाँ विशेष-सरस्वती की विद्या की सहज-प्राप्ति का समर्थन सामान्य-सभी मनुष्यों के सिर की केशराशि की स्वाभाविक उत्पत्ति से करने के कारण अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है ।

२२- स्वभावोक्ति

बालक आदि की अपनी (स्वाभाविक) क्रिया अथवा रूप के वर्णन को स्वभावोक्ति अलङ्कार कहते हैं ।[3]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य की बाललीला के वर्णन में स्वभावोक्ति अलङ्कार का सौन्दर्य देखा जा सकता है :

१- शिष्या विदन्ति यदि चिन्तितकार्यमेतद्
योगिन् मदेकशरणा विहतिं विदध्युः ।
को वा सहेत वपुरेतदपोह्यितं स्वं
को वा त्यमेत निजनाथशरीरमोक्षम् ।। श्रीश० दि० , ११-२८

२- सा शोणतीरेऽजनि विप्रकन्या सर्वार्थवित्सर्वगुणोपपन्ना ।
यस्या बभूवुः सहजाश्च विद्याः शिरोगतं के परिहर्तुमीशाः ।।
श्रीश० दि० , ३-१५

३- स्वभावोक्तिस्तुडिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् । का०प्र०, सू०सं० - १६७

" सर्ववेत्ता तथा सकल शक्ति सम्पन्न होने पर भी वह बालक (शङ्कराचार्य) मनुष्य जाति के धर्म का अनुसरण कर चला। बालक होता हुआ भी वह धीरे-धीरे हँसना प्रारम्भ किया और क्रम से कमल के समान कोमल चरणों से चलने के पूर्व उदर के बल सरका।"[1]

२१- व्याजस्तुति

प्रारम्भ में निन्दा अथवा स्तुति प्रतीत होने वाली तथा बाद में उससे भिन्न पर्यवसान होने वाली उक्ति को व्याजस्तुति कहा जाता है।[2]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य द्वारा त्रिवेणी की स्तुति व्याज स्तुति अलङ्कार के माध्यम से की गयी है - " हे सिद्ध नदी त्रिपुर राक्षस को मारने वाले शङ्कर भगवान की जटाओं में रोके जाने से तुम उनसे क्रुद्ध हो तब तुम सैकड़ों पुरुषों को शिव के समान क्यों बना देती हो? तुम्हारे द्वारा विरचित इन शिव की जटाओं में क्या तुम बद्ध नहीं होगी? क्या कहा जाय जड़ प्रकृति वाले लोग अपने भविष्य को नहीं समझ सकते।"[3]

यहाँ पर साक्षात् अर्थ सिद्ध नदी के कार्यों की निन्दा है परन्तु शिव के समान कल्याणकारी व्यक्तित्व का निर्माण अपने आप में एक प्रशंसनीय

१- सर्वं विदन्सकलशक्तियुतोऽपि बालो मानुष्यजातिमनुसृत्य चचार तज्ज्ञ।
बाल: शनैर्हसितुमारभत क्रमेण प्रष्ठुं शशाक गमनाय पदाम्बुजाभ्याम्॥
श्रीश० दि०, २-८४

२- व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दास्तुतिर्वा रूढ़िरन्यथा। का० प्र०, सू०सं० - १६८

३- सिद्धापगे पुरविरोधिजटोपरोध -
क्रुद्धा कुत: शतमत: सदृशान् विधत्से।
बद्धा न किन्तु भवितासि जटाभिरेभि -
मद्धा जडप्रकृतयो न विदन्ति भावि॥ श्रीश० दि०, ७-६८

कार्य है - इस अर्थ में अन्तिम विश्रान्ति होने के कारण यहाँ " व्याजस्तुति " अलङ्कार है। गङ्गा (विशेष) के जड़ताजन्य व्यवहार का (सामान्य) जड़ प्रकृति वाले व्यक्तियों के व्यवहार से समर्थन होने के कारण " अर्थान्तरन्यास " भी " व्याजस्तुति " के अङ्ग के रूप में आया है।

२४- सहोक्ति

जहाँ सह (शब्द के) अर्थ की सामर्थ्य से एक पद दो का वाचक (दो पदों से सम्बद्ध) हो वह सहोक्ति कहलाती है।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य की शारीरिकवृद्धि के वर्णन में सहोक्ति अलङ्कार का निबन्धन हुआ है -

" जिस प्रकार नीति में निपुण राजा की राज्यश्री, व्यसन से दूर रहने वाले ब्राह्मण की विद्या तथा शरत्कालीन चन्द्रमा की छवि क्रमशः बढ़ती है, उसी प्रकार उस (बालक शङ्कराचार्य) की मूर्ति माता-पिता के सन्तोष के साथ बढ़ने लगी।[2]"

यहाँ सहोक्ति के अतिरिक्त उपमा अलङ्कार भी है परन्तु सहोक्ति की स्थिति निरपेक्ष है। यहाँ प्रथमान्त उसकी (शङ्कराचार्य की) मूर्ति प्रधान है। इसका वर्धितत्व के साथ शाब्दी अर्थात साक्षात् सम्बन्ध है परन्तु तृतीयान्त माता-पिता का सन्तोष अप्रधान होने के कारण वर्धितत्व के साथ सहार्थ के बल से अर्थात् अर्थतः सम्बद्ध है। अतः यहाँ सहोक्ति अलङ्कार का सौन्दर्य है।

- -

१- सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्।

का० प्र०, सू०सं० - १६६

२- राज्यश्रीरिव नयकोविदस्य राज्ञो विद्येव व्यसनववीयसो बुधस्य।
शुभ्रांशोश्छविरिव शारदस्य पित्रोः सन्तोषैः सह ववृधे तदीयमूर्तिः॥

श्रीश० दि०, २-६१

१५- काव्यलिङ्ग

हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ(एक पदार्थ या अनेक पदार्थ)-रूप में कथन करना " काव्यलिङ्ग " अलङ्कार है।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में काव्यलिङ्ग के अनेक स्थल प्राप्त होते हैं। इस प्रसङ्ग के कतिपय उदाहरणों का आगे अध्ययन किया जा रहा है :

शङ्कराचार्य के शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन में काव्यलिङ्ग का चमत्कार -

" शङ्कराचार्य का शरीर भगवान शङ्कर का लीलावपु है तथा अत्यन्त सुन्दर है। मनुष्यों के मन को ये दोनों कल्पनाएँ नितान्त सुगम तथा उपयुक्त हैं क्योंकि जो विद्वान इस अनुपम शरीर को अपने अन्त:करण में ध्यान से देखते हैं वे अत्यन्त सुन्दर भी कामदेव को तृणवत् समझते हैं।[2]

यहाँ शङ्कराचार्यविषयक मनुष्यों की दोनों कल्पनाओं के औचित्य के हेतु के रूप में श्लोक का अन्तिम दो चरण उपन्यस्त होने के कारण काव्यलिङ्ग का सौन्दर्य है। इसके अतिरिक्त उपमानभूत कामदेव को तृण के समान तुच्छ वर्णित करने में प्रतीप अलङ्कार भी झाँक रहा है।

शिवगुरु को माँ के वात्सल्यसुख के वर्णन में काव्यलिङ्ग -

- -

१- काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता।
काο प्रο, सूο संο - १७३

२- असौ शम्भोर्लीलावपुरिति भृशं सुन्दर इति
द्वयं सम्प्रत्येतज्जनमनसि सिद्धं च सुगमम्।
यदन्त: पश्यन्त: करणमदसीयं निरुपमं
तृणीकुर्वन्त्येते सुषममपि कामं सुमतय:॥
श्रीशο दिο, ४-५६

" पुत्र (शिवगुरु) ने घर जाकर अपनी माँ की वन्दना की । माता ने पुत्र का आलिङ्गन कर , विरह से उत्पन्न सन्ताप को छोड़ दिया । पुत्र के शरीर का आलिङ्गन नामक पदार्थ प्रायः चन्दन रस से भी अधिक शीतल हुआ करता है ।"[1]

यहाँ पुत्र के आलिङ्गन से तद्विरहजन्य ताप के शान्त होने के हेतु के रूप में " पुत्र के आलिङ्गन को चन्दन रस से अधिक शीतल बताना " वाक्यार्थ उपनिबद्ध होने के कारण काव्यलिङ्ग है । " प्रायेण " पद से आलिङ्गन की शीतलता का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अङ्ग के रूप में चमत्कारोत्कर्षक है ।

शिवगुरु की संस्कृत वाणी सुनने के पश्चात् उनके पिता की मनःस्थिति के वर्णन में काव्यलिङ्ग -

" प्रश्न का उत्तर देने से वेद और शास्त्र के विषय में पुत्र शिवगुरु की निपुण बुद्धि को देखकर उनके पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए । पुत्र की नैसर्गिक वाणी सुख देने वाली होती है । यदि वह शास्त्रसंस्कृत हो तो उसका कहना ही क्या?"[2]

यहाँ शिवगुरु के पिता की प्रसन्नता के हेतु के रूप में " पुत्र की नैसर्गिक वाणी प्रसन्नतादायक होती है तब शास्त्रसंस्कृतवाणी का कहना ही क्या है? " वाक्यार्थ उपनिबद्ध होने के कारण काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

१- गत्वा निकेतनमसौ जननीं ववन्दे साऽऽलिङ्गय तद्विरहजं परितापमौज्झत् ।
प्रायेण चन्दनरसादपि शीतलं तद् यत्पुत्रगात्रपरिरम्भणनामधेयम् ।।
श्रीश० दि० , २-२२

२- वेदे च शास्त्रे च निरीक्ष्य बुद्धिं
प्रश्नोत्तरादावपि नैपुणीं ताम् ।
दृष्ट्वा सुतोषातितरां पिताऽस्य
स्वतः सुखा या किमु शास्त्रवती वाक् ।।
श्रीश० दि० , २-२६

शङ्करा‌चार्य के यशवर्णन में काव्यलिङ्ग -

' शङ्कराचार्य के कीर्तिरूपी चन्द्रमा का सौन्दर्य तीनों लोकों में अद्भुत है क्योंकि दिशारूपी सुन्दरी उसे अपनी गोद में रखती हैं , तारारँ अपने किरणरूपी हाथों से उसे खींचती हैं , आकाश प्रेम से पकड़कर उसका चुम्बन करता है , आकाशगङ्गा उसका आलिङ्गन करती है । लोकालोक नामक पर्वत की गुफा उससे प्रसन्न होती है और शेषनाग उसे अपना प्रेम समर्पण करता है ।'[१]

यहाँ शङ्कराचार्य के कीर्तिरूपी चन्द्रमा के सौन्दर्य की अद्भुतता के हेतु के रूप में दिशारूपी सुन्दरी आदि के कृत्य वाक्यार्थ रूप में निबद्ध हुए हैं । अतः काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

काव्यलिङ्ग का एक और सामान्य प्रयोग उभयभारती के विवाह के अवसर पर सम्बन्धियों की उक्तियों में द्रष्टव्य है -

(कन्या के पिता की ओर से) 'हे भगवन् । (वर के पिता) इस घर में जो कुछ आपको रुचिकर प्रतीत हो वह सब आपके ही निवेदन योग्य है । (इसे सुनकर वर के पिता ने उत्तर दिया) (मैं) सभी अभिलषित वस्तुओं को कहूँगा । (आपने) वृद्ध लोगों की निरन्तर उपासना की है अतः आपका यह कहना उचित ही है ।'[२]

यहाँ कन्या के पिता की उक्ति के औचित्य के हेतु के रूप में ' आपने वृद्ध लोगों की निरन्तर उपासना की है ' वाक्यार्थ निबद्ध होने के कारण काव्यलिङ्ग अलङ्कार है ।

१- उत्सङ्गेषु दिगङ्गना निदधते ताराः कराकर्षिका -
रागाद् द्यौरवलम्ब्य चुम्बति वियद्गङ्गा समालिङ्गति ।
लोकालोकदरी प्रसीदति फणी शेषोऽस्य दत्ते रतिं
त्रैलोक्ये गुरुराजकीर्तिशशिनः सौन्दर्यमत्यद्भुतम् ।।

श्रीश० दि० , ४-१०१

२- यद्यद् गृहेऽत्र भगवन्निह रोचते ते तत्तन्निवेद्यमखिलं भवदीयमेतत् ।
वक्ष्यामि सर्वमभिलाषपदं त्वदीयं युक्तं हि संततमुपासितवृद्धपुंगे । श्रीश० दि०, ३-५२

२९- अनुमान

अनुमान अलङ्कार का सम्बन्ध नैयायिकों के अनुमान प्रमाण से है। अनुमान प्रमाण के साध्य और साधन दो पदों को लेकर अनुमान अलङ्कार के लक्षण का निर्वचन हुआ है। मम्मट के अनुसार साध्य और साधन का कथन "अनुमान" अलङ्कार है।[1]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में अनुमान अलङ्कार का दर्शन बालरूप शङ्कराचार्य के वर्णन में होता है -

"माथे पर चन्द्रमा का चिह्न, ललाट पर नेत्र, कन्धे पर त्रिशूल और शरीर स्फटिक रङ्ग का होने के कारण विद्वानों ने उन्हें शिव भगवान माना।"[2]

यहाँ चन्द्रमा, नेत्र, त्रिशूल आदि परक वाक्यार्थ साधन के रूप में और "विद्वानों ने उन्हें शिव भगवान समझा" वाक्यार्थ साध्य के रूप में वर्णित होने के कारण अनुमान अलङ्कार है।

२६- विकस्वर

"विकस्वर" अलङ्कार की उद्भावना जयदेव ने की है। उनके अनुसार सामान्य तथा विशेष दो अर्थ जब किसी विशेष अर्थ का समर्थन करते हैं तब विकस्वर अलङ्कार होता है।[3]

विकस्वर अलङ्कार के वैचित्र्य के लिये लोगों ने विशेष - सामान्य - विशेष के क्रम को आवश्यक माना है।

- -

१- अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः।
काо प्रо, सूоसंо - १८१

२- मूर्धनि हिमकरचिह्नं निटिले नयनाङ्कमंसयोः शूलम्।
वपुषि स्फटिकसवर्णं प्राज्ञास्तं मेनिरे शम्भुम्॥
श्रीशо दिо, २-६०

३- यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः।
चन्द्रालोक, ५-६८

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में विकस्वर अलङ्कार का दर्शन श्रुतिनिन्दक बौद्धों के वध के समर्थन में होता है - "राजा सुधन्वा ने श्रुतिनिन्दक बौद्धों को मारने की आज्ञा दी। जिस (पुरुष) के दोष दिखलाई पड़े वह प्रिय होने पर भी महात्माओं के लिये वध्य होता है। क्या भृगुनन्दन परशुराम ने साक्षात् अपनी माता का वध नहीं कर डाला?"[1]

यहाँ बौद्धों के वधरूप विशेष का समर्थन सामान्य - दोषी व्यक्तियों के वध से किया गया पुनः इस सामान्य का समर्थन विशेष-परशुराम को माँ के वधकरने के कारण विकस्वर अलङ्कार है।

२८- सार

जहाँ पराकाष्ठापर्यन्त उत्तरोत्तर (अगले-अगले) का उत्कर्ष वर्णित हो वहाँ "सार" अलङ्कार होता है।[2]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में शारदा देवी के मन्दिर के वर्णन में "सार" अलङ्कार का दर्शन होता है -

"इस पृथ्वी पर जम्बूदीप सबसे श्रेष्ठ है उस जम्बूदीप में भी भारतवर्ष सर्वोत्तम है। उसमें भी काश्मीरमण्डल सर्वोत्कृष्ट है। वहाँ वाणी की देवी "शारदा" का निवास है।"[3]

१- व्यधादाज्ञां ततो राजा वधाय श्रुतिविद्विषाम् ॥
दृष्टोऽपि दुष्टदोषश्चेद्वध्य एव महात्मनाम् ।
जननीमपि किं साक्षान्नावधीद्भृगुनन्दनः ॥
श्रीश० दि० , १-९२ , ९४

२- उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः ।
का० प्र० , सू० सं० - १९९

३- जम्बूद्वीपं शस्यतेऽस्यां पृथिव्यां तत्राप्येतन्मण्डलं भारताख्यम् ।
काश्मीराख्यं मण्डलं तत्र शस्तं यत्राऽऽस्तेऽसौ शारदा वागधीशा ॥
श्रीश० दि० , १६-५५

यहाँ पृथ्वी आदि वर्ण्य विषय का पराकाष्ठापर्यन्त उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णित होने के कारण सार अलङ्कार का वैचित्र्य है।

२९- असङ्गति

जहाँ कार्य-कारणभूत दो धर्मों की भिन्नदेशता और एक साथ प्रतीति हो वहाँ " असङ्गति " अलङ्कार होता है।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में असङ्गति अलङ्कार शङ्कराचार्य के बालक्रीडावर्णन में दिखाई पड़ता है -

" कमनीय हैवताले पलङ्ग को अपने पैरों से धीरे-धीरे पीटते हुए उस बालक ने भेदवादी (द्वैतवादी) विद्वानों के मनोरथों के सैकड़ों टुकड़े कर दिये।"[2]

पलङ्गताडनरूप कारण से अभिन्न देशत्व पलङ्गविदारणरूप क्रिया सम्भव है परन्तु उपर्युक्त उदाहरण में पलङ्गताडनरूप कारण से भिन्नदेशत्व भेदवादी विद्वानों के मनोरथ भङ्ग रूपी कार्य की कल्पना हुई है। यहाँ कारण और कार्य की प्रतीति समकालिक भी है। अतः यहाँ असङ्गति अलङ्कार का सौन्दर्य विद्यमान है।

३०- एकावली

जहाँ पूर्व-पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर-उत्तर वस्तु विशेषणरूप से रखी

- -

१- भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः ।।
का० प्र०, सू० सं० - १९०

२- घ्नन्ताडयन् हन्त शनैः पदाभ्यां पर्यङ्कवर्यं कमनीयशय्यम् ।
बिभेद सद्यः शतधा समूहान् विभिन्नवादीन्द्रमनोरथानाम् ।।
श्रीश० दि०, २-८६

जाय अथवा हटायी जाय वहाँ दो प्रकार का एकावली अलङ्कार होता है।[1]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में शङ्कराचार्य की प्रशंसा के अवसर पर एकावली अलङ्कार का सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है :

"उनका कुल उनसे (शङ्कराचार्य से) सुशोभित हुआ। वे शील से सुशोभित हुए शील भी विद्या से प्रकाशित हुआ क्योंकि विद्या भी विनय से शोभित थी।"[2]

यहाँ कुल के विशेषण के रूप में शङ्कराचार्य, शङ्कराचार्य के विशेषण के रूप में शील, शील के विशेषण के रूप में विद्या और विद्या के विशेषण के रूप में विनय की स्थापना होने के कारण 'स्थिति रूप' एकावली अलङ्कार है।

३०- प्रतीप

जहाँ उपमान की सत्ता पर आक्षेप किया जाय वहाँ प्रथम प्रकार का "प्रतीप" तथा जहाँ उपमान के अनादर के सूचन के लिये उसे उपमेय बना दिया जाय वहाँ द्वितीय प्रकार का प्रतीप अलङ्कार होता है।[3]

१- स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ।।

का० प्र०, सू० सं० - १९७

२- समशोभत तेन तत्कुलं स च शीलेन परं व्यरोचत् ।
अपि शीलमदीपि विद्यया ह्यपि विद्याविनयेन दिद्युते ।।

श्रीश० दि०, ४-७२

३- आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ।।

का० प्र०, सू० सं० २००

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में शङ्कराचार्य के गुण, यश और वचन आदि की प्रशंसा में प्रतीप अलङ्कार का सौन्दर्य देखा जा सकता है। इस प्रसङ्ग के कतिपय सुन्दर उदाहरणों का आगे अध्ययन किया जा रहा है :

शङ्कराचार्य के यशवर्णन में प्रतीप का सुन्दर प्रयोग -

"शङ्कराचार्य का यश क्षीर समुद्र से कैशयुद्ध करने वाला है, शरत्कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा से गदायुद्ध करने वाला है और रजतगिरि के साथ हाथाबाही करने वाला है। अतः (उपर्युक्त सभी प्रसिद्ध उपमानों का निरास करने में) क्रूर उनका यश (सर्वत्र) सुशोभित हो रहा है।[1]

यहाँ क्षीरसमुद्र, शरत्कालीन पूर्णिमा का चन्द्रमा और रजतगिरि (जो श्वेतता के लिये प्रसिद्ध हैं) उपमानों से उपमेय शङ्कराचार्य के यश के द्वारा युद्ध करने और अन्त में इसके द्वारा दुर्बल उपमानों को परास्त करने का वर्णन होने के कारण उपमेय से उपमान की हीनता सिद्ध हो रही है। अतः यहाँ प्रतीप अलङ्कार है।

शङ्कराचार्य के अङ्गवर्णन में प्रतीप -

"कुछ लोग शङ्कराचार्य के पापरहित चरणों को कमल के समान तथा मुख को चन्द्रमण्डल के समान बतलाते हैं परन्तु ये दोनों बातें उचित नहीं हैं क्योंकि पद्मपाद नाम से तीनों लोकों में विख्यात शङ्कराचार्य के शिष्य ने कमल के ऊपर अपना पैर रखा था और उनका मुख हजारों द्विजराजों के द्वारा उपासनीय है।[2]

१- कलशाब्धिकचाकचिकारं क्षणदाधीशगदागदिप्रियम्।
रजताद्रिभुजाभुजिक्रियं क्रूरं तस्य यशः स्म राजते ॥ श्रीश० दि०, ४-९८

२- पादौ पद्मसमौ वदन्ति कतिचिच्छ्रीशङ्करस्यानघौ
वक्त्रं च द्विजराजमण्डलनिभं नैतद्द्वयं साम्प्रतम् ।
प्रेष्यः पद्मपदः किल त्रिजगति ख्यातः पदं दत्तवा-
नम्भोजे द्विजराजमण्डलशतैः प्रेष्यैरुपास्यं मुखम् ॥ श्रीश० दि०, ४-३८

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य के गुण, यश और वचन आदि की प्रशंसा में प्रतीप अलङ्कार का सौन्दर्य देखा जा सकता है। इस प्रसङ्ग के कतिपय सुन्दर उदाहरणों का आगे अध्ययन किया जा रहा है :

शङ्कराचार्य के यशवर्णन में प्रतीप का सुन्दर प्रयोग -

" शङ्कराचार्य का यश क्षीर समुद्र से कैशयुद्ध करने वाला है, शरत्कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा से गदायुद्ध करने वाला है और रजतगिरि के साथ हाथाबाही करने वाला है। अत: (उपर्युक्त सभी प्रसिद्ध उपमानों का निरास करने में) चतुर उनका यश (सर्वत्र) सुशोभित हो रहा है।[1]

यहाँ क्षीरसमुद्र, शरत्कालीन पूर्णिमा का चन्द्रमा और रजतगिरि (जो श्वेतता के लिये प्रसिद्ध हैं) उपमानों से उपमेय शङ्कराचार्य के यश के द्वारा युद्ध करने और अन्त में इसके द्वारा दुर्बल उपमानों को परास्त करने का वर्णन होने के कारण उपमेय से उपमान की हीनता सिद्ध हो रही है। अत: यहाँ प्रतीप अलङ्कार है।

शङ्कराचार्य के अङ्गवर्णन में प्रतीप -

" कुछ लोग शङ्कराचार्य के पापरहित चरणों को कमल के समान तथा मुख को चन्द्रमण्डल के समान बतलाते हैं परन्तु ये दोनों बातें उचित नहीं हैं क्योंकि पद्मपाद नाम से तीनों लोकों में विख्यात शङ्कराचार्य के शिष्य ने कमल के ऊपर अपना पैर रखा था और उनका मुख हजारों द्विजराजों के द्वारा उपासनीय है।[2]

- -

१- कचशाब्धिकचाकचिदायं चाणदाधीशगदागदिप्रियम् ।
रजताद्रिभुजाभुजिक्रियं चतुरं तस्य यश: स्म राजते ।। श्रीश० दि०, ४-६८

२- पादौ पद्मसमौ वदन्ति कतिचिच्छ्रीशङ्करस्यानघौ
वक्त्रं च द्विजराजमण्डलनिभं नैतद्द्वयं साम्प्रतम् ।
प्रेष्य: पद्मपद: किल त्रिजगति ख्यात: पदं दत्तवा-
नम्भोजे द्विजराजमण्डलशतै: प्रेष्यैरुपास्यं मुखम् ।। श्रीश० दि०, ४-३८

यहाँ ' कमल ' और ' चन्द्र ' दोनों उपमानों की तुलना उपमेय - शङ्कराचार्य के ' चरण ' और ' मुख ' से करने को अनुचित ठहराने में उपमानों का तिरस्कार व्यङ्ग्य है । अतः यहाँ प्रतीप अलङ्कार है ।

शङ्कराचार्य के वचनों की प्रशंसा में ' प्रतीप ' अलङ्कार -

' मेरे द्वारा मीठी दधि का आस्वादन किया गया है , बहुत समय तक दुग्धपान किया गया है , ईख का साक्षात् दर्शन किया गया है , अंगूर का भक्षण किया गया है , मधुरस का पान किया गया है , मकरन्द पहले ही प्राप्त किया गया था, और केले का भोग किया गया है और अब विलक्षण शङ्कराचार्य की मधुर तथा गम्भीर वाणी का आस्वाद ले रहा हूँ । प्रसन्नता है कि सुधा की सरसता जो मुझे इन वचनों में प्राप्त हो रही है वह उपर्युक्त दधि-दुग्धादि में कहाँ ?[1]

यहाँ उपर्युक्त दुग्धादि सभी पदार्थ उपमान के रूप में वर्णित हुए हैं परन्तु उपमेय शङ्कराचार्य की वाणी के समक्ष इन सभी उपमानों की व्यर्थता व्यङ्ग्य होने के कारण प्रतीप अलङ्कार है ।

शङ्कराचार्य के वाणीगुम्फ की प्रशंसा में प्रतीप -

' वर्षाकाल के आरम्भ में प्रकट होने वाले मेघों के गम्भीर गर्जन के समान , भयङ्कर आँधी से तत्काल चञ्चल समुद्रों के तरङ्गों के अभिमान को चूर-चूर कर देने वाला , खिली हुई नवीन मालती के सुगन्ध के गर्व को नष्ट कर देने वाला शङ्कराचार्य की मधुरचित वाणी का गुम्फ फैल रहा है ।[2]

- -

१- अप्सां दुग्धं सुलिप्सं चिरतरमचरं क्षीरमद्राक्षमिक्षुं
साक्षाद्द्राक्षामभक्षं मधुरसमधयं प्रागविन्दं मरन्दम् ।
मोचामाचाममन्यो मधुरिमगरिमा शङ्कराचार्यवाचा
माचान्तो हन्त किं तैरलमपि च सुधासारसोसारसीम्ना ।। श्रीश० दि०, ४-६३

२- वर्षारम्भविजृम्भमाणजलमुग्गम्भीरघोषोपमो
वात्याघूर्णविघूर्णदर्णवपयःकल्लोलदर्पापहः ।
उन्मीलन्नवमल्लिकापरिमलाहन्तानिहन्ता गिरा -
तङ्कः शङ्करयोगिदेशिकगिरां गुम्फः समुज्जृम्भते ।। श्रीश० दि०, ४-८३

यहाँ उपमेय - ' वाणीगुम्फ ' के द्वारा उपमान - ' समुद्र की तरङ्ग ' और ' मालती के सुगन्ध ' के गर्व के नष्ट करने का वर्णन होने के कारण उपमानों का अपमान व्यञ्जित हो रहा है । अतः यहाँ प्रतीप अलङ्कार है ।

शङ्कराचार्य की कीर्ति की प्रशंसा में प्रतीप -

' भयङ्कर सिंह के नखों से खोदे गये अतएव हाथी के मस्तक से गिरने वाले नवीन मोतियों के साथ सुन्दरता और चाकचिक्य में बाहु-युद्ध करने वाली है तथा मन्दराचल के द्वारा मन्थन किये जाने पर उत्पन्न क्षीरसागर की चञ्चल तरङ्गों के साथ मैत्री करने वाली शङ्कराचार्य की विशाल कीर्तिमाला सर्वोत्कृष्ट है ।[1]

यहाँ प्रतीप के अतिरिक्त ' मन्थाद्रिक्षुब्धदुग्धार्णव निकट समुल्लोल-कल्लोलमैत्रीपात्रीभूता ' अंश में लुप्तोपमा है ।

शङ्कराचार्य के गुणों की प्रशंसा में उत्प्रेक्षानुप्राणित प्रतीप का चमत्कार -

' कर्पूर के द्वारा ऋण के रूप में ग्रहण किया गया , कस्तूरी के द्वारा अध्ययन करके प्राप्त किया गया , मालती के द्वारा चिरकालिक सेवा करके प्राप्त किया गया , केसर के द्वारा खरीदा गया और चन्दन के द्वारा चुराया गया शङ्कराचार्य की वाणी का जो सौरभ है वह अक्षुण्ण है । धन्य हैं वे वचन और धन्य है उनकी विलक्षण महिमा ।[2]

- -

१- श्रीत्कण्ठाकुण्ठकण्ठीरवनखरदुष्णमत्तेभकुम्भ -
प्रत्यग्रोन्मुक्तमुक्तामणिगणसुषमाबद्धयुद्धलीला ।
मन्थाद्रिक्षुब्धदुग्धार्णवनिकटसमुल्लोलकल्लोलमैत्री -
पात्रीभूता प्रभूता जयति यतिपतेः कीर्तिमाला विशाला ।। श्रीश० दि०, ४-१०३

२- कर्पूरेण ऋणीकृतं मृगमदेनाधीत्य सम्पादितं
मल्लीभिश्चिरसेवनादुपागतं क्रीतं तु काश्मीरजैः ।
प्राप्तं चोरतया पटीरतरुणा यत्सौरभं तद्गिरा -
मक्षुण्णं महितस्य तस्य महिमा धन्योऽयमन्यादृशः ।। श्रीश० दि० , ४-६२

सभी सुगन्धित पदार्थ जो उपमान के रूप में यहाँ प्रयुक्त हुए हैं वे शङ्0कराचार्य के शब्दसौरभरूप उपमेय के समक्ष दीनहीन औरनैगण्य सिद्ध हो रहे हैं । अतः यहाँ प्रतीप का वैचित्र्य है ।

व्यासजी के शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन में " प्रतीपालङ्0कार " का स्पष्ट और उत्तम प्रयोग हुआ है - " अनुरागवती रजनी से आलिङ्0गत शरच्चन्द्रमा को भी अपनी शरीर शोभा से निन्दित करने वाले व्यासजी तमालवृक्ष के समान अपने शरीर की कान्ति से व्याप्त थे और रमणीय चन्द्रकान्तमणि से निर्मित कमण्डलु को धारण कर रहे थे ।[१]"

यहाँ प्रथम दो चरणों में प्रतीप अलङ्0कार का सौन्दर्य है । सौन्दर्य का निधान शारदीय चन्द्रमा जो प्रसिद्ध उपमान है उसकी निन्दा उपमेय-व्यास जी के शारीरिक सौन्दर्य से किया गया है । " तापिञ्छरीतितनुकान्तिभरीपरीतं" में लुप्तोपमा है । यहाँ दोनों अलङ्0कार की स्थिति निरपेक्ष है ।

३२- सम्भावना और प्रौढ़ोक्ति

" सम्भावना " और " प्रौढ़ोक्ति " दोनों अलङ्0कारों की कल्पना जयदेव ने की है ।

सम्भावना का लक्षण - किसी कार्य की सिद्धि के लिये यह कल्पना की जाय कि " यदि ऐसा हो " तो वहाँ " सम्भावना " अलङ्0कार है ।[२]

जयदेव के " सम्भावना " अलङ्0कार को अन्य आचार्यों ने अतिशयोक्ति का एक भेद माना है ।

१- गाढोपगूढमनुरागवती रजन्या गर्हापदं विदधतं शरदिन्दुबिम्बम् ।
तापिञ्छरीतितनुकान्तिभरीपरीतं कान्तेन्दुकान्तघटितं करकं दधानम् ।।
श्रीश0 दि0 , ७-१६

२- सम्भावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये ।
चन्द्रालोक - ५-४८

प्रौढ़ोक्ति का लक्षण - अयोग्य पदार्थ को किसी कार्य के योग्य कहना " प्रौढ़ोक्ति " अलङ्कार है ।[1]

शङ्कराचार्य के चरणों की कोमलता को प्रख्यापित करने के लिये कवि ने प्रौढ़ोक्ति गर्भित " सम्भावना " अलङ्कार को अपना माध्यम बनाया है ।

" यदि जल चन्द्रमणि को प्रवित करे , पत्थर से कमल उत्पन्न हो और उससे यदि तालाब पैदा हो तथा उस तालाब में यदि कमल खिले तो वे शङ्कराचार्य के चरणों की तुलना प्राप्त कर सकते हैं ।[2] "

यहाँ " यदि " पद के प्रयोग से अनेक सम्भावनाओं का वर्णन होने के कारण " सम्भावना " अलङ्कार है । जल से चन्द्रमणि का प्रवण , पत्थर से कमलोत्पत्ति , कमलोत्पत्ति से सरोवर की उत्पत्ति रूप क्रियाओं में प्रयुक्त जल , पत्थर और कमल उपर्युक्त कार्यों के लिये सर्वथा अयोग्य होने पर कवि ने उनकी योग्यता का वर्णन किया है । अत: प्रौढ़ोक्ति का भी चमत्कार है । दोनों अलङ्कारों की स्थिति सापेक्ष है ।

३३- निश्चय

" निर्णय " अलङ्कार की कल्पना आचार्य विश्वनाथ ने की है । साहित्य दर्पण में " निश्चय " अलङ्कार के नाम से उल्लिखित इस अलङ्कार का लक्षण है - अप्रकृत के निषेध के साथ प्रकृत का आहार्य निश्चय ।[3]

- -

१- प्रौढोक्तिस्तदशक्तस्य तच्छक्तत्वावकल्पनम् । चन्द्रालोक - ५-४७

२- जलमिन्दुमणिं प्रसूयदि यदि पद्मं दृषदस्तत: सर: ।
यदि तत्र भवेत् कुशेशयं तदमुष्याङ्घ्रि प्रतुलामवाप्नुयात् ।।
शंश० दि० , ४-३७

३- अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चय: पुन: ।
साहित्यदर्पण , १०-३६

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य की महत्ता प्रतिपादित करने के अवसर पर निश्चय (निर्णय) अलङ्कार का दर्शन होता है - " नमस्कार मुक्ति प्रदान करता है या नमस्कार किया गया शङ्कराचार्य का चरण ? इस विषय में श्रुति के जानने वाले विद्वान अपनी प्रगल्भता के बल पर विवाद करते हैं , परन्तु मैं (कवि) तो यह कहता हूँ कि शङ्कराचार्य के चरण की सेवा में निरत रहने वाले पुरुष के पैरों की धूलि का आलिङ्गन मात्र ही तुरन्त निर्वाण देने वाला है।[१] "

यहाँ नमस्कार रूप अप्रस्तुत का निषेध कर शङ्कराचार्य के चरणोपासक के पैरों की धूलि के आलिङ्गन मात्र से निर्वाण प्राप्त होने रूप उपमेय की आहार्यस्थापना होने के कारण " निश्चय "अलङ्कार है।

३४- उल्लेख

एक वस्तु का निमित्तवश अनेकधा ग्रहण या वर्णन " उल्लेख " अलङ्कार है।[२]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शिवगुरु की प्रशंसा के अवसर पर उल्लेख अलङ्कार का वैचित्र्य दृष्टिगत होता है - " रूप में कामदेव , क्षमा में पृथ्वी के समान , क्रियाओं में वृद्ध , धनिकों में अग्रगण्य , अभिमान से अपरिचित , विनयी तथा सदैव नम्र रहने वाले वे (शिवगुरु) वृद्ध हो गये परन्तु पुत्र का मुख नहीं देख पाये।[३] "

- -

१- नतिर्दत्ते मुक्तिं नतमुत पदं वेत्ति भगवत्
पदस्य प्रागल्भ्याज्जगति विवदन्ते श्रुतिविदः ।
वयं तु ब्रूमस्तद्भजनरतपादाम्बुजरजः
परीरम्भारम्भः सपदि हृदि निर्वाणशरणम् ।। श्रीश० दि० , ४-४३

२- एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः ।
रुय्यककृत अलङ्कारसर्वस्व , पृ०सं०- ४६

३- रूपेषु मारः क्षमया वसुन्धरा क्रियासु वृद्धो धनिनां पुरःसरः ।
गर्वानभिज्ञो विनयी सदा नतः स नोपलेभे तनयाननं जरन् ।। श्रीश० दि०, २-४०

यहाँ शिवगुरु में अनेक धर्मों के आश्रयत्व रूप प्रयोजन की प्रतीति के लिये उनका अनेकधा वर्णन हुआ है । अतः यहाँ उल्लेख अलङ्कार है ।

३५- काव्यार्थापत्ति

काव्यार्थापत्ति अलङ्कार का सम्बन्ध अर्थापत्ति प्रमाण से है । अर्थापत्ति एक प्रमाण होने के कारण बहुत आचार्यों ने इसे अलङ्कार नहीं माना है । अलङ्कार के रूप में काव्यार्थापत्ति को स्थान देने वाले सर्वप्रथम आचार्य रुय्यक हैं । इनके अनुसार " काव्यार्थापत्ति " वह अलङ्कार है जहाँ " दण्डपूपिकान्याय " से अर्थान्तर की प्रतीति हो ।[१] इन्होंने अर्थापत्ति को कविप्रतिभाजन्य माना है ।

यदि मूषक ने दण्ड भक्षण कर लिया है तो उसमें लगा हुआ पूप अवश्य ही खाया होगा - इसे ही दण्डपूपिकान्याय कहा जाता है ।

अप्पयदीक्षित ने काव्यार्थापत्ति अलङ्कार के लिये दण्डपूपिकान्याय के स्थान पर " कैमुत्यन्याय " का उल्लेख किया है ।[२]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य के भाष्यविषयक व्यास की भविष्यवाणी में " काव्यार्थापत्ति " अलङ्कार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है :

" यह (ब्रह्मसूत्र) भाष्य , इन्द्र सहित देवताओं के द्वारा भी वर्णनीय , अनिन्दनीय तथा उदार होकर ब्रह्मा की सभा में भी श्रेष्ठता को प्राप्त करेगा ।[३] "

१- दण्डपूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः ।

अ० स० , पृ० सं० - १५६

२- कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते ।

कुवलयानन्द , श्लोक सं० - १२०

३- एतदेव विबुधैरपि सेन्द्रैर्वर्णनीयमनवद्यमुदारम् ।
तावकं कमलयोनिसभायामप्यवाप्स्यति वरां वरिवस्याम् ।।

श्रीश० दि० , ६-४६

यहाँ " विबुधैरपि " और " कमलयोनिसभायामपि " पदों में प्रयुक्त " अपि " पद यह द्योतित करता है कि जब देवताओं इन्द्र आदि के द्वारा और ब्रह्मा की सभा में यह (भाष्य) दुर्लभ गौरव को प्राप्त कर लेगा तो मनुष्यों के बीच सुलभ गौरव को क्यों नहीं प्राप्त करेगा अर्थात् अनिवार्यत: ही प्राप्त करेगा। इस प्रकार यहाँ " देवतापरक वाक्यार्थ से " मनुष्यपरक अर्थान्तर को प्रतीति होने के कारण " कैमुत्यन्यायेन " काव्यार्थापत्ति अलङ्०कार है।

काव्यार्थापत्ति अलङ्०कार का एक दूसरा उदाहरण शङ्०कराचार्य की वाणी प्रशंसा में द्रष्टव्य है - " कवियों में श्रेष्ठ शङ्०कराचार्य की वाणी जब चतुरता से सेवित थी तब शेषनाग और कपिल-कणाद की वाणी की कोई गिनती नहीं थी। अन्य वाणियों की क्या बात है?[1]

यहाँ पर " का कथा " पदों से " काव्यार्थापत्ति " अलङ्०कार की प्रतीति हो रही है। शेषनाग आदि धुरन्धर विद्वानों की वाणी की नगण्यता यह सिद्ध कर रही है कि सामान्य पुरुषों की वाणी अवश्य ही नगण्य हो गयी होगी।

३८- <u>गूढ़ोक्ति</u>

गूढ़ोक्ति अलङ्०कार के उद्भावक आचार्य अप्पयदीक्षित हैं। इनके अनुसार जहाँ अन्य उद्देश्य से कही गयी बात का अन्य अर्थ निकले वहाँ गूढ़ोक्ति अलङ्०कार होता है।[2]

१- न च शेषभवी न कापिली गणिता काणभुजी न गीरपि।
   भणितिष्वितरासु का कथा कविराजो गिरि चातुरीजुषि ।।
   श्रीश० दि० , ४-७४

   नोट - धनपतिसूरिकृत टीका में द्वितीय पंक्ति के प्रारम्भ में स्थित " भणाति " पद के स्थान पर " फणाति " पाठ मिलता है।

२- गूढ़ोक्तिरन्योद्देश्यं चेद् यदन्यं प्रतिकथ्यते। कुवलानन्द , श्लोक सं० -१५४

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में राजा सुधन्वा के प्रति कुमारिलभट्ट की उक्ति में गूढ़ोक्ति अलङ्कार द्रष्टव्य है -

" हे कोकिल ! मलिन, काले, नीच और कानों को कष्ट पहुँचाने वाले ध्वनिकर्त्ता कौओं से यदि तुम्हारा सम्बन्ध नहीं होता तो तुम अवश्य श्लाघनीय होते ।"[१]

यहाँ (एक उद्देश्य) कोकिल को लक्ष्य करके कही गयी बात से एक दूसरा अर्थ " राजापरक " इस प्रकार प्राप्त हो रहा है - मलिन चरित्र, श्रुतिदूषक शून्यवादी बौद्धों से यदि तुम्हारा (राजा का) सम्पर्क न होता तो तुम (राजा) अवश्य श्लाघनीय होते । अतः यहाँ गूढ़ोक्ति अलङ्कार का वैचित्र्य है ।

३८- निष्कर्ष

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में अलङ्कारों की स्थिति देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसमें अयासजन्य अलङ्कारों का प्रयोग नहीं हुआ है । अनुप्रास, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा जैसे सुबोध और स्वतः स्फुरित अलङ्कारों की भरमार है । यह काव्य शङ्कराचार्य के उत्कृष्ट चरित्र का वर्णन करता है इसलिये इनकी प्रशंसा के लिये सटीक व्यतिरेक और प्रतीप अलङ्कारों का उपर्युक्त अनुप्रास, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों की तुलना में कम तथा अन्य (अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग के अतिरिक्त) अलङ्कारों की तुलना में अधिक प्रयोग हुआ है । अर्थान्तरन्यास प्रतीप और काव्यलिङ्ग अलङ्कारों के कई स्थल प्राप्त होते हैं । अन्य अलङ्कारों के मात्र एक या दो स्थल प्राप्त होते हैं ।

१- मलिनैश्चेन्न सङ्गस्ते नीचैः काककुलैः पिक ।
श्रुतिदूषकनिर्ह्लादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः ।। श्रीश० दि०, १-९५

अलङ्कारों की दृष्टि से चतुर्थ सर्ग सर्वोत्तम और प्रशंसनीय कहा जा सकता है। इस सर्ग के प्रत्येक श्लोक में कम से कम एक अलङ्कार तो अनिवार्यतः विद्यमान है, अथ च कहीं-कहीं तीन या चार अलङ्कारों के भी निरपेक्ष और सापेक्ष स्थितिजन्य चमत्कार का दर्शन होता है।

अ ष्ट म अ ध्या य

श्री श ङ्क र दि ग्वि ज य के का व्य गु णों और का व्य दो षों का वि वे च न

प्रथम खण्ड

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में काव्यगुण

१- अवतारणा

काव्यगुण वस्तुतः रस के ही धर्म हैं।[1] कभी-कभी उन्हें उपचार से रस के व्यञ्जक शब्द और अर्थ का धर्म भी कह दिया जाता है[2] - ऐसी मान्यता आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादियों की है। इनके पूर्व भी काव्यगुणों का व्यापक विवेचन शास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होता है परन्तु कहीं पर इन्हें रस का धर्म स्वीकार नहीं किया गया है अपितु इन्हें सङ्घटनाश्रित माना गया है। इसी सङ्घटना को दृष्टि में रखकर कोमल एवं कठोर वर्णविन्यास तथा समस्त और असमस्त पदों के आधार पर इनका विभाजन भी दृष्टिगोचर होता है। इनकी संख्या के विषय में भी मतवैभिन्न्य देखा जा सकता है। भरत[3] ने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य

१- अ- तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
 ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्।
 ध्वन्यालोक, २-६ और उसकी वृत्ति, पृ० सं० २१६-२१७।

 ब- ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
 उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का०प्र०, सूत्र सं० ८६

 स- रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
 गुणाः - - - - - - - - - - - - - - - ॥ सा० द०, ८-१

२- गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता॥ का०प्र०, सू०सं०- ६४
 एवां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः। सा० द०, ८-६

३- श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
 अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥
 ना० शा०, १६-६६

ओज , सुकुमारता , अर्थव्यक्ति , उदारता और कान्ति नामक दस गुणों को मान्यता दी है । इन्हीं का क्मोवेश अनुकरण दण्डी[1] ने किया है और इन्होंने भी गुणों की संख्या १० ही मानी है भले ही उनके स्वरूप में भरत से मतभेद हो । इन गुणों को उन्होंने वैदर्भमार्ग का प्राण भी कहा है ।

जहाँ भरत और दण्डी ने १० गुणों के अस्तित्व को स्वीकार किया है । वहाँ वामन[2] ने इनकी संख्या २० कर दी है , जिसमें १० शब्दगुण और १० अर्थगुण हैं । भोज और विद्यानाथ ने इनकी संख्या में ४ अतिरिक्त गुणों को जोड़कर २४ या ४२ काव्यगुणों की कल्पना की है । जयदेव ने ८ गुणों की स्वतन्त्र सत्ता मानी है अन्य की गौण । कुन्तक ने ४ काव्यगुणों पर प्रकाश डाला है तो रुद्रट ने गुण का साक्षात् लक्षण न देकर सुन्दर वाक्य के कुछ लक्षण दिये हैं जिन्हें टीकाकार नेमिसाधु ने वाक्यगुण मान लिया है ।

१- श्लेष: प्रसाद: समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज: कान्तिसमाधय: ।।
इति वैदर्भमार्गस्यप्राणा दशगुणा: स्मृता: ।

काव्यादर्श , १-४१ , ४२

२- एवं गुणालङ्कारााणां भेदं दर्शयित्वा शब्दगुणनिरूपणार्थमाह -
ओज:प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्यौ-
दारताऽर्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणा: ।

वामन - का० सू० , ३ , १ , ४

सम्प्रत्यर्थगुणविवेचनार्थमाह -
त स्वार्थगुणा: ।। ३ , २ , १
त स्वोज:प्रभृतयोऽर्थगुणा: ।।

वामन- का०सू० , ३, २, १ की वृत्ति , पृ०सं०-१०२ ।

आनन्दवर्धन ने काव्यगुणों के केवल तीन भेद माने हैं - माधुर्य , ओज और प्रसाद । इन्हीं के विचारों का अनुकरण मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है ।

आनन्दवर्धन ने गुणों को रसाश्रित माना है इसलिये इन्होंने इसका विभाजन भी सङ्घटना के आधार पर न करके चित्तवृत्ति की कसौटी पर कस कर किया है । इनके मत में अनियमित रूप से गुण शब्दसङ्घटनाश्रित रह सकते हैं परन्तु अनिवार्यत: नहीं[1] । उदाहरण के लिये शृङ्गार-रस में अल्पसमस्तसङ्घटना अपेक्षित होती है परन्तु इसके विपरीत कभी-कभी दीर्घसमस्त पदों से भी शृङ्गाररस की सुन्दर अभिव्यञ्जना होती देखी गयी है इसके लिये उन्होंने एक श्लोक भी उद्धृत किया है । इसी प्रकार रौद्र-रस में दीर्घसमस्तपदावली अपेक्षित होती है परन्तु अल्पसमस्तपदों से भी रौद्र रस की व्यञ्जना हो सकती है । इसका भी एक उदाहरण उन्होंने दिया है[2] । अत: दोनों स्थितियों में विपरीत शब्दसङ्घटना भी रसानुभूति में

- -

१- तस्मादनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित्क्षतिः ।
ध्वन्यालोक , ३-५ की वृत्ति , पृ०सं०-३४४

२- शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते रौद्रादिष्वसमासा चेति ।
ध्वन्यालोक, ३-५ की वृत्ति , पृ०सं०- ३३६

शृङ्गार के लिये उद्धृत दीर्घ समस्त पदों से युक्त श्लोक
अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्त्रलेखं ते ।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति ।।
ध्वन्यालोक , ३-५ की वृत्ति , पृ०सं०-३४०

रौद्र रस के लिये असमस्तपदावलि से अन्वित उद्धत श्लोक
यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः ।
ध्वन्यालोक , ३-५ की वृत्ति , पृ०सं०-३४० ।

किसी प्रकार की बाधा न पहुँचाने के कारण वस्तुत: गुण है न कि दोष , जब कि गुणों को सङ्घटनाश्रित मानने वाले लोगों के अनुसार यहाँ दोष होना चाहिए ।

आनन्दवर्धन से प्रभावित होकर मम्मट और विश्वनाथ ने भी चित्त-वृत्ति के आधार पर काव्यगुणों का वर्गीकरण किया है । आगे ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में प्रधानता क्रम से अभिव्यञ्जित गुणों का अध्ययन किया गया है ।

२- प्रसादगुण

क- प्रसादगुणकास्वरूप

काव्य में सभी रसों के प्रति जो समर्पकत्व (सम्यक् प्रकार से अर्पण कर्तृत्व) सभी रचनाओं में साधारण (सामान्य) रूप से अवस्थित होता है उसे प्रसाद गुण कहा जाता है ।[१] प्रसादगुण शब्द और अर्थ की निर्मलता है और यह सभी रसों और रचनाओं में सामान्य रूप से रहने वाला एवं मुख्य रूप से व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा से ही (उसके ही समर्पक रूप में) अवस्थित होता है ।[२]

१- समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेय: सर्वसाधारणक्रिय: ।।
ध्वन्यालोक , २-१०

२- प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयो: । स च सर्वरससाधारणो गुण: सर्वरचनासाधारणश्च व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्य: ।
ध्वन्यालोक , २-१० की वृत्ति , पृ०सं० - २२५

मम्मट के अनुसार सूखे इन्धन में अग्नि के समान अथवा स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जल के समान जो चित्त में सहसा व्याप्त हो जाता है, वह सर्वत्र (सभी रसों में) रहने वाला प्रसादगुण है।[1]

विश्वनाथ ने प्रसादगुण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि सहृदय के हृदय की यह (प्रसाद गुण) एक ऐसी निर्मलता है जो चित्त में शीघ्र ही उसी प्रकार व्याप्त हो जाती है जैसे - शुष्क काष्ठ में अग्नि।[2]

ख- प्रसादगुण की अभिव्यक्ति का क्षेत्र

प्रसादगुण की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ तीनों काव्यशास्त्री एकमत हैं। सब ने सहज अर्थ बोध के लिये प्रसादगुण की स्थिति सभी रसों में आवश्यक मानी है।

ग- प्रसादगुण के अभिव्यञ्जक शब्द

मम्मट के अनुसार जिस शब्द, समास या रचना के द्वारा श्रवणमात्र से ही शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाय

- -

१- शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ।।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।
का० प्र०, सू० सं० - ६३

२- चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।
सा० द०, ८-७, ८

वे सभी वर्ण , समास और रचनाएँ प्रसाद गुण के अभिव्यञ्जक हैं ।[1]

विश्वनाथ ने भी उन सभी शब्दों को जिनके श्रवणमात्र से ही अर्थ झलक उठते हैं , प्रसादगुण का व्यञ्जक माना है ।[2]

घ- " श्रीशङ्करदिग्विजय " में प्रसादगुण

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में तो प्रसादगुण की स्थिति सर्वत्र देखी जा सकती है । यहाँ प्रसादगुण के कुछ सुन्दर स्थलों का ही अध्ययन किया जा रहा है :

अ- शृङ्गाररस के प्रसङ्ग में प्रसादगुण

सा विश्वरूपं गुणिनं गुणज्ञा मनोभिरामं द्विजपुङ्गवेभ्यः ।
शुश्राव तां चापि स विश्वरूपस्तस्मात्तयोर्दर्शनलालसाऽभूत् ॥
अन्योन्यसन्दर्शनलालसौ तौ चिन्ताप्रकर्षादधिगम्यनिद्राम् ।
अवाप्य सन्दर्शनमाशणानि पुनः प्रबुद्धौ विरहाग्नितप्तौ ॥
श्रीश० दि० , ३-१७ , १८

उपर्युक्त शृङ्गार-रस के प्रकरण से उद्धृत श्लोकों का अर्थ अत्यन्त सरलता से सहृदय के चित्त में व्याप्त हो जाने के कारण प्रसादगुणाभिव्यञ्जक माना जा सकता है ।

- -

१- श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥
का० प्र० , सू० सं० - १००

२- स प्रसादः - - - - - - - - - - - - ।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥
सा० द० , ८-८

आ- करुणारस के प्रसङ्ग में प्रसादगुण

कथमेकतनूभवा त्वया रचिता जीवितुमुत्सहेऽबला ।
तनयैव शुचोऽच्छिदेहि किं प्रसूतायां मयि कः करिष्यति ।।
त्वमशेषविदप्यपास्य मां जरठां वत्स कथं गमिष्यसि ।
द्रवते हृदयं कथं न ते न कथङ्कारमुपैति वा दयाम् ।।

श्रीश० दि० , ५-५७ , ५८

यहाँ भी अर्थ सरलता से गम्य होने के कारण प्रसादगुण है ।

इ- शान्तरस के प्रसङ्ग में प्रसादगुण

कति नाम सुता न लालिताः कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि ।
क्व नु ते क्व च ताः क्व वा वयं भवसङ्गः खलु पान्थसङ्गमः ।।

श्रीश० दि० , ५-५३

गच्छन् वनानि सरितो नगराणि शैलान्
ग्रामान् जनानपि पशून् पथि सोऽप्यपश्यन् ।
नन्वैन्द्रजालिक इवाद्भुतमिन्द्रजालं
ब्रह्मैवमेव परिदर्शयतीति मेने ।।

श्रीश० दि० , ५-८७

भैक्ष्यमन्नमजिनं परिधानं रूक्षमेव नियमेन विधानम् ।
कर्मदासुवर शास्ति वटूनां शर्मदायिनिगमाप्तिपटूनाम् ।।

श्रीश० दि० , ५-१७

कर्म नैजमवहाय कुमार्गैः कुर्महेऽद्य विसुखुम्भिपुरोगैः ।
इच्छया सुखमास्य यथेतं गच्छ नाथमवधूय कथयेत्थम् ।।

श्रीश० दि० , ५-१८

प्रमतां भवबत्मीनि प्रमान्न हि किञ्चित् सुखमस्य लक्षये ।
तदवाप्य चतुर्थमाश्रमं प्रयतिष्ये भवबन्धमुक्तये ।।
श्रीश० दि० , ५-५४

दारग्रहोभवति तावदयं सुखाय
यावत्कृतोऽनुभवगोचरतां गत: स्यात् ।
पश्चाच्छनैर्विरसतामुपयाति सोऽयं
किं निह्नुषे त्वमनुभूतिपदं महात्मन् ।। श्रीश० दि० , २-१७

श्रीनैष्टिकाश्रममहं परिगृह्य यावज्जीवं वसामि तव पार्श्वगतश्चिरायु: ।
दण्डाजिनी सविनयो बुध शुश्रुवदग्नी वेदं पठन् पठितविस्मृतिहानिमिच्छन् ।।
श्रीश० दि० , २-१६

आशये कलुषिते सलिलानां मानसोत्कहृदया: कलहंसा: ।
कोऽन्यथा भवति जीवनलिप्सुनाऽऽश्रये भवति मानसचिन्ताम् ।।
श्रीश० दि० , ५-१३०

उपर्युक्त सभी उदाहरणों में अर्थ की विशदता विद्यमान होने के कारण प्रसादगुण के स्थल माने जा सकते हैं ।

ई- अन्य प्रसङ्गों में प्रसादगुण

इसके अतिरिक्त " श्रीशङ्करदिग्विजय " के अनेक अन्य श्लोकों में भी प्रसादगुण विद्यमान हैं - सम्पूर्ण द्वितीय , तृतीय सर्ग , चतुर्थ सर्ग में - १ से १८ तथा २१ से ३५ तक , ४६ से ५५ तक , ६२ से ६४ तक , ७१ , ७२ , ९८ , ९९ । पञ्चमसर्ग में १ से ८२ तक , ८६ , ८७ , ९० से १११ , ११८ से १७२ तक । षष्ठ सर्ग में १ से ९० और पूरा सप्तम सर्ग आदि प्रसाद गुण युक्त हैं ।

३- ओजोगुण

क- ओजोगुण का स्वरूप

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य में रहने वाले रौद्र आदि रस दीप्ति के कारण लक्षित होते हैं। इस दीप्ति के व्यञ्जक शब्द और अर्थ के आश्रित गुण ओजस् है।[१]

मम्मट ने वीररस में रहने वाली चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति को ओजस् गुण कहा है।[२]

विश्वनाथ ने चित्त के विस्तारस्वरूप वाली दीप्ति को ओजस् गुण कहा है।[३]

ख- ओजोगुण की अभिव्यक्ति का क्षेत्र

आनन्दवर्धन ने ओजोगुण की अभिव्यक्ति के क्षेत्र का क्रमिक विवरण नहीं प्रस्तुत किया है अपितु " रौद्रादयो " पद का उल्लेख किया है। " आदि " पद से अभिनवगुप्त ने " वीर " और " अद्भुत " रसों को भी ग्रहण किया है।[४] अतः स्पष्ट है कि ओजोगुण रौद्र, वीर और अद्भुत तीनों रसों में अन्वित रहता है।

- -

१- रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः।
तद्व्यक्तिहेतु शब्दार्थावाश्रित्यौजो व्यवस्थितम् ॥

ध्वन्यालोक, २-६

२- दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति।

का० प्र०, सूत्र सं०- ६१

३- ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥

सा० द०, ८-४

४- आदि शब्दः प्रकारे। तेन वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्।

ध्वन्यालोक-द्वितियउद्योत - नवम् कारिका का लोचन -पृ०सं० २१६

मम्मट ने यहाँ भी स्वतन्त्र चिन्तन किया है । इन्होंने वीर-रस से बीभत्स-रस में और बीभत्स-रस से रौद्र-रस में क्रमश: अधिक उत्कृष्ट रूप में ओजोगुण की स्थिति मानी है ।[1]

विश्वनाथ[2] ने मम्मट की मान्यता को स्वीकार किया है ।

ग- ओजोगुण के व्यञ्जक शब्द

कवर्ग , चवर्ग , तवर्ग और पवर्ग चारों वर्गों के आद्य अर्थात् प्रथम और तृतीय वर्णों के साथ उनके बाद के वर्णों का तथा रेफ के साथ योग तुल्यवर्णों का योग , " ट " आदि वर्ण तथा श-ष वर्ण , दीर्घ समास एवं उद्धत रचना ओजोगुण के व्यञ्जक होते हैं ।[3] इस विषय में मम्मट और विश्वनाथ[4] एक मत हैं ।

घ- " श्रीशङ्करदिग्विजय " में ओजोगुण

कवि अपने आराध्यदेव का जिस रूप में वर्णन करना चाहता है वैसी ही पदावली का प्रयोग वह अपने काव्य में करता है - ऐसी धारणा स्तोत्रसाहित्य के विषय में प्रचलित है । यदि वह अपने आराध्यदेव के कोमल रूप को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहता

- -

१- बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ।
का० प्र० , सू० सं० - ९२

२- वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।
सा० द० , ८-५

३- योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो: रेण तुल्ययो: ।
टादि: शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ।।
का० प्र० , सू० सं० - ९९

४- द्रष्टव्य - सा० द० , ८-५ , ६ ।

है तो वह कोमल पदावली अर्थात् माधुर्यगुण का सन्निवेश करता है और यदि वह उनके ओजस्वीरूप का वर्णन करना चाहता है तो ओजपूर्ण पदावली अर्थात् ओजोगुण का सन्निवेश करता है। इस परम्परा का अनुकरण " श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य के स्तवन के अवसर पर देखा जा सकता है। कवि को अपने आराध्य देव शङ्कराचार्य का ओजस्वीरूप ही अधिक प्रिय था अत: इसके वर्णन में उन्होंने ओजोगुणमयी पदावली का प्रयोग किया है। " श्रीशङ्करदिग्विजय " के अधिकांश वर्ण्य विषय का पर्यवसान स्तुति में ही दिखायी पड़ता है। कहीं पर शङ्कराचार्य के सर्वातिशायी यश की प्रशंसा की गयी है तो कहीं इनकी वाणी की मधुरिमा का गुणगान किया गया है कहीं इनकी सुक्तियों का माहात्म्य वर्णित है तो कहीं इनके वीरत्व एवं कृतित्व की सराहना की गयी है, कहीं इनके शारीरिक सौन्दर्य की प्रशंसा की गयी है तो कहीं अपने रक्षा की कामना इनसे की गयी है। नि:सन्देह उपर्युक्त सभी वर्णनों के मूल में स्तुति ही दिखायी पड़ती है। इन सभी वर्णन प्रसङ्गों में ओजोगुण की स्थिति का प्रचुरता से दर्शन होता है। आचार्यों ने वीररस में ओजोगुण की स्थिति को मान्यता प्रदान की है। चूंकि " श्रीशङ्करदिग्विजय " ग्रन्थ शङ्कराचार्य की पाण्डित्यवीरता (जो कि आचार्य जगन्नाथ के मत में वीर-रस का ही एक प्रभेद है) को प्रमुखता से वर्णित करता है इसलिये भी इस ग्रन्थ में ओजोगुणमयी श्लोकों की बहुलता है।

विवेच्य ग्रन्थ का अङ्गीरस शान्त है। आचार्यों ने शान्त-रस में माधुर्य और ओजस् दोनों गुणों की स्थिति स्वीकार की है। जब शान्त रस में गुरु आदि के मधुर उपदेश या कोमलभावाश्रित वस्तुएं विभावादि

बनती हैं तो वहाँ माधुर्यगुण का सन्निवेश तथा जब शान्त-रस में सांसारिक कटुता से उत्पन्न अनुभव विभावादि बनते हैं तो वहाँ ओजोगुण की स्थिति होती है । " श्रीशङ्कर दिग्विजय " में अभिव्यञ्जित शान्त-रस का विभाव सांसारिक कटुता के अनुभव से उत्पन्न होने के कारण उनमें भी ओजोगुण की स्थिति देखी जा सकती है । इसके अतिरिक्त कई अन्य स्थलों पर (शान्तरस के प्रसङ्ग में) माधुर्यगुण की भी स्थिति दिखलायी पड़ती है । आगे " श्रीशङ्करदिग्विजय " के ओजोगुणमय स्थल का अध्ययन किया जा रहा है :

अ- शङ्कराचार्य के ओजस्वीरूपवर्णन में ओजोगुण

तत्वज्ञानफले ग्रहिर्धिनतरव्यामोहक्षुष्टिंध्यो
निःशेषाव्यसनोदरम्भरिरघप्राग्भारकूलंकषः ।
लुण्टाको मदमत्सरादिचित्तैस्तापत्रयारुन्तुदः
पादः स्यादभितम्पचः करुणाया भद्रङ्करः शाङ्करः ।।

श्रीश० दि० , ४-४०

यहाँ " ग्रहिर्धिन " में ऊपर नीचे रेफ , ण्ड , श , ष् , ण्ट , त्तृ और दीर्घसमासमयी रचना चित्त को विस्तृत कर रही है ।

पदाघातस्फोटव्रणकिणितकातीन्तिकभुवं
प्रयाणव्याघातप्रणतविमतद्रोहविरुवम् ।
परं ब्रह्माशी भवति तव स्वाङस्य सुपदं
गलापस्मारार्तिञ्जगति महतोऽस्यापि तनुते ।।

श्रीश० दि० , ४-४१

यहाँ ट् , ऊपर नीचे रेफ , प्रथम दो पंक्तियों में दीर्घसमास होने के कारण ओजोगुण विद्यमान है ।

दुर्वारप्रतिपक्षदूषणसमुन्मेषाद्विते कल्पने
सेतोरप्यनघस्य तापसकुलैणाङ्कस्य लङ्कारय: ।
जपन्नानतिकायविभ्रममुष: संसारिशाखामृगान्
पुष्णान्त्यच्छपयोब्धिवीचिवदलङ्कारा: कटाक्षाङ्कुरा: ।।

श्रीश० दि० , ४-५६

यहाँ पर भी रेफ ष् , क्ष् , न्न् तुल्य वर्ण , श्र , ष्ण् , च्छ , ब्ध और दीर्घ समास का प्रयोग होने से ओजोगुण की व्यञ्जना हो रही है ।

नि:शङ्कक्षतिरूक्षकण्टककुलं मीनाङ्कदावानल-
ज्वालासङ्कुलमार्तिपङ्क्तरं व्यध्वं धृतिध्वंसिनम् ।
संसाराकृतिमामयच्छलचलद्दुर्वारदुर्वारणं
मुष्णान्ति श्रममाश्रिता नवसुधावृष्टायिता दृष्टय: ।।

श्रीश० दि० , ४-५७

यहाँ श्र , क्ष् , द , च्छ , द्द , ष्ण् , ष्ट और दीर्घ समास का प्रयोग हुआ है ।

जाटाटङ्कजटाकुटीरविहरन्नैलिम्पकल्लोलिनी-
क्षोणीशप्रियकृन्नवावतरणावष्टम्भशुम्भच्छिद: ।
गर्जन्तोऽवतरन्ति शङ्करगुरुक्षोणीधरेन्द्रोदराद्
वाणीनिर्झरिणीझरा: क्व नु भयं दुर्मेधदुर्मेदस: ।।

श्रीश० दि० , ४-७६

यहाँ दीर्घसमास ट् का अनेक बार प्रयोग , न्न् , श्र , ष्ट , च्छ , का प्रयोग, रेफ का प्रयोग होने के कारण ओजोगुण की स्थिति है ।

नृत्यद्भूतेशवल्गन्मुकुटतटरटत्स्वर्धुनीस्पर्धिनीभि-
र्वाग्भिर्निर्भिन्नकूलोच्छलदमृतझर:सारिणीधोरणीभि: ।
उद्वेलद्वैतवादिस्वमतपरिणताच्छु० क्रियाकुंठ० क्रियाभि -
र्माति श्रीशङ्करार्य: सततमुपनिषद्वाहिनीगाहिनीभि: ।।

श्रीश० दि० , ४-६६

श , द , ऊपर तथा नीचे अलग-अलग रेफ , च्छ , द्व और दीर्घ समास युक्त पदावली के कारण यहाँ ओजोगुण की स्थिति है ।

सोत्कण्ठाकुण्ठकण्ठीरवनखरवरक्षुण्णमत्तेभकुम्भ -
प्रत्यग्रोन्मुक्त मुक्तामणिगणसुषमाबद्धदोर्युद्धलीला ।
मन्थाद्रिक्षुब्धदुग्धार्णवनिकटसमुत्लोलकल्लोलमैत्री -
पात्रीभूता प्रभूता जयति यतिपते: कीर्तिमाला विशाला ।।

श्रीश० दि० , ४-१०३

ष्ठ का अनेक बार प्रयोग , ण्ण , क्ष , द्ध , द और दीर्घसमास का प्रयोग यहाँ हुआ है । अत: यहाँ ओजोगुण है ।

दुर्वाराखर्वगर्वाहितबुधजनतातूलवातूलवेगा
निर्बाधागाधबोधामृतकिरणसमुन्मेषदुग्धाम्बुराशि: ।
निष्प्रत्यूहं प्रसर्पद्भवदवदहनोद्भूतसन्तापमेघो
जागर्ति स्फीतकीर्तिर्जगति यतिपति: शङ्कराचार्यवर्य: ।।

श्रीश० दि० , ४-१०५

यह अनेक बार ऊपर रेफ , ष , श , दीर्घ समास और महाप्राण वर्णों से युक्त उद्धत रचना है । अत: यहाँ भी ओजगुण की अभिव्यक्ति हो रही है ।

वन्ध्याक्षुनुखरीविषाणसदृशद्रुद्रिक्तीन्द्रदामा -
शौर्यौदार्यवयादिवर्णनकलादुर्वासनावासिताम् ।
मद्वाणीमधिवासयामि यमिनस्त्रैलोक्यरङ्गस्थली -
नृत्यत्कीर्तिनटीपटीरपटलीचूर्णैर्विकीर्णैः दिशौ ।।

श्रीश० दि० , १-८

यहाँ पर भी दीर्घ समास , क्ष् , श्र , द्र और ऊपर नीचे रेफ का प्रयोग होने के कारण ओजोगुण की स्थिति है ।

अस्मज्जिह्वाग्रसिंहासनमुपनयतु स्वौक्तिधारामुदारा -
मद्वैताचार्यपादस्तुतिकृतसुकृतौदारता शारदाम्बा ।
नृत्यन्मृत्युञ्जयोच्चैर्मुकुटतटस्फुटीनिःप्रवत्स्वःप्रवन्ती -
कल्लोलोद्वेलकोलाहलमदलहरीखण्डपाण्डित्यकृपाम् ।।

श्रीश० दि० , १-१४

इस श्लोक में दीर्घ समास के अतिरिक्त तुल्य वर्णों का प्रयोग ऊपर नीचे रेफ , टकार का प्रयोग होने के कारण ओजोगुण की स्थिति है ।

आ- <u>रौद्र और वीर रस के प्रसङ्ग में ओजोगुण की स्थिति</u>

सटाछटास्फोटितमेघसङ्घस्तीव्रारवत्रासितभूतसङ्घः ।
संवेगसम्मूर्च्छितलोकसङ्घः किमेतदित्याकुलदेवसङ्घः ।।

श्रीश० दि० , ११-४०

यहाँ ट् , त्र और दीर्घ समास युक्त रचना होने के कारण यहाँ ओजगुण की स्थिति है ।

भ्राम्यत्समुद्रं समुद्धरौद्रं रटन्निशाटं स्फुटदद्रिकूटम् ।
ज्वलद्दिगन्तं प्रचलद्धरान्तं प्रभ्रश्यदर्कं चलदन्तरिक्षम् ।।
जवादभिद्रुत्य शितस्वरूपैर्दैत्येश्वरस्यैव पुरा नखाग्रैः ।
चिक्षेप त्रिशूलस्य स तस्य वक्षो ददारविक्षिप्तासुरारिपक्षः ।।
तदाङ्गमत्युग्रनखायुधाग्र्यो दंष्ट्रान्तरप्रोतदुरीहदैत्यः ।
निन्ये तदानीं नृहरिर्विदीर्णपुष्पट्टनाद्गावलिकमट्टहासम् ।।

श्रीश० दि० , ११-४१ , ४२ , ४३

द , ट्ट , द्द , द्व , ग्र् , श्र , ष् , नीचे ऊपर रेफ और दीर्घ समास के साथ-साथ अल्पसमास युक्त पदों से भी ओजोगुण की अभिव्यक्ति हो रही है ।

छ- बीभत्सरस के प्रसङ्ग में ओजोगुण

पितृकाननभस्मनाऽनुलिप्तः करसम्प्राप्तकरोटिराचशूलः ।
सहितो बहुभिः स्वतुल्यवेषैः स इति स्माऽऽह महामनाः शर्वः ।।

श्रीश० दि० , १५-१२

नरशीर्षकुशेशयैरखण्डा रुधिराक्तैर्मधुना च भैरवार्चाम् ।
उमया स्मया सरोरुहाक्ष्या क्षमाश्लिष्टवपुर्दं प्रयायात् ।।

श्रीश० दि० , १५-१४

द , द्र , श्र , ष् , ऊपर रेफ , न्द और दीर्घसमासमयी रचना ओजोगुण की प्रतीति करा रही है ।

६- शान्तरस के प्रसङ्ग में ओजोगुण

सौरं धाम सुधामरीचिनगरं पौरन्दरं मन्दिरं
कौबेरं शिबिरं हुताशनपुरं सामीरसद्मोत्तरम् ।
वैधं चाऽऽवसथं त्वदीयकपिताऽतिश्रद्धासमिद्धात्मन:
शुद्धाद्वैतविदो न दोग्धि विरतिश्रीधातुकं कौतुकम् ।

श्रीश० दि० , ६-६

यहाँ श् , द्ध् वर्णों का अनेक बार प्रयोग होने कारण ओजोगुण है ।

न भौमा रामाद्या: क्षणमविषवल्लीफलसमा:
समारम्भन्ते न: किमपि कुतुकं जातु विषया: ।
न गण्यं न: पुण्यं रुचिरतररम्भाकुचतटी -
परीरम्भारम्भोज्ज्वलमपि च पौरन्दरपदम् ।।

श्रीश० दि० , ६-१०

यहाँ भ् का अनेक बार प्रयोग और ट , ज्ज् वर्णों का प्रयोग हुआ है ।

प्रबलानिलवेगवेल्लितध्वजचीनांशुककोटिचञ्चले ।
अपि मूढमति: कलेवरे कुरुते क: स्थिरबुद्धिमम्बिके ।।

श्रीश० दि० , ५-५२

यहाँ श् , ट , द्ध और दीर्घसमास होने के कारण ओजोगुण की स्थिति है ।

आयासस्य नवाङ्कुरं घनमनस्तापस्य बीजं निजं
क्लेशानामपि पूर्वरङ्गममलघुप्रस्तावनाडिण्डिमम् ।
दोषाणामनृतस्य कार्मणमसच्चिन्तालतानिष्कुटं
देहादौ मुनिशेखरोक्तिरतुलाऽहङ्कारमुत्कृन्तति ।।

श्रीश० दि० , ४-८५

यहाँ पर भी श , ष् , ट वर्णों और दीर्घसमास का प्रयोग हुआ है ।

कामं वस्तुविचारतोऽच्छिनदयं पारुष्यमिक्षाकुधः
शान्त्या दैन्यपरिग्रहानृतकथालोभांस्तु सन्तोषतः ।
मात्सर्यं त्वनसूयया मदमहामानौ चिरम्भाक्ति -
स्वान्योत्कर्षगुणेन तृष्णिगुणातस्तृष्णां पिशाचीमपि ।।

श्रीश० दि० , ४-९५

यहाँ ष् का अनेक बार प्रयोग और कुछ के अतिरिक्त दीर्घ समस्त पदों के प्रयोग ओजोगुण की प्रतीति करा रहे हैं ।

इसके अतिरिक्त इन श्लोकों में भी ओजोगुण की स्थिति देखी जा सकती है ।

वादिव्रातगजेन्द्रदुर्मदघटादुर्गर्वसङ्कर्षण -
श्रीमच्छङ्करदेशिकेन्द्रमृगराडायाति सर्वार्थवित् ।
दूरं गच्छत वादिदुःशठगजाः संन्यासदंष्ट्रायुधो
वेदान्तोरुवनाश्रयस्तदपरं हैतं वनं भक्षति ।।

श्रीश० दि० , १६-६०

करटतटान्तवान्तमदसौरभसारभर -
स्खलदलिसंभ्रमत्कलभकुम्भविजृम्भिबलः ।
हरिरिव जम्बुकानमददन्तगजान् कुजना -
नपि खलु नादिगोचरयतीह यतिक्षितिकान् ॥
श्रीशं० दि० , १६-६१

शान्तिर्दान्तिविरागता ह्युपरतिः क्षान्तिः परैकाग्रता
श्रद्धेति प्रथिताभिरेधिततनौ षड्भवकन्यामुभिः ।
भिदुराणिफ्तौ पिचण्डिलतरीण्वण्डातिकण्डूज्वलत्
पाखण्डासुरखण्डनैकरसिके बाधा बुधानां कुतः ॥
श्रीशं० दि० , १५-१६६

उच्चण्डे पणाबन्धबन्धुरतरे वाचंयमक्ष्मापतेः
पूर्वं मण्डनखण्डने समुदभूद्यो डिण्डिमाडम्बरः ।
जाताः शब्दपरम्परास्तत इमाः पाखण्डदुर्वादिना -
मपमौऽकटाटवीषु दधति दावानलज्वालताम् ॥
श्रीशं० दि० , १५-१६८

जयति स्मरारिरुग्रप्रमामदकुण्ठीकरणक्रियाचणम् ।
द्विजराज करोपलालितं परगर्वहारिणः ॥
श्रीशं० दि० , ४-३६

प्राप्तस्याभ्युदयं नवं कलयतः सारस्वतोज्जृम्भणं
स्वालोकेन विधूतविश्वतिमिरस्याऽऽसन्नतारस्य च ।
तापं नस्त्वरितं क्षिपन्ति धनतापन्नं प्रसन्ना मुने -
राह्लादं च कलाधरस्य मधुराः कुर्वन्ति पादक्रमाः ॥
श्रीशं० दि० , ४-४२

४- माधुर्यगुण

क- माधुर्यगुण का स्वरूप

आनन्दवर्धन ने शृङ्गाररस को अन्य रसों की अपेक्षा मधुर अतएव आह्लादस्वरूप माना है। शृङ्गाररसमय काव्य में आश्रित गुण को माधुर्य कहा है।[1]

मम्मट ने माधुर्यगुण को शृङ्गार में रहने वाला आह्लादस्वरूप और चित्त की द्रुति के कारण के रूप में स्वीकार किया है।[2]

विश्वनाथ ने माधुर्यगुण के आह्लादकत्व को तो परम्परानुसार ही स्वीकार किया है परन्तु इसे चित्तवृत्तियों का कारण नहीं माना है। इसे चित्तवृत्तिस्वरूप माना है। अतः चित्त के द्रवीभाव को माधुर्यगुण कहा है।[3]

आचार्य मम्मट आदि और विश्वनाथ के गुणस्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण का मुख्य कारण उनके काव्यस्वरूपविषयक मान्यता का पृथक्-पृथक् होना है। मम्मट ने शब्दार्थ को काव्य माना है इस कारण इन्हीं में माधुर्य आदि आस्वादविशेष के अभिव्यञ्जन की क्षमता मानना भी उन्हें अभीष्ट हुआ।

- -

१- शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥

ध्वन्यालोक, २-७

२- आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।

का० प्र०, सू०सं० - ८६

३- चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।

सा० द०, ८-२।

विश्वनाथ ने " रसात्मकवाक्य " को काव्य माना है अत: इन्हें माधुर्यगुण , आस्वाद और चित्त के द्रवीभाव को एक ही आनन्दानुभव मानना अभीष्ट हुआ । मम्मट और विश्वनाथ के गुण स्वरूप का मत वैभिन्न्य माधुर्य के समान ओजस् और प्रसाद में भी विद्यमान है ।

ख- माधुर्यगुण की अभिव्यक्ति का क्षेत्र

आनन्दवर्धन ने गुणों की अभिव्यक्ति के क्षेत्र का स्पष्टीकरण करते हुए माधुर्यगुण के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया है - माधुर्यगुण सम्भोगशृङ्गार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृङ्गार में और विप्रलम्भशृङ्गार की भी अपेक्षा करुण रस में उत्तरोत्तर प्रकृष्ट रूप में रहता है ।[1]

इस विषय में मम्मट का मत भिन्न है इन्होंने सम्भोगशृङ्गार की अपेक्षा करुणरस में , करुणरस की अपेक्षा विप्रलम्भशृङ्गार रस में तथा विप्रलम्भशृङ्गार की भी अपेक्षा शान्तरस में माधुर्यगुण को अधिक चमत्कारजनक माना है ।[2]

विश्वनाथ माधुर्यगुण की अभिव्यक्ति के क्षेत्रविषयक मान्यता में मम्मट के अनुयायी हैं । इन्होंने भी क्रम से सम्भोगशृङ्गार, करुण , विप्रलम्भ और शान्त में उत्तरोत्तर अधिक उत्कृष्ट रूप में माधुर्यगुण की स्थिति मानी है ।[3]

१- शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मन: ।।
ध्वन्यालोक , २-८

२- करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।
का० प्र० , सूत्र सं० , ८-९०

३- सम्भोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ।।
सा० द० , ८-२ .

ग- माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक शब्द

इस विषय में मम्मट और विश्वनाथ के विचार समान हैं । दोनों के मतानुसार अपने सिर पर स्थित अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्णों से युक्त टवर्ग को छोड़कर शेष स्पर्शवर्ण (क से म पर्यन्त) , ह्रस्व स्वर सहित रकार तथा णकार और समासरहित या स्वल्प समास वाली रचना माधुर्यगुण के व्यञ्जक होते हैं[1]।

घ- " श्रीशङ्करदिग्विजय " में माधुर्यगुण

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में माधुर्य गुण की स्थिति लगभग नगण्य है । माधुर्यगुण की अभिव्यक्ति के सर्वमान्य क्षेत्र शृङ्गार आदि रस में भी इस ग्रन्थ में माधुर्यगुण की पूर्णतया विद्यमानता नहीं है अपितु अन्य गुणों की सहस्थिति भी है । तथापि माधुर्यगुण के कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं । इन स्थलों में एकमात्र माधुर्यगुण की स्थिति नहीं कही जा सकती । इनमें ओजोगुण और प्रसादगुण भी विद्यमान हैं परन्तु प्राधान्यव्यपदेशेन इन्हें माधुर्यगुण का ही उदाहरण मान लिया गया है ।

अपाङ्गैरुत्तुङ्गैरमृतभररङ्गैः परगुरो
श्रुत्वा दूनं दीनं कलय दयया मामविकृतम् ।
गुणं वा दोषं वा मम किमपि सञ्चिन्तयसि चेत्
तदा केव श्लाघा निरवधिकृपानीरनिधेरिति ।।

श्रीशं० दि० , ६-६

- -

१- अ- मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ।। का० प्र०,सू०सं०-६८

ब- सा० द० , ८-३ ।

यहाँ ङ्ग्,रकार,अल्पसमास और स्पर्श वर्णों के प्रयोग के कारण माधुर्यगुण है परन्तु रेखाङ्कित अंशों में ओजोगुण है ।

न बन्धद्वैरिञ्चं पदमपि भवेदादरपदं
वचो भव्यं नव्यं यदकृतकृती शङ्करगुरुः ।
चकोरालीचञ्चूपुटदलितपूर्णेन्दुविगलत्
सुधाधाराकारं तदिह वयमीक्षिमहि मुहुः ।।

श्रीश० दि० , ६-११

यहाँ चञ्च , रकार,लकार आदि वर्ण और अल्प समास युक्त रचना माधुर्यगुण की व्यञ्जना करा रही है परन्तु ' ट ' वर्ण का प्रयोग ओजगुणाभिव्यञ्जक है ।

उत्सङ्गेषु दिगङ्गना निदधति ताराः कराकर्षिका -
रागाद् यौवलम्ब्य चुम्बति वियद्गङ्गासमालिङ्गति ।
लोकालोकदरी प्रसीदति फणी शेषोऽस्य दत्ते रतिं
त्रैलोक्ये गुरुराजकीर्तिशशिनः सौन्दर्यमत्यद्भुतम् ।।

श्रीश० दि० , ४-१०१

यहाँ पर भी माधुर्य और ओज दोनों गुण विद्यमान हैं ।

द्वितीय खण्ड

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में काव्यदोष

१- अवतारणा

प्रायः सभी काव्य मनीषी ने दोषयुक्त काव्य को गर्हास्पद माना है । भाषा-भाव की दृष्टि से अति प्रशंसनीय काव्य भी एक दोष

के कारण सहृदयजनों के मन को उद्वेलित करने वाला हो सकता है । अत: इस दु:स्थिति से बचने के लिये साहित्य के आचार्यों ने समय-समय पर काव्य के अनेक तत्वों जैसे - रस , अलङ्कार , रीति , वृत्ति , गुण आदि के विवेचन के साथ-साथ काव्य में सम्भावित दोषों के प्रति भी संकेत किया है । यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार आचार्यों ने काव्य के स्वरूप और उसके अन्य तत्वों के विषय में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं उसी प्रकार काव्यगत दोष के विषय में भी उन्होंने भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन किया है ।

ध्वनिवाद की स्थापना के बाद से अधिकांश विद्वानों ने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से रसानुभूति में विघ्न डालने वाले तत्वों को ही काव्य का मुख्य दोष माना है । इसी दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में 'श्रीशङ्करदिग्विजय' के काव्य दोषों का अध्ययन किया गया है । स्थूल रूप से काव्य दोषों का पाँच श्रेणियों - पदगत , पदांशगत , वाक्यगत , अर्थगत और रसगत में तथा सूक्ष्म रूप से अनेक उपश्रेणियों में विभाजन साहित्य के लक्षण ग्रन्थों में प्राप्त होता है ।

२- 'श्रीशङ्करदिग्विजय' में प्रयुक्त काव्यदोष

काव्य एक भावनात्मक अभिव्यक्ति है । इस कारण भावप्रवाह में मग्नोन्मग्न होने वाले कवि माधवाचार्य और व्यासाचल ने भी वाक्यरचना में कहीं-कहीं ऐसे वर्णों या पदों का विन्यास कर दिया है जिसने उनके काव्य को दूषित कर दिया है । आगे इन दोषों का अध्ययन किया गया है :

क- श्रुतिकटु दोष

आचार्यों ने कठोर वर्णयुक्त अतएव दुष्ट रसापकर्षक पद के प्रयोग को " श्रुतिकटु " दोष कहा है[1] । " श्रीशङ्करदिग्विजय " में श्रुतिकटुदोष का उदाहरण शृङ्गाररस के प्रसङ्ग में प्राप्त होता है -

मधुमदकलं मन्दस्विन्नं मनोहरभाषणं
निभृतपुलकं सीत्काराढ्यं सरोरुहसौरभम् ।
दरमुकुलिताक्षीभिल्लक्ष्यं विलुप्तवरमन्मथं
प्रचरदलकं कान्तावक्त्रं निपीय कृती नृपः ।।

श्रीश० वि० , १०-१४

यहाँ " कान्तावक्त्रं " पद में स्थित " वक्त्रं " पद में कोमल वर्णन होने के कारण शृङ्गाररस का अपकर्षक है । इसके अतिरिक्त " दरमुकुलिताक्षीभिल्लक्ष्यं " पद में " क्ष् " और तुल्य वर्ण " ज्ज " , ' ढ् ' तथा परुष वर्णों का प्रयोग होने के कारण इन अंशों में पदांशगत श्रुतिकटु (दुःश्रवत्व) दोष विद्यमान है ।

इसी प्रकार -

विवृतजघनं सन्दष्टौष्ठं प्रणुन्नपयोधरं
प्रसृतभणितं प्राप्तोत्साहं रणन्मणिमेखलम् ।
निभृतकरणं नृत्यद्गात्रं गतेतरभावनं
प्रमुमरसुखं प्रादुर्भूतं किमप्यपदं गिराम् ।।

श्रीश० वि० , १०-१५

- -

१- श्रुतिकटुपरुषवर्णरूपं दुष्टम् ।

का० प्र० , पृ० सं० - २५७

इस उद्धरण में " संदष्टौष्ठं " आदि पद का प्रयोग शृङ्गाररसापकर्षक होने के कारण यह काव्य कथञ्चित् दुष्ट बन गया है ।

ख- प्रतिकूलवर्णता दोष

आचार्यों ने गुणानुसारी वर्णों के प्रयोग को रसानुभूति के लिये आवश्यक माना है परन्तु जिन स्थानों पर गुणानुसार वर्णों का प्रयोग नहीं होता वहाँ " प्रतिकूलवर्णता " दोष[1] माना है । " श्रीशङ्करदिग्विजय " में इस दोष के लिये यह स्थल द्रष्टव्य है -

अधरजसुधाश्लेषादुच्चं सुगन्धि मुखानिल-
व्यतिकरवशात् कामं कान्ताकराक्रमतिप्रियम् ।
मधुमधुकरं पायं पायं प्रिया: समपाययत्
कनकचषकैरिन्दुच्छायापरिष्कृतमादरात् ।।

श्रीश० दि० , १०-१३

यहाँ शृङ्गार रस के लिये अपेक्षित माधुर्यगुण और उसके अनुसार कोमल वर्णों का अप्रयोग , चतुर्थचरण के अतिरिक्त " अधरजसुधाश्लेषादुच्चं " और " कान्ताकराक्रमतिप्रियम् " में दीर्घसमास का प्रयोग इसे " प्रतिकूलवर्णता " वाक्यगत दोष से दूषित कर देता है ।

ग- नेयार्थत्व दोष

आचार्यों ने नेयार्थत्व दोष ऐसे पद के प्रयोग में माना है जो लक्ष्यार्थ का प्रकाशन बिना किसी रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कर रहा

- -

१- रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम् ।

का० प्र० , पृ० सं० - ३०१ ।

हो ।[1] " श्रीशङ्करदिग्विजय " में यह दोष अग्र उदाहरण में द्रष्टव्य है -

सौरं धाम सुधामरीचि नगरं पौरन्दरं मन्दिरं
कौबेरं शिबिरं हुताशनपुरं धामोरक्षोचरम् ।
वैधं चाऽऽवसथं त्वदीयफणितिश्रद्धाधमिद्धात्मन:
शुद्धाद्वैतविदो न दोग्धि विरतिश्रीधातुकं कौतुकम् ।।

श्रीश० दि० , ६-८

यहाँ " कौतुकम् न दोग्धि " वाक्य में प्रयुक्त " दोग्धि " पद का लक्षणा से " उत्पन्न होना " अर्थ विवक्षित है परन्तु यहाँ लक्षणा के लिये आवश्यक तत्व रूढ़ि अथवा प्रयोजन का अभाव है । अत: यहाँ " नेयार्थत्व " दोष स्पष्ट ही लक्षित हो रहा है ।

घ- अप्रयुक्तत्व दोष

किन्हीं पदों के अर्थ व्याकरणसम्मत होने पर भी कवि सम्प्रदाय में अप्रचलित रहते हैं ।[2] ऐसे पदों के प्रयोग काव्य में " अप्रयुक्तत्व " दोष की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं । " श्रीशङ्करदिग्विजय " में इस दोष का उदाहरण यह है -

दारिनीरनिधिवीचिसञ्चयान्प्राप्य तान्मुहु: ।
कटाक्षान्मुमुदे रश्मीनुदन्वानिन्दवानिव ।।

श्रीश० दि० , १-४६

- -

१- नेयार्थत्वं रूढ़िप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम् ।

सा० द० , पृ० सं० - ५६३

२- अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् ।

सा० द० , पृ० सं० ५६१

यहाँ " नीरनिधिः " पद का प्रयोग समुद्र के लिये किया गया है जो व्युत्पत्तिसम्मत अवश्य है परन्तु कवि सम्प्रदाय में इसका प्रयोग न होने के कारण यह " अप्रयुक्तत्व " दोष का स्थान है ।

छ०- अश्लीलत्व दोष

" अश्लीलत्व " दोष ऐसे पद के प्रयोग से उत्पन्न होता है जो व्रीडा , जुगुप्सा और अमङ्गल के अभिव्यञ्जक हों । उपर्युक्त तीनों का जनक होने के कारण यह तीन प्रकार का माना गया है ।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में इस दोष का दर्शन इस उदाहरण में होता है -

दुरापां श्लाघिवमति वदनं यन्नवसुधाम् ।
ततो मन्ये पद्मात् पदमधिकमिन्दोश्च वदनम् ।।

श्रीश० दि० , ४-३६

यहाँ " वमति " क्रिया का प्रयोग जुगुप्सा का जनक होने के कारण " अश्लीलत्व " दोष का जनक है । " वमति " क्रिया पद का वाच्यार्थ है कै या उल्टी करना परन्तु यहाँ " नवसुधाम् " कर्म के साथ " वमति " क्रियापद का प्रयोग दुष्ट है ।

ज- ग्राम्यत्व दोष

ग्राम्यत्व दोष का जनक लोक में प्रयुक्त अथ च सभ्य समाज में अप्रयुक्त पद होता है ।[2] " श्रीशङ्करदिग्विजय " में इस उदाहरण में प्रयुक्त " कटि " पद का प्रयोग सदोष है -

- -

१- अश्लीलत्वं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात्त्रिविधम् ।
सा० द० , पृ० सं० - ५६०

२- ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम् । का० प्र० , पृ० सं० - २७४

इति स्तुवंस्तापसराट्त्रिवेणीं शाट्या समाच्छाद्य कटिं कृपीटे ।
दोर्दण्डयुग्मोद्धृतवेणुदण्डोऽम्भस्यगाहिष्ट समग्नमना बभूव ।।

श्रीश० दि० , ७-७१

६- अलङ्कारमूलक दोष

अ- उपमामूलक दोष

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में उपमालङ्कार के इस उदाहरण में दोष का दर्शन होता है -

सा सभा वदनैस्तेषां रोषपाटलकान्तिभिः ।
बभौ बालातपाताम्रैः सरसीव सरोरुहैः ।।

श्रीश० दि० , १-६८

यहाँ सौन्दर्य और आह्लादकत्व के लिये प्रसिद्ध उपमान कमल से क्रोधयुक्तमुखों (जो कि विपरीत गुण वाले हैं) की तुलना अनुचित प्रतीत हो रही है । क्रोध प्रकट करने वाले मुख कदापि सुन्दर और प्रसन्नतादायक नहीं हो सकते ।

आ- यमकमूलक दोष

आचार्यों ने यमक अलङ्कार के सन्दर्भ में " त्रिपाद - निबन्धन " को दोष माना है । " श्रीशङ्करदिग्विजय " में एक स्थान पर यमक का " त्रिपादनिबन्धन " हुआ है ।

वाणीनिर्जितपन्नगेश्वरगुरुप्राकृतधा कृतधा
विप्राणां चरणं मुनेर्विरचितव्यापल्लवं पल्लवम् ।
धुन्वन्तं प्रभया निवारिततमाशङ्कापदं कामदं
रेजेऽन्तेवसतां समष्टिरसुहृत्त्याहितात्याहिता ॥

श्रीश० दि० , १४-१४५

यहाँ मात्र प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरणों में " यमक " अलङ्कार का सौन्दर्य है । तृतीय चरण में यमक अलङ्कार का सौन्दर्य नहीं है । इसे आचार्यों ने दोष माना है ।

तृतीय खण्ड

निष्कर्ष

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में प्रसाद गुण के पश्चात् ओजोगुण की ही प्रचुरता उपलब्ध होती है । इसका मुख्य कारण यह है कि इस महाकाव्य में शङ्कराचार्य के ओजस्वी रूप का प्रमुखता से वर्णन करना कवि को अभीष्ट था । ओजोगुणमयी रचना करने के आवेश में कवि ने माधुर्यगुण के स्थलों पर भी ओजोगुण के अभिव्यञ्जक वर्णों का न्यास कर दिया है । यही स्थल इस ग्रन्थ में मुख्यतया " काव्यदोष " के रूप में दृष्टिगत होते हैं ।

नवम अध्याय

श्रीशङ्करदिग्विजय के पात्रों का चरित्र-चित्रण

१- अवतारणा

कवि की रचना मानव अनुभूतियों का कलात्मक प्रस्तुतीकरण है। इन अनुभूतियों को ठीक उसी रूप में पाठक को प्रतीति कराने के लिये वह जिस माध्यम चुनाव करता है उसे साहित्यशास्त्र की भाषा में पात्र की संज्ञा दी गयी है। पात्रों के सुख-दुख की भावनाओं के साथ सामाजिकों के हृदय के साधारणीकरण के परिणामस्वरूप रस की निष्पत्ति होती है। अतः रसोद्बोध के लिये महाकाव्य आदि में पात्रों का विधान अत्यन्त आवश्यक होता है। पात्रों की कल्पना के अभाव में कवि कथानक का निर्माण ही नहीं कर सकता। इसलिये भी काव्य में पात्र महत्त्वपूर्ण होते हैं।

माधवाचार्य ने भी अपने जीवन सन्देश को सम्प्रेषित करने के लिये और रसानुभूति के अभिन्न अङ्ग के रूप में और कथानक की पूर्णता के दृष्टिकोण से आवश्यक अनेक पात्रों की कल्पना की है। 'श्रीशङ्करदिग्विजय' में नायक के शौर्य को उत्कृष्टतम रूप देने के लिये कवि ने नायक के अतिरिक्त अन्य प्रतिनायकों को भी उपस्थित किया है। नायक के ब्रह्मचारित्व के कारण कथानक में नायिका पात्र का विधान नहीं हुआ है। प्रतिनायिका और माँ के रूप में अवश्य स्त्री नारी पात्रों का परिचय प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य पुरुष पात्रों (जो प्रतिनायक आदि नहीं हैं) का चरित्र विकास कथानक में परिलक्षित होता है जैसे शङ्कराचार्य का शिष्यवर्ग, शङ्कराचार्य और उभयभारती के पिता आदि। आगे सभी पात्रों की क्रमशः समीक्षा की जा रही है :

२- पुरुषपात्र

क- नायक

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में जगद्गुरु शङ्कराचार्य का पावनचरित्र

वर्णित है । ये ही इस कृति के नायक हैं । इसका सङ्केत स्वयं कवि के शब्दों[1] में ही प्राप्त होता है ।

समय-समय पर आचार्यों ने नायक की विभिन्न कोटियों के स्वरूप पर अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं । सामान्यत: काव्य का नायक त्यागी , विनम्र , कृतज्ञ , प्रियम्वद , लोकानुरक्त , कुलीन , ऐश्वर्यवान् , रूपयौवनसम्पन्न , तेजस्वी, शीलवान् , वाग्पटु , शूर , दृढ़ , धार्मिक तथा शास्त्रज्ञाता होता है जो माग्य , बुद्धि , उत्साह , स्मृति , प्रज्ञा , कला तथा मान से युक्त होता है ।[2] इसके अतिरिक्त कथानक के अनुरूप नायक का वर्गीकरण करते हुए लक्षणाकारों ने उसकी विशेष स्थिति पर भी प्रकाश डाला है । यह वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है जैसे एक ओर नायक के सामान्य गुणों की पूर्णप्राप्ति , अंशत: प्राप्ति और न्यून प्राप्ति के आधार पर उसका उत्तम , मध्यम और अधम कोटि में विभाजन[3] तो दूसरी ओर नायक की मात्र शृङ्गारिक चेष्टाओं के आधार पर अनुकूल , शठ , दक्षिण आदि कोटि में विभाजन ।[4] एक अन्य दृष्टिकोण - रस के आधार पर

- -

१- नेता यत्रोल्लसति भगवत्पाद संज्ञो महेश: । श्रीश० दि० , १-१७

२- नेता विनीतोमधुरस्त्यागी दक्ष: प्रियम्वद: ।
रक्तलोक: शुचिर्वाग्मी रूढ़वंश: स्थिरोयुवा ।।
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामान समन्वित: ।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिक: ।। द० रू० , २-१, २

३- अ- नायकस्तत्र गुणत उत्तमो मध्यमोऽधम: । सरस्वती काण्ठमरण , ५-१०७
ब- ज्येष्ठो मध्य: कनिष्ठश्च त्रिधा नायक उच्यते । भावप्रकाशन, ४-१०७
स- ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता । द० रू० , २-४५

४- अ- अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्ट: प्रवर्तित: । अग्निपुराण,३३६ वाँ अध्याय-३४
ब- एवं स चतुर्धा स्यादनुकूलोदक्षिण: शठो धृष्ट: । रुद्रट-काव्यालङ्कार,२-६
स- शठो धृष्टोऽनुकूलश्च दक्षिणश्च प्रवृत्ति: । सरस्वतीकण्ठाभरण, ५-१०६
द- स दक्षिण: शठो धृष्ट: पूर्वां प्रत्यन्यया हृत: । द० रू० , २-६

नायक की श्रेणी निर्धारण का - दिखाई देता है । वीररस का नायक धीरोदात्त, रौद्ररस का नायक धीरोद्धत, शृङ्गाररस का नायक धीरललित और शान्तरस का नायक धीरप्रशान्त माना गया है । इसके अतिरिक्त लगभग सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृत नायक का एक और वर्गीकरण धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त के रूप में दृष्टिगोचर होता है । इस वर्गीकरण का मुख्य आधार नायक की प्रकृति और उसकी सहज प्रतिक्रियाएँ हैं । उल्लेखनीय है कि सभी आचार्य उपर्युक्त चारों प्रकार के नायक के स्वरूप में प्राय: एकमत नहीं हैं ।

उपर्युक्त सभी नायकों में धीरत्व सामान्य गुण के अतिरिक्त अपना अलग-अलग वैशिष्ट्य होता है जिसके कारण वे एक-दूसरे से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखते हैं । आचार्य भरत ने इन नायकों का सम्बन्ध वर्गविशेष से जोड़ा है जैसे - देवता धीरोद्धत कोटि के, राजा धीरललित कोटि के, सेनापति और अमात्य धीरोदात्त कोटि के तथा ब्राह्मण और व्यापारी धीरप्रशान्त कोटि के नायक के रूप में वर्णित होंगे ।[1] परन्तु अधिकांश आचार्यों ने इस वर्ग विशेष (जात्यादि) की सीमा से निरपेक्ष होकर नायक के सामान्यस्वरूप (कृत्यों) का विचार किया है । केवल धीरप्रशान्त नायक को ही विप्रवर्ग से सम्बन्धित किया है ।

धीरोदात्त नायक को दशरूपककार ने महासत्त्व, गम्भीर, क्षमावान्, अविकत्थन, निगूढ़ अहङ्कारी, स्थिर तथा दृढ़व्रती कहा है ।[2]

१- देवा धीरोद्धता ज्ञेया ललितास्तु नृपा: स्मृता: ।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा । भ० ना० ३४ - १८, १९

२- महासत्त्वोऽतिगम्भीर: क्षमावानविकत्थन: ॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रत: । द० रू०, २-४, ५

साहित्यदर्पणकार ने भी धीरोदात्त नायक के इन्हीं गुणों का उल्लेख किया है।[1]

नाट्यदर्पणकार ने इन गुणों के अतिरिक्त धीरोदात्त (उत्तम) नायक में न्यायप्रियता को आवश्यक माना है।[2]

आचार्यों ने धीरप्रशान्त नायक के किसी मौलिक वैशिष्ट्य का उल्लेख न करके उसे सामान्यगुणयुक्त ही बताया है। ये सामान्य गुण हैं - त्याग, महान कार्यों का कर्तृत्व, अच्छे कुल में जन्म, बुद्धि-वैभव-सम्पन्नता, रूप, यौवन और उत्साह से पूर्णता, उद्योगशीलता, लोकप्रियता, तेज, चातुर्य और सदाचार।[3]

अ- 'श्रीशङ्करदिग्विजय' के नायक का कोटि निर्धारण

'श्रीशङ्करदिग्विजय' का अङ्गीरस शान्त होने के कारण तथा नायक शङ्कराचार्य के जन्मना ब्राह्मण होने के कारण शास्त्रकारों के अनुसार इस ग्रन्थ का नायक धीरप्रशान्त होना चाहिए। परन्तु रस और जाति-वर्ग विशेष के आधार पर नायक के कोटि-निर्धारण की प्रक्रिया पूर्णतः व्यावहारिक प्रतीत नहीं होती है। संस्कृत साहित्य में अनेक ऐसी कृतियाँ हैं जिनमें नायक से सम्बन्धित रसादि के परम्परागत सिद्धान्त का निर्वाह नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ नागानन्द नाटक और महाभारत

- -

१- सा० द०, ३-३१, ३२

२- शरण्यो दक्षिणस्त्यागी लोकशास्त्रविचक्षणः।
गाम्भीर्यधैर्यशौण्डीर्यन्यायवानुत्तमः पुमान् ॥ नाट्यदर्पण, ४-१५७

३- त्यागीकृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान् नेता ॥
सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्। सा०द०, ३-३०, ३४

महाकाव्य के अङ्गी रस शान्त होने पर भी इन कृतियों के नायक धीरप्रशान्त कोटि के नहीं अपितु धीरोदात्त हैं । इसी प्रकार दुष्यन्तादि धीरोदात्त नायक वीर ही नहीं अपितु शृङ्गाररस की अभिव्यक्ति के माध्यमरूप में भी चित्रित हुए हैं । चारुदत्त ब्राह्मण धीरप्रशान्त नायक होने पर भी शृङ्गारिक प्रकृति के चित्रित हुए हैं । उपर्युक्त कृतियाँ यह स्पष्ट कर रही हैं कि नायक की कोटि मुख्यतः उसकी प्रकृति और चेष्टाओं के आधार पर ही निर्धारित होती है न कि रस और जातिविशेष के आधार पर ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के नायक शङ्कराचार्य अपनी प्रकृति और चेष्टाओं के आधार पर धीरोदात्त और धीर प्रशान्त कोटि के नायक सिद्ध होते हैं । आचार्यों द्वारा निर्धारित नायक के सामान्य गुणों के अतिरिक्त शङ्कराचार्य में धीरोदात्त नायक के लिये आवश्यक उदात्तता गुण प्रमुखतया विद्यमान है । धनिक-धनञ्जय ने उदात्तता का तात्पर्य सर्वोत्कृष्ट वृत्ति माना है ।[1] इस वृत्ति की प्रेरक शक्ति नायक की हृदयस्थ विजिगीषा है । यह विजिगीषा मात्र रणयुद्धविषयिणी ही नहीं होती अपितु उन समस्त चारित्रिक वैशिष्ट्यों से भी सम्बन्धित हो सकती है जिसके बल पर कोई भी व्यक्ति सर्वातिशायी हो जाता है ।[2]

शङ्कराचार्य की विजिगीषा रणयुद्धविषयिणी नहीं अपितु वाक्युद्धविषयिणी थी । इन्होंने शास्त्रार्थ के द्वारा सभी विपक्षियों पर अपना अधिकार जमा लिया था । इसके अतिरिक्त अपनी सत्यसन्धता , त्यागमयी प्रवृत्ति और धर्मनिष्ठता के बल पर ये सर्वातिशायी हो गये थे ।

१- औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः ------ । द० रू० , २-४ की वृत्ति

२- न हि एकरूपैव विजिगीषुता यः केनापि शौर्यत्यागदयादिना-
न्यानतिशेते स विजिगीषुः , न यः परोपकारेणार्थग्रहा-
दिप्रवृत्तः , तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः ।
द० रू० , २-४ की वृत्ति

शङ्‌०कराचार्य में धीरोदात्त नायक के गुण के अतिरिक्त धीरप्रशान्त नायक के लिये आवश्यक उसका ' नैसर्गिक शान्त स्वभाव ' भी दृष्टिगत होता है । इस प्रकार ये धीरोदात्त के साथ-साथ धीरप्रशान्त नायक भी कहे जा सकते हैं । चूँकि आचार्यों के मत में धीरप्रशान्त नायक के गुण विशिष्ट न होकर सामान्य होते हैं इसलिये धीरोदात्त के विशिष्ट गुणों से युक्त नायक के रूप में शङ्‌०कराचार्य का वर्णन करते समय इनमें धीरप्रशान्त के गुण पृथक्तया निर्दिष्ट नहीं किये गये हैं ।

आ- आचार्यों द्वारा निर्धारित धीरोदात्त और धीरप्रशान्त नायक के गुणों का शङ्‌०कराचार्य के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन

शङ्‌०कराचार्य रूप , गुण , शील और बुद्धि के वैभव से युक्त थे । जन्म के समय ही इनका मुख लोगों को कमल के समान आह्लादक प्रतीत हुआ।[१] इनके तेज के कारण प्रकाशहीन प्रसूतिगृह प्रकाशयुक्त हो गया था ।[२] इनके चरणों की कोमलता को बताने के लिये कवि कोई उपयुक्त उपमान ही नहीं ढूंढ़ पाता है । कभी वह चरणों को कमल के समान कोमल बताता है[३] तो कभी वह उसे अनुपयुक्त समझ कर दूसरे उपमान की कल्पना करने लगता है ।[४] इनके जङ्‌०घे[५] , कटि[६] , भुजाओं[७] , हाथ[८] , वक्षस्थल[९] , कण्ठ[१०] , अधर[११] आदि[१२]

- -

१- श्रीश० दि० , २-८१
२- श्रीश० दि० , २-८२
३- श्रीश० दि० , ४-३६
४- श्रीश० दि० , ४-३८
५- श्रीश० दि० , ४-४४
६- श्रीश० दि० , ४-४५
७- श्रीश० दि० , ४-४६
८- श्रीश० दि० , ४-४७
९- श्रीश० दि० , ४-४८
१०- श्रीश० दि० , ४-५१
११- श्रीश० दि० , ४-५२
१२- श्रीश० दि०, ४-५३, ५४

अङ्गों में कवि को अनुपम सौन्दर्य का दर्शन होता है ।

शङ्कराचार्य में गुणसमूह संख्यातीत थे[1] । इन्होंने परुषता , हिंसा , क्रोध , दीनता , परिग्रह , अनृतभाषण , लोभ , मात्सर्य , मद , अहङ्कार , तृष्णा और काम को समूल नष्ट कर दिया था[2] । इनकी क्षमाशीलता तो अद्वितीय है जिसके समक्ष क्षमाशीलता के लिये प्रसिद्ध पृथ्वी की सभी वस्तुएँ अप्रसिद्ध बन गयीं थीं । इन्होंने अपनी क्षमाशीलता के बल पर पृथ्वी को सगोत्रा बना लिया था[3] । स्वयं का अहित करने वाले (अभिचारी) अभिनवगुप्त के प्रति भी इनमें क्षमा करने की भावना उत्पन्न होती है ।

परोपकार , दया आदि की भावना इनमें बाल्यकाल से ही विद्यमान थी । विद्याध्ययन काल में ही ब्राह्मणी की निर्धनता को दूर करने के लिये लक्ष्मी की स्तुति करना[4] और कपटी कापालिक को अपना सिर देकर भी उसका हित करना , निश्चय ही इनकी परोपकार वृत्ति के सूचक हैं[5] । इनकी स्तुति से प्रसन्न हुई नदी के शब्दों में भी इनकी कल्याण-बुद्धि का परिचय प्राप्त होता है -" जो (शङ्कराचार्य) बाल्यकाल में ही संसार का हित चाहता है उसकी इच्छा की पूर्ति

- -

१- भुवनान्त इवामरद्रुमा अमरद्रुष्विव पुष्पसञ्चयाः ।
भ्रमरा इव पुष्पसञ्चयेष्वतिसंख्याः किल शङ्करे गुणाः ।। श्रीश० दि० , ४-६४

२- कामं वस्तुविचारतोऽच्छिनदयं पारुष्यहिंसाक्रुधः
क्षान्त्या दैन्यपरिग्रहानृतकथालोभांस्तु सन्तोषतः ।
मात्सर्यं त्वनसूयया मदमहामानौ चिरम्भावित -
स्वान्यौत्कर्ष्यगुणेन तृप्तिगुणतस्तृष्णां पिशाचीमपि ।।
कामं यस्य समूलघातमवधीत् स्वर्गापवर्गापहम् ---- ।
श्रीश० दि० , ४-६५ , ६६

३- श्रीश० दि० , ४-६६ , ७०

४- श्रीश० दि० , ४-२४ से २६ तक

५- श्रीश० दि० , १०-२५ , २६

कल प्रात:काल अवश्य हो जायेगा ।' ऐसा वर पाकर सत्यवादी और विनीत शङ्करााचार्य नदी के किनारे से अपने घर आये ।[1] नदी के उपर्युक्त वाक्य से शङ्कराचार्य की कल्याणकारिता के अलावा इनके सत्यवादी और विनीत होने का भी संकेत मिलता है । ये लोगों की इच्छाओं को सद्य:पूर्ण करने वाले थे । अत: इन्हें लोगों ने पृथ्वीतल पर स्वर्ग का वृक्ष अर्थात् कल्पवृक्ष के समान इच्छित वस्तुओं को प्रदान करने वाला समझा ।[2]

शङ्कराचार्य की बुद्धि की विलक्षणता का परिचय हमें इनके विद्याध्ययन के प्रथम वर्ष से ही मिलना प्रारम्भ हो जाता है ।[3] कुशाग्र बुद्धि होने के कारण विषय को भली-भाँति ग्रहण करवाने में इनके गुरु को कोई कष्ट नहीं हुवा । इतना ही नहीं मेधावी शङ्कराचार्य गुरु के अध्यापन की अपेक्षा के बिना अपना पाठ पढ़ लेते थे और सहपाठियों को भी पढ़ा देते थे ।[4] वेद के ज्ञान में ब्रह्मा, वेदाङ्गों के ज्ञान में गार्ग्य तथा उसके तात्पर्य के निर्णय में बृहस्पति, वेद-विहित कर्म के करने में जैमिनि के समान तथा वेदवचन के द्वारा प्रकट ज्ञान के विषय में व्यास के तुल्य शङ्कराचार्य वाणी के विलास से युक्त व्यास के अवतार प्रतीत होते थे । इन्होंने तर्कविद्या, सांख्ययोग, पुराण, इतिहास, काव्य आदि का अध्ययन किया था ।[5] इनकी बुद्धि के वैभव और विद्वता को देखकर सभी लोग आश्चर्ययुक्त हो जाते थे ।[6] ये इतने धुरन्धर विद्वान थे कि इनकी तुलना सुमेरु पर्वत से की गयी है । जिस प्रकार सुमेरु पर्वत की बराबरी त्रिकाल में उत्पन्न कोई भी पर्वत नहीं कर सका उसी प्रकार विद्या में शङ्कराचार्य की बराबरी त्रिकाल में भी कोई नहीं कर सका ।[7]

१- श्रीश० दि०, ५-८

२- श्रीश० दि०, ४-३२

३- श्रीश० दि०, ४- १, २

४- श्रीश० दि०, ४-३

५- श्रीश० दि०, ४-१६, २०

६- श्रीश० दि०, ४-१६

७- श्रीश० दि०, ४-७१ ।

शङ्कराचार्य को सभी कलाएँ प्राप्त थीं । इनके समान कला विशारद कोई नहीं था । इस क्षेत्र में भी ये अतुलनीय ही थे ।[१]

शङ्कराचार्य की धर्मनिष्ठता और सत्यवादिता की प्रवृत्ति भी इनके बाल्यावस्था में ही विकसित हो गयी थी । नित्य सन्ध्यावन्दन करना[२], लक्ष्मी, शिव[३], हरिशङ्कर[४], विष्णु[५], मूकाम्बिका[६] की स्तुति करना, यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठान करना इनकी धर्मनिष्ठता को ही द्योतित करती है । इनके द्वारा दिये गये वरदान और शाप का सत्य होना इनकी सत्यनिष्ठा को स्पष्ट करती है ।[७]

बड़ों के प्रति इनकी अगाध श्रद्धा थी । संन्यासियों के लिये वर्जित कर्म "दाहसंस्कार" को भी ये अपनी माँ के अनुरोध पर करने के लिये सहमत हो गये थे ।[८] ये एक कर्तव्यपरायण और विनीत पुत्र के रूप में चित्रित हुए हैं । ये अपनी माँ के कष्टों को दूर करने के लिये सब कुछ करने को तैयार रहते थे । अपनी माँ के नदी स्नान के प्रबल इच्छा की पूर्ति के लिये ये नदी को प्रसन्न कर अपने घर के निकट ले आये ।[९] माँ की आज्ञा को ये सर्वोपरि समझते थे । जब तक माँ ने संन्यासग्रहण की आज्ञा नहीं प्रदान की तब तक इन्होंने संन्यास नहीं ग्रहण किया ।[१०] इन्होंने माँ के देखरेख की पूर्ण व्यवस्था करके ही प्रयाण किया था ।[११]

१- श्रीश० दि० , ४-३४ , ६२

२- श्रीश० दि० , ५-२

३- श्रीश० दि० , ६-४१ से ४३ तक , १४-३७

४- श्रीश० दि० , १२-६ से १६ तक

५- श्रीश० दि० , १४-३६ से ४१ तक

६- श्रीश० दि० , १२-२७ से ३७ तक

७- श्रीश० दि० , ५-८ , १४-४७ , ४६, ५०

८- श्रीश० दि० , ५-७० , ७१

९- श्रीश० दि० , ५-५ , ६ , ७ , ८ , ९

१०- श्रीश० दि० , ५-६० से ६७ तक

११- श्रीश० दि० , ५-६८ से ६६ , ७३ , ७७ ।

गुरु के प्रति भी इनके मन में अतुलनीय श्रद्धा , आदर , स्नेह और हित की भावना विद्यमान थी । इसका प्रमाण हमें शङ्करराचार्य द्वारा वर्षाकाल की उफनती हुई नर्मदा नदी के जल को अपने कमण्डलु में भरकर गुरु की रक्षा करने के अवसर पर प्राप्त होता है ।[1] इससे इनकी योगसिद्धि और अलौकिक कार्य करने की क्षमता भी प्रकट होती है । गुरु का भी स्नेह इनके प्रति कम न था । तभी तो कृपालु गुरु ने व्यास के समान इन्हें यशस्वी बनने का आशीर्वाद दिया था ।

इनका हृदय छोटी-छोटी बातों पर क्रोध से अभिभूत नहीं होता था । मण्डनमिश्र के द्वारा अनेक दुर्वाक्य कहे जाने पर भी ये क्रुद्ध नहीं हुए थे अपितु उनकी बातों का इन्होंने परिहासात्मक उत्तर दिया ।[2] परन्तु ग्रामवासियों के द्वारा माँ के दाह संस्कार के लिये अग्नि न दिये जाने पर इनके क्रोध की सीमा न रही । फलस्वरूप इन्होंने उन्हें शाप दे दिया ।[3] पुत्र के संन्यासग्रहण के वृत्तान्त से बिलखती हुई माँ को अविचलित मना शङ्कराचार्य ने सान्त्वना मात्र दिया ।[4] इस प्रकार इनकी शोकमोह से दूर रहने की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है ।

शङ्कराचार्य को धनसम्पत्ति का तनिक भी लोभ नहीं था । श्रद्धान्वित केरल नरेश के द्वारा प्रेषित हाथी-घोड़ा आदि को इन्होंने ठुकरा दिया था ।[5]

शङ्कराचार्य अपने शिष्यों के हितैषी और परम स्नेही गुरु के रूप में चित्रित हुए हैं । मूर्ख तोटकाचार्य जिसका पूर्व नाम " गिरि " था - की अनुपस्थिति में शान्ति पाठ हेतु उद्यत अपने अन्य शिष्यों को शङ्कराचार्य उसकी

१- श्रीश० दि० , ५-१३६ से १३८ तक
२- श्रीश० दि० , ८-१६ से ३२ तक , ८-४० से ५० तक
३- श्रीश० दि० , १४-४६ से ५१ तक
४- श्रीश० दि० , ५-५१ से ५४ तक
५- श्रीश० दि० , ५-१७ से १८ , ५-२८ ।

प्रतीक्षा करने की आज्ञा देते हैं।[1] इस मूर्ख शिष्य की प्रतीक्षा पद्मपाद नामक शिष्य को हास्यास्पद प्रतीत हुई। गुरु ने पद्मपाद के दम्भ को दूर करने के लिये उस मूर्ख शिष्य को मन ही मन चौदहों विद्याओं का उपदेश कर दिया।[2] इससे स्पष्ट होता है कि वे अपने किसी शिष्य का अपमान नहीं सह सकते थे। एक बार स्वतन्त्र चिन्तक शिष्य पद्मपाद ने इनसे तीर्थयात्रा हेतु अनुमति माँगी।[3] शिष्य कहीं तीर्थयात्रा से उत्पन्न कष्टों के कारण ब्रह्मचिन्तन से विरत न हो जाय - इस भय से इन्होंने उसे तीर्थभ्रमण के दोषों से अवगत कराने का प्रयास किया।[4] अन्त में पद्मपाद के आकाट्य तर्कों के कारण इन्होंने न केवल उसे तीर्थयात्रा की अनुमति प्रदान कर दी अपितु तीर्थयात्रा में सम्भावित कष्टों और उनसे बचने के उपायों से भी उन्हें परिचित कराया।[5] तीर्थयात्राकाल में पद्मपाद की रचना जो ब्रह्मसूत्र पर लिखी गयी शङ्कराचार्य के भाष्य की टीका थी - वह नष्ट हो गयी। शिष्य के मुख से उसके नष्ट होने के इतिवृत्त को सुनकर इनका हृदय करुणा से द्रवित हो गया और इन्होंने अनेक सान्त्वनापूर्ण शब्दों से उसके क्लेश को दूर करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त अपनी स्मरणशक्ति के बल पर इन्होंने पद्मपाद को उस लुप्त रचना के वाक्यों को कह सुनाया।[6] ये सभी व्यवहार शङ्कराचार्य की अपने शिष्यों के प्रति स्नेह, रुचि, हित और दया की भावना के कारण ही सम्भव थे।

शङ्कराचार्य एक उत्कृष्ट संन्यासी के रूप में चित्रित हुए हैं। बाल्यावस्था में ही इनके मन में संन्यास के प्रति इच्छा जागृत हो गयी थी। संन्यास की आज्ञा

- -

१- श्रीश० दि०, १२-७६

२- श्रीश० दि०, १२-७७, ७८

३- श्रीश० दि०, १४-१

४- श्रीश० दि०, १४-२ से १६ तक

५- श्रीश० दि०, १४-२० से २७ तक

६- श्रीश० दि०, १४-१५४ से १६६ तक।

प्राप्त करने के लिये इन्हें अपने प्राणों को भी बाजी लगानी पड़ी थी।[1] संन्यासोचित सभी कर्तव्यों का इन्होंने जीवन भर पालन किया। बचपन में ही भावी जीवन के लिये ब्रह्मचर्यव्रत पालन की प्रतिज्ञा वाले इन्होंने उसकी जीवनभर यत्नपूर्वक रक्षा की। ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित होने का प्रसङ्ग उपस्थित होने पर इन्होंने दूसरा शरीर धारण करना श्रेष्ठ समझा।[2] यह उल्लेखनीय है कि माँ के प्रति श्रद्धा ने एक बार (माँ के दाहसंस्कार के अवसर पर) इन्हें संन्यासोचित धर्म से च्युत कर दिया था। संन्यासियों के लिये प्रसिद्ध धर्म दिग्भ्रमण को इन्होंने किया तथा वैदिक धर्म के उत्थान के अवरोधकतत्त्वों को भी शास्त्रार्थ के माध्यम से दूर किया।

इनमें क्षमा की वृत्ति प्रमुखतया विद्यमान थी। ये अहितसाधक अतएव शत्रु अभिनवगुप्त के प्रति भी उदार भाव रखते हैं।[3]

ख- प्रतिनायक

अ- मण्डनमिश्र

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में अनेक प्रतिनायकों के भी चरित्रों का विकास लक्षित होता है। इन सबमें प्रमुख तथा कथानक के विस्तृत अंश में छाये रहने वाले प्रतिनायक के रूप में मण्डनमिश्र का नाम उल्लेखनीय है। मण्डनमिश्र का शादी के पूर्व "विश्वरूप" नाम था। संन्यासदीक्षा लेने के पश्चात् उनका नाम "सुरेश्वर" पड़ा। अतः मण्डनमिश्र के उपर्युक्त दो उपनाम हैं। आगे मण्डनमिश्र का प्रतिनायक के रूप में अध्ययन किया गया है।

१- श्रीश० दि०, ५-६०, ६१
२- श्रीश० दि०, १६-८६, ६-७०, ७१
३- श्रीश० दि०, १६-३१ ।

साहित्यशास्त्र के लक्षण ग्रन्थों में प्रतिनायक के अनेक गुण बताये गये हैं जैसे - लोभी , पापकर्मी , व्यसनी , नायक का प्रतिस्पर्धी (शत्रु) और ' धीरोद्धत ' नायक के गुणों से अन्वित होना । धीरोद्धत नायक के गुण हैं - अहङ्कार , दर्प , द्वेष , कपटपूर्ण व्यवहार , आत्मश्लाघा आदि ।[१]

मण्डनमिश्र में प्रतिनायकनिष्ठ सभी गुण सरलता से देखे जा सकते हैं । एक विद्वान ब्राह्मण युवक होने के साथ-साथ वे कर्मकाण्डी भी थे । उनका विवाह एक सुयोग्य ब्राह्मण कन्या उभयभारती के साथ सम्पन्न हुआ था । उनका स्वभाव अत्यन्त क्रोधी चित्रित हुआ है । संन्यासी अतएव श्राद्धकर्म के अवसर पर दर्शनार्थ निषिद्ध शङ्कराचार्य को अपने पिता के श्राद्धकर्म के अवसर पर उपस्थित देखकर मण्डनमिश्र के क्रोध की सीमा न रही ।[२] उन्होंने वार्तालाप के प्रसङ्ग में अत्यन्त निर्दोषी शङ्कराचार्य को पागल , मूर्ख , मद्यमत्त और दुर्बुद्धि आदि कहने में तनिक भी नहीं सङ्कोच किया ।[३]

- -

१- अ- प्रतिनायक :- लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृत्व्यसनी रिपुः ।

धीरोद्धतः - दर्पमात्सर्य भूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ।।

धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः ।

द० रु० , २-५ , ६

ब- सा० द० , ३-१३१

२- अथ धुमागादिवर्तिर्निमन्त्रिते मुन्यौः स्थितं ज्ञानशिखोपवीतिनम् ।

संन्यास्य सावित्र्यवगत्य सोऽभवत् प्रवृत्तिशास्त्रैकरतोऽपि कोपनः ।।

श्रीश० दि० , ८-१४

३- मत्तो जातः कलञ्जाशी विपरीतानि भाषते ।

श्रीश० दि० , ८-१६

क्व ब्रह्म क्व च दुर्मेधाः क्व संन्यासः क्व वा कलिः ।

श्रीश० दि० , ८-३०

कर्मकाले न सम्भाष्य वहं मूर्खेण सम्प्रति ।

श्रीश० दि० , ८-२८

अहो पीता किमु सुरा ------- ।

श्रीश० दि० , ८-१८

उनके दर्पयुक्त भाषण की एक झलक इस वाक्य में देखी जा सकती है - " हजार मुख वाला शेषनाग भी मेरा प्रतिवादी बनकर आये तो भी मैं नहीं कह सकता , मैं पराजित हो गया हूँ । मैं श्रुतिसम्मत कर्मकाण्ड को छोड़कर मुनिमत को स्वीकार नहीं कर सकता ।"[1]

उनके अहङ्कार भाव को द्योतित करने वाला एक और वाक्य देखना अनुचित न होगा - " मैं यमराज के भी विनाशक ईश्वर का स्वयं शमन (खण्डन) करने वाला हूँ ।[2]

मण्डनमिश्र अपनी मिथ्या प्रशंसा करने से भी नहीं चूकते थे । अथाह ज्ञानी शङ्कराचार्य से उनका यह कहना कि " समस्त दर्शनों के रहस्य को जानने वाली और दुष्टों के गर्व रूपी जङ्गल के लिये कठोर कुठारों में धुरन्धर स्वरूपा मेरी पटुता निश्चय ही आपने नहीं सुनी है (अन्यथा विवाद के लिये आप उत्सुक न होते) । हे मुनि आपका (शङ्कराचार्य का) मुझसे यह कहना अत्यन्त तुच्छ है कि " वाद के इच्छुक हो तो वाद की भिक्षा दो " । शास्त्र में वाद के लिये मैं चिरकाल से लालायित हूँ । मुझे कोई विवादी ही नहीं मिला इस प्रकार मेरा शास्त्रज्ञान प्राप्त करने का श्रम व्यर्थ हो गया ।"[3] - उनकी आत्मश्लाघा को प्रकट करने के लिये पर्याप्त है ।

१- अपि सहस्रमुखे फणिनामके न विजितस्त्विति जातु कथयाम्यहम् ।
न च विहाय मतं श्रुतिसम्मतं मुनिमते निपतेद् परिकल्पिते ।।
शं० दि० , ८-४०

२- अयमहं यमहन्तुरपि स्वयं शमयिता ------- ।
शं० दि० , ८-४३

३- अपि तु दुर्हृदयस्मयकाननज्वलितकठोरकुठारधुरन्धरा ।
न पटुता मम ते श्रवणान्तिकं ननु गताऽनुगताखिलदर्शना ।।
अत्यल्पमेतद् भवतेरितं मुने भैक्ष्यं प्रदेहीति यदि वादादित्सुता ।
गतोऽप्यहो मे श्रुतवादवार्तया चिरेप्सितेयं वादिता न कश्चन ।।
शं० दि० , ८-४४ , ४५

शङ्करकराचार्य से पराजित होने पर मण्डनमिश्र ने इनसे संन्यासदीक्षा लेकर इनकी शिष्यता स्वीकार कर ली थी । संन्यासी बनकर उन्होंने शङ्करकराचार्य के साथ दिग्भ्रमण किया तथा उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना की ।

आ- अन्य प्रतिनायक

नीलकण्ठ, भट्टभास्कर और क्रकच कापालिक आदि भी शङ्करकराचार्य के प्रतिनायक सिद्ध होते हैं । नायक के पाण्डित्य- शौर्य को उत्कृष्टतम रूप देने के लिये कवि ने अनेक प्रतिनायकों का नायक से टकराव दर्शाया है । कोई भी प्रतिनायक अपने को नायक से कम नहीं समझता है ।

अ- क्रकच नामक कापालिक

भैरवतन्त्र का प्रमुख उपासक कापालिक क्रकच एक बीभत्स दृश्य उपस्थित करता है । श्मशान की भस्म लेप किये हुए , एक हाथ में मनुष्य की खोपड़ी लिये हुए तथा दूसरे हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए गर्वयुक्त होकर वह शङ्करकराचार्य के समक्ष उपस्थित हुआ और इनसे शास्त्रार्थ करने का दुराग्रह किया ।[1] उसमें मिथ्याभिमान का भी दर्शन होता है । राजा सुधन्वा के द्वारा अपमानित किये जाने पर उसने परशु उठाकर शङ्करकराचार्य के पक्ष वालों के सिरों को छिन्न-भिन्न कर डालने की प्रतिज्ञा कर ली थी ।[2] शङ्करकराचार्य पर विजय प्राप्त करने के लिये उसने न केवल शास्त्रार्थ के लिये ही हठ किया था अपितु

१- पितृकाननभस्मनाऽनुलिप्तः करसम्प्राप्तकरोटिरात्तशूलः ।
सहितो बहुभिः स्वतुल्यवेषैः स इति स्माऽऽह महात्मना : सगर्वः ।
श्रीश० दि० , १५-१२

२- भ्रुकुटीकुटिलाननश्चलोष्ठः परशुमुद्यम्य परश्वधं स मूर्खः ।
भवतां न शिरांसि चेच्छिनद्मि क्रकचो नाहमिति ब्रुवन्नयासीत् ।।
श्रीश० दि० , १५-१६

सशस्त्र सैनिक युद्ध भी किया।[1] सेना के पराजित हो जाने पर वह स्वयं शङ्०कराचार्य से युद्ध करने आया। उसने इन्हें अपशब्द भी कहा।[2] क्रकच के उपर्युक्त व्यवहार के कारण उसे दुष्ट, मूढ़ और दुस्साहसी कहना अत्युक्ति न होगी। अन्त में शङ्०कर भगवान ने क्रकच के सिर को काटकर उसकी ऐहिक लीला समाप्त कर दी।[3]

ब- नीलकण्ठ

नीलकण्ठ एक अहङ्०कारी प्रकृति के विद्वान थे। स्वयं के समक्ष वे अन्य किसी को तिनके के बराबर भी नहीं समझते थे। सब कुछ कर सकने के मिथ्याभिमान ने उन्हें शङ्०कराचार्य को ललकारने का दुःसाहस प्रदान कर दिया था। उनका शङ्०कराचार्य के प्रति यह कथन कि " ये (शङ्०कराचार्य) समुद्र को सुखा सकते हैं, सूर्य को आकाश से गिरा सकते हैं, कपड़े की तरह आकाश को आवृत कर सकते हैं तथापि मुझे जीत नहीं सकते"[4] - निश्चय ही उनकी अहङ्०कार भावना को द्योतित कर रही है। इसी प्रकार " मैं परपक्ष रूपी अन्धकार के

- -

१- रुग्भिताानि कपालिनां कुलानि प्रलयाम्भोधरभीकरारवाणि।
अमुना प्रहितान्यतिप्रसङ्०ख्यान्यभियातानि समुद्यतायुधानि ॥
श्रीश० दि०, १५-१७

२- तदनु क्रकचो हतान् स्वकीयानरुजाँश्च द्विपपुङ्०गवानुदीक्ष्य।
अतिमात्रविधूयमानचेता यतिराजस्य समीपमाप भूयः ॥
कुमताश्रय पश्य मे प्रभावं फलमाप्स्यस्यधुनैव कर्मणोऽस्य।
इति हस्ततले दधत्कपालं क्षणमध्यायदसौ निमील्य नेत्रे ॥
श्रीश० दि०, १५-२३, २४

३- यतिनामृषभेण संस्तुतः सन्नयमन्तर्धिमवाप देववर्यः।
अखिलेऽपिखिले कुले खलानामसुमानद्धैरलं द्विजाः प्रहृष्टाः ॥
श्रीश० दि०, १५-२८

४- श्रीश० दि०, १५-३६।

भेदन में सूर्य के समान प्रतापशाली अपने तर्कों से उनके (शङ्कराचार्य के) मत को अभी छिन्न-भिन्न कर दूँगा -[1] कथन भी उनके अहं भाव के कारण ही सम्भव हुआ है नीलकण्ठ को अपनी विद्या पर पूर्ण भरोसा था इस कारण वे शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य से शास्त्रार्थ करना अत्यन्त लघु कार्य मानकर इसमें अपनी हीनता समझते थे।[2] परन्तु विद्वान शङ्कराचार्य ने अपने कुशल व पुष्ट तर्कों से नीलकण्ठ के पाण्डित्यविषयक अभिमान को क्षणभर में नष्ट कर दिया।

स- <u>भट्टभास्कर</u>

उज्जयिनी के निवासी भट्टभास्कर जो एक विशेष विद्वान थे - भी कथानक के प्रतिनायक के रूप में चित्रित हुए हैं। शङ्कराचार्य के द्वारा शास्त्रार्थ का आमन्त्रण दिये जाने पर वे इसे अपना अपमान समझकर अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं। उनका यह कथन कि " निश्चय ही उन्होंने (शङ्कराचार्य ने) मेरी कीर्ति को नहीं सुना होगा। मैंने दुर्वादियों के तर्कों का खण्डन कर दिया है। दूसरों के कीर्तिरूपी बिस (मृणाल) के अङ्कुर को उखाड़कर भक्षण कर लिया है। विद्वानों के सिर पर मैंने अपना पैर रख दिया है। मेरी सूक्तियों के सामने कणाद की कल्पना क्षुद्र मालूम पड़ती है। कपिल का प्रलाप भाग खड़ा होता है। जब प्राचीन आचार्यों की यह दशा है, तब आजकल के विद्वानों की गणना ही क्या?[3] उनके अन्दर विद्यमान दर्प, मिथ्याभिमान आदि का सूचक है। अपने को सर्ववित् समझने वाले भट्टभास्कर शास्त्रार्थ के अन्त में शङ्कराचार्य के द्वारा पराजित कर दिये जाते हैं।

१- श्रीश० दि०, १५-३७

२- श्रीश० दि०, १५-४१

३- ध्रुवमेष न शुश्रुवानुदन्तं मम दुर्वादिवचस्ततीर्निकृन्तम्।
परकीर्तिबिसाङ्कुरानदन्तं विदुषां मूर्धसु नानटत्पदं तम्।
मम वल्गति सूक्तिगुम्फवृन्दे कणभुग्जल्पितमल्पतामुपैति।
कपिलस्य पलायते प्रलापः सुधियां केव कथाऽधुनातनानाम्॥
श्रीश० दि०, १५-८६, ८७

द- अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त भी शङ्कराचार्य के प्रतिपक्षी के रूप में चित्रित हुए हैं। उनके चरित्र का कथानक में पर्याप्त विकास नहीं हुआ है। उनकी दुष्टता का परिचय देने के लिये मात्र इस घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा कि शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने के पश्चात् इनके ऊपर अपना अधिकार जमाने का दूसरा कोई उपाय न देखकर उन्होंने शङ्कराचार्य के प्रति अभिचार कर दिया जिसके फलस्वरूप शङ्कराचार्य को भगन्दर रोग का कष्ट झेलना पड़ा था।[१]

ग- शङ्कराचार्य का शिष्य वर्ग

अ- पद्मपाद

उनका पूर्व नाम सनन्दन था। वे गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित किन्तु गर्वीले स्वभाव वाले अदम्य साहसी, बुद्धिमान और कुछ भी कर सकने की इच्छा वाले थे। गुरु के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा तथा भक्ति परिलक्षित होती है। गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर उनके अन्य साथी वाहन की खोज में अपना समय व्यर्थ नष्ट करने लगते हैं परन्तु वे गुरु के समीप शीघ्र पहुंचने की इच्छा से गङ्गा के जलप्रवाह में ही पैदल चलना प्रारम्भ कर देते हैं। उनकी गुरुभक्ति से प्रसन्न होकर गङ्गा ने उनके चरणों के तले कमलों को बिछा दिया था जिस पर

- -

१- निगमाब्जविकासिबालभानोर्न समोऽमुष्य विलोक्यते त्रिलोक्याम्।
न कथञ्चन मद्वशम्वदोऽसौ तदमुं दैवतकृत्यया हरेयम्॥
श्रीश० दि०, १५-१५६

अथ यदा जितवान् यतिशेखरोऽभिनवगुप्तमनुत्तममान्त्रिकम्।
स तु तदाऽपजितो यतिगोचरं छलमनाः कृतवानपचारणाम्॥
स ततोऽभिचार मूढबुद्धिर्यतिशार्दूलममुं प्रकृष्टरोषः।
अचिकित्स्यतमो भिषग्भिरस्मादजनिष्टास्य भगन्दराख्यरोगः॥
श्रीश० दि०, १६-१, २

चरणाविन्यास करते हुए उन्होंने नदी पार कर ली।[1]

गुरु के प्रति भक्ति के अतिरिक्त इनके(शङ्कराचार्य के) हित की चिन्ता भी उन्हें घेरे रहती थी। कामशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा बालब्रह्मचारी गुरु के ब्रह्मचर्य को कहीं खण्डित न कर दे इस कारण वे इन्हें (गुरु को) इससे विरत करने का असफल प्रयास करते हैं।[2] गुरु के द्वारा परकाय में निवास के लिये निर्धारित एक वर्ष की अवधि के व्यतीत हो जाने पर भी गुरु के पुनरागमन को न देखकर इन्हें ढूढ़ने के लिये वे व्याकुल हो गये थे। उनके ही प्रयास से गुरु शङ्कराचार्य पूर्व अवस्था में आये थे।[3] गुरु के हित चिन्तन की उनकी प्रवृत्ति का परिचय हमें उस समय भी प्राप्त होता है जब उन्होंने गुरु के प्रति प्रहार करने के लिये उद्यत कापालिक को नरसिंह का वेशधारण कर मौत के घाट उतार दिया।[4] गुरु के प्रति अतिशय स्नेह के कारण वे कभी-कभी गुरु की आज्ञा की अवहेलना भी कर देते थे। उनकी इस प्रवृत्ति का परिचय गुरु के द्वारा बारम्बार मना किये जाने पर भी अभिनवगुप्त से प्रतिशोध लेने की भावना से निमित्त रूप में मन्त्रजप बन्द न करने[5] के अवसर पर प्राप्त होता है।

१- पुरा विलासमासु सुरापगाया: पारे परस्मिन् विचरत्सु सत्सु।
अकारयामास भवानशेषान् भक्तिं परिज्ञातुमिवास्मदीयाम् ॥
तदा सदाकर्ण्य समाकुलेषु नावर्थमस्मासु परिभ्रमत्सु।
सनन्दनस्त्वेष वियत्तटिन्या कूरामभिप्रस्थित एव तूर्णम् ॥
अनन्यसाधारणमस्य भावमाचार्यवर्यो भगवत्यवेक्ष्य।
तुष्टा त्रिवर्त्मा कनकाम्बुजानि प्रादुष्करोति स्म पदे पदे च ॥

श्रीश० दि०, १३-१५, १६, १७

२- श्रीश० दि०, ९-७९ से ८८ तक

३- श्रीश० दि०, १०-३० से ३७ तक, १०-४४ से ५७ तक

४- श्रीश० दि०, ११-३७ से ३९ तक, ११-४४

५- श्रीश० दि०, १६-३१।

पद्मपाद में अन्य शिष्यों को अपने से हीन समझने की भावना भी विद्यमान थी । ' तोटकाचार्य ' नामक अपने सहपाठी की मूढ़ता का परिचय देने के लिये उन्होंने उसकी तुलना दीवार से कर दी थी ।[1]

उनकी बुद्धि की तीव्रता को मन्द करने के लिये उनके मामा ने उन्हें भोजन में विष मिलाकर खिला दिया था ।[2]

आ- तोटकाचार्य

तोटकाचार्य का पूर्व नाम गिरि था । वे बुद्धि से जड़ किन्तु विनयी , गुरु पर अटूट श्रद्धा और अप्रतिम स्नेह रखने वाले शङ्करााचार्य के शिष्य थे । उनकी गुरुभक्ति से प्रसन्न होकर शङ्कराचार्य ने नितान्त जड़ अर्थात् विद्याओं को सीखने में सर्वथा असमर्थ उन (शिष्य) को मन ही मन चौदह विद्याओं का उपदेश करके ज्ञानी बना दिया था ।[3] गुरु के प्रति उनकी भक्ति का परिचय हमें उनके व्यवहार से ही प्राप्त हो जाता है । वे गुरु के सदैव अनुगामी रहे हैं । गुरु के स्नान करने पर स्नान करते थे । गुरु के चलने पर स्वयं इनके पीछे वे चला करते थे । गुरु के बैठने पर इनके पीछे वे बैठा करते थे । गुरु के सामने वे कभी अशिष्ट व्यवहार नहीं किया करते थे । गुरु के सामने वे कभी जमुहाई नहीं लेते थे और न कभी पैर फैलाकर बैठा करते थे । वे मितभाषी और आज्ञाकारी शिष्य थे । वे कम्बल-वस्त्र आदि के द्वारा कोमल सम और ऊँचा आसन गुरु के बैठने के लिये बना देते थे । दैनिक कार्य के समय को देखकर दतुअन , मिट्टी और जल आदि की व्यवस्था कर दिया करते थे । गुरु के स्नान करने पर शरीर पोंछने के लिये और पहनने के लिये वस्त्र प्रदान करते थे । गुरु के चरणों को

१- श्रीश० दि० , १२-७७

२- श्रीश० दि० , १४-१४२

३- श्रीश० दि० , १२-७८ , ७९ ।

दबाया करते थे । छाया के समान गुरु का अनुगमन वे अत्यन्त विनम्रता से किया करते थे ।[1]

३- हस्तामलक

हस्तामलक भी शङ्कराचार्य के एक शिष्य थे । वे एक उच्चकोटि के साधक थे । उनकी प्रवृत्ति सांसारिक विषयों के प्रति नहीं था यहाँ तक कि उन्हें भोजन आदि का भी ध्यान नहीं रहता था ।[2] उनके चरित्र को कथानक में शिष्य के रूप में विकसित नहीं किया गया है ।

शङ्कराचार्य के अन्य अनेक शिष्य जिन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित होने के पश्चात् इनके शिष्यत्व को ग्रहण किया था सभी का चरित्र-चित्रण प्राधान्य-व्यपदेशेन प्रतिनायक के रूप में " प्रतिनायक " और " अन्य प्रतिनायक " शीर्षकों के अन्तर्गत गत पृष्ठों[3] पर किया जा चुका है । अतः यहाँ उन पर पुनर्विचार उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है ।

१- चित्तानुवर्ती निजधर्मचारी भुजानुकम्पी तनुवाग्विभूतिः ।
कश्चिद्विनेयोऽजनि देशिकस्य यं तोटकाचार्यमुदाहरन्ति ।।
स्नात्वा पुरादिापति कम्बलवस्त्रमुख्यैरुच्चासनं मृदु समं स ददाति नित्यम् ।
संलक्ष्य दन्तपरिशोधनकाष्ठमुख्यं बाह्यादिकं गतवते सलिलादिकं च
श्रीदेशिकाय गुरवे तनुमाजिवस्त्रं विश्राणयत्यनुदिनं विनयोपपन्नः ।
श्रीपादपद्मयुगमर्दनकोविदश्चच्छायेव देशिकमसौ भृशमन्वयाय:
गुरोः समीपे न तु जातु जृम्भते प्रसारयन्नो चरणौ निषीदति ।
नोपेक्षते वा बहु वा न भाषते न पृष्ठदर्शी पुरतोऽस्य तिष्ठति ।।
तिष्ठन्गुरौ तिष्ठति सम्प्रयाते गच्छन्नुवाणो विनयेन शृण्वन् ।
अनुच्यमानोऽपि हितं विधत्ते यच्चाहितं तच्चतनोति नास्य ।।
श्रीश० दि० , १२-७०, ७१, ७२, ७३, ७४

२- भुङ्क्ते कदाचिन्नतु जातु भुङ्क्ते स्वेच्छाविहारी न करोति शौचम् ।
पुराभवाभ्यासवशेन सर्वं स वेत्ति सम्यङ् न च वक्ति किञ्चित् ।
न बध्विरस्यास्ति गुहादिगोचरा नाऽऽत्मीयबुद्धेः प्रमतोऽस्य विद्यते ।
तादात्म्यतोऽन्यत्र ममेति वेदनं यदा न सा स्वे किमु बाह्यवस्तुषु ।।
श्रीश० दि० , १२-५३, ६०, ६१

३- द्रष्टव्य - प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, पृ०सं० ४३३-४५८

घ- शङ्कराचार्य के पिता

शङ्कराचार्य के पिता का नाम शिवगुरु था । वे एक रूपवान , धनवान , बुद्धिमान , विद्वान , क्षमाशील और गर्वहीन ब्राह्मण थे । ज्ञान में उनकी तुलना शङ्कर भगवान से की गयी है ।[1] वे एक धार्मिक व्यक्ति थे । सन्ध्यावन्दन आदि के अतिरिक्त वे यज्ञानुष्ठान , तप आदि भी किया करते थे ।[2] तपस्या के बल पर ही उन्हें शङ्कराचार्य जैसे विद्वान-बुद्धिमान पुत्र की प्राप्ति हुई ।

प्राचीन परम्परा के अनुसार उनको शिक्षा-दीक्षा गुरु के कुल में ही सम्पन्न हुई थी ।

विद्याध्ययन काल में उनका मन सांसारिक विषयों से विरत हो गया था । वे गुरु के पास रहकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी के रूप में जीवन व्यतीत करना चाहते थे ।[3] परन्तु उनका वैराग्य दृढ़ न होने के कारण गुरु के द्वारा गृहस्थ जीवन के पक्ष में दिये गये तर्कों से ढह गया । अन्त में उन्होंने विवाह-बन्धन को स्वीकार कर ही लिया ।

शिवगुरु आस्तिक प्रवृत्ति के पोषक थे । उन्होंने पुत्र को ही लोकप्रियता का मानदण्ड माना था ।[4] वे पुत्र-प्राप्ति का उपाय करते-करते दुःसाध्य कष्ट सहीं

- -

१- ज्ञाने शिवो यो वचने गुरुस्तस्यान्वर्थनामाकृत लब्धवर्णः । श्रीश० दि० , २-५

२- स ब्रह्मचारी गुरुगेहवासी , तत्कार्यकारी विहितान्नभोजी ।
सायं प्रभातं च हुताशसेवी , व्रतेन वेदं निजमध्यगीष्ट ।। श्रीश० दि०,२-६
यागैरनेकैर्बहुवित्तसाध्यैर्विजेतुकामो भुवनान्यघृष्ट ।
व्यस्मारि देवैरमृतं सदाशिदिने दिने सेवितयज्ञभागैः ।। श्रीश० दि० , २-३७

३- श्रीनैष्ठिकाश्रममहं परिगृह्य यावज्जीवं वसामि तव पार्श्वगतश्चिरायुः ।
दण्डाजिनी सविनयो धुव जुह्वदग्नौ वेदं पठन् पठितविस्मृतिहानिमिच्छन् ।।
श्रीश० दि० , २-१६

४- मद्रे श्रुतेन रहितो भुवि वै वदन्ति नो पुत्रपौत्रसरणिक्रमतः प्रसिद्धिः ।
लोके न पुष्पफलशून्यमुदाहरन्ति वृक्षं प्रवालमयैः फलितं विहाय ।।
श्रीश० दि० , २-४५

तक कि मृत्यु को भी पुत्रहीनता से श्रेयस्कर समझते थे । तभी तो पुत्र-प्राप्ति के लिये सपत्नीक शिव की आराधना उन्होंने की ।

शिवगुरु पुत्रवत्सल पिता के रूप में भी चित्रित हुए हैं । नवजात शिशु का मुखदर्शन उन्हें अत्यन्त आह्लादकारी प्रतीत हुआ था। उन्होंने पुत्रजन्म के शुभ अवसर पर जन्मसंस्कार की विधि-सम्पादन कराने वाले ब्राह्मणों को प्रचुर मात्रा में धन , पृथ्वी , गायें आदि वितरित करके , अपनी प्रसन्नता व्यक्त की थी।[1] यहाँ उनकी दानशीलता भी प्रदर्शित होती है ।

पुत्रवत्सल पिता होने पर भी दुर्भाग्यवश वे पुत्रसुख का अधिक दिनों तक भोग नहीं कर सके । पुत्र की आयु तीन वर्ष पूर्ण होते-होते वे स्वर्गवासी हो गये ।

ड०- उभयभारती के पिता

उभयभारती के पिता एक स्नेही पिता के रूप में चित्रित हुए हैं । उन्हें अपनी पुत्री के सुख-सौभाग्य की सदैव चिन्ता रहती थी । पुत्री के गिरते स्वास्थ्य को देखकर वे स्वयं चिन्तित हो जाते थे और उसका कारण जानने का प्रयास करते थे ।[2]

१- दृष्ट्वा सुतं शिवगुरु: शिववारिराशौ मग्नोऽपि शक्तिमनुसृत्य जले न्यमाङ्क्षीत्।
व्यश्राणयद् बहु धनं वसुधाश्च गाश्च जन्मोक्तकर्मविधये द्विजपुङ्गवेभ्य: ।।
श्रीश० दि०, २-७२

२- दृष्ट्वा तदीयौ पितरौ कदाचित् अपृच्छतां तौ परिकर्शिताङ्गीं ।
वपु: कृशं ते मनसोऽप्यगर्वो न व्याधिमीक्षे न च हेतुमन्यम् ।।
इष्टस्य हानिरनभीष्टयोगाद् भवन्ति दु:खानि शरीरभाजाम् ।
वीक्षे न तौ द्वावपि वीक्षमाणो विना निदानं नहि कार्यजन्म ।।
न तेऽत्यगादुद्वहनस्य काल: परावमानो न च नि:स्वता वा ।
कुटुम्बभारो मयि दु:सहोऽयं कुमारबुद्धेस्तव काऽत्र पीडा ।।
न मूढभाव: परितापहेतु: पराजितिर्वा तव वन्दिदानम् ।
विद्वत्सु विस्पष्टतयाऽग्रपाठात् सुदुर्गमार्थादपि तर्कविद्भि: ।।
आ जन्मनो विहितकर्मनिषेवणं ते स्वप्नेऽपि नास्ति विहितेतरकर्मसेवा ।
तस्मान्न भयमपि नारकयातनाभ्य: किं ते मुखं प्रतिदिनं गतशोभमास्ते ।।
श्रीश० दि० , ३-२० , २१, २२, २३, २४ ।

उभयभारती के पिता अपनी पुत्री को न केवल वर्तमान में वरन् भविष्य में भी सुखी देखना चाहते थे। इसका प्रमाण हमें उस समय मिलता है जब उन्होंने पुत्री की शादी निश्चित करते समय, स्वयं की अनुभवहीनता के कारण उनसे कोई त्रुटि न हो जाय - इस भय से अपनी पत्नी और पुत्री से इस विषय में मन्त्रणा किया था। उनका स्पष्ट मत था कि "कन्या की शादी उसकी माँ की सम्मति से होनी चाहिए अन्यथा विवाहित कन्या के कष्टों से माँ सदैव उलाहना देगी और जीवन को कलहपूर्ण बना देगी।"[1] उभयभारती के पिता के उपर्युक्त विचारों से उनके अनुभवी होने का सङ्केत भी मिलता है।

इसी प्रकार पुत्री की विदाई के समय उसकी बालसुलभ अल्हड़ता से ससुराल वालों को परिचित कराने में उनका मुख्य उद्देश्य पुत्री के आगन्तुक कष्टों का निवारण करके उसे सुखी बनाना ही हो सकता है।[2]

१- मत्वं तदुक्तमभिरोचत एव विप्रौ पृष्ट्वाग्रिमं मम पुनः करवाणि नित्यम्।
कन्याप्रदानमिदमायतते वधूषु नो चेदमुष्यैसनसंक्लिषु पीडयेयुः ॥
भार्यामपृच्छदथ किं करवाव भद्रे विप्रौ वरीतुमनसौ खलु राजगेहात्।
एतां सुतां सुतनिभा तव याऽस्ति कन्या ब्रूहि त्वमेकमनुमाय पुनर्नवाच्यम् ॥
श्रीश० दि०, ३-३२, ३३

२- बालेयिं क्रीडति कन्दुकाद्यैर्जातिप्रधागेहमुपैतिदुःखात्।
एकैति बाला गृहकर्मनीक्ता संरक्षणीया निजपुत्रितुल्या ॥
बालेयमङ्ग वचनैर्मृदुभिर्विधेया कार्यं न रूक्षवचनैर्न करोति रुष्टा।
केचिन्मृदूक्तिवशगा विपरीतभावाः केचिद्धितातुमनलं प्रकृति जनो हि ॥
- - - - - - - - -
दृष्ट्वाऽभिधातुमनलं च मनोऽस्मदीयं गेहाभिरक्षणविधौ नहि दृश्यतेऽन्यः।
दृष्ट्वाऽभिधानकमेव यथा भवेन्मी ब्रूयाद्यथेष्टजनता जननीं वरस्य ॥
श्रीश० दि० ३-६२, ६३, ६८, ३-६४ से ६७ तक

उभयभारती के पिता व्यवहारज्ञ , मधुरभाषी और धनी होते हुए भी निरभिमानी थे । उनकी व्यवहारज्ञता , मधुरभाषिता का एक उदाहरण जामाता के स्वागत में द्रष्टव्य है - " कोमल वचनों का प्रयोग कर उन्हें (जामाता को) सुन्दर आसन दिया तथा बहुमूल्य बर्तन में मधुपर्क रखकर उन्हें - अर्घपाद्य भी दिया । अन्त में वचनों से स्वागत करते हुए वे बोले कि यह कन्या , यह घर , ये गायें और मेरी यह सम्पूर्ण सम्पत्ति आप ही की है ।[1] इसी प्रकार अन्य बारातियों के स्वागत में प्रयुक्त वचनों से भी इनकी मधुरभाषिता आदि की प्रवृत्ति का सङ्केत मिलता है - " आज हमारा कुल पवित्र हो गया , हम लोग आदरणीय हो गये क्योंकि विवाह के बहाने आपके दर्शन हुए हैं अन्यथा पण्डितों में अग्रणी आप कहाँ ? और मैं कहाँ ? मनुष्य पुण्य कर्म के विपाक से कल्याण प्राप्त करता ही है । मैंने पूर्वजन्म में अनेक पुण्य किये हैं - उसी का प्रतिफल आप लोगों का यह शुभ दर्शन है । हे भगवन ! हमारे इस घर में जो कुछ भी आपको रुचिकर लगे वह सब आप ही के निवेदन के योग्य है ।[2] उपर्युक्त वाक्यों से उभयभारती के पिता की पूर्वजन्म और पुण्य-पाप के प्रति आस्तिक प्रवृत्ति भी लक्षित होती है ।

१- दत्त्वाऽऽसनं मृदु वचः समुदीर्य तस्मै पात्रं ददौ समधुपर्कमनर्घपात्रे ।
अर्घ्यं ददावहमियं तनया गृहास्ते गावो हिरण्यमखिलं भवदीयमूचे ।।
श्रीश० दि० , ३-५०

२- अस्माकमद्य पवितं कुलमादृताः स्मः सन्दर्शनं परिणयव्यपदेशतोऽभूत् ।
नो चेद्भवान् बहुविदग्रसरः क्व चाहं भद्रेण भद्रमुपयाति पुमान् विपाकात् ।।
यद्यद् गेहेऽत्र भगवन्निह रोचते ते तत्तन्निवेद्यमखिलं भवदीयमेतत् ।
वक्ष्यामि सर्वमभिलाषपदं त्वदीयं युक्तं हि सन्ततमुपार्जितपूर्वपुण्यैः ।।
श्रीश० दि० , ३-५१, ५२

३- स्त्री पात्र

क- उभयभारती

" श्रीशङ्०करदिग्विजय " में उभयभारती " शारदा ", " सरस्वती " आदि उपनामों से भी उल्लिखित हुई हैं। " श्रीशङ्०करदिग्विजय " के कथानक में उभयभारती स्त्रीपात्रों में मुख्य और शङ्०कराचार्य की प्रतिपक्षी के रूप में चित्रित हुई हैं। वह मण्डनमिश्र की पत्नी भी हैं। वे भारतीय परम्परा के अनुसार एक लज्जाशील नारी के रूप में नहीं अपितु एक प्रगल्भा रूपवती विदुषी महिला के रूप में चित्रित हुई हैं। बाल्यावस्था में ही इनकी प्रगल्भता और विद्वत्ता का परिचय हमें मिल जाता है जब वे मुनि दुर्वासा के अशुद्ध उच्चारण पर हँस पड़ी थीं।[1] विदुषी होने के कारण ही तो वे अपने विवाह की शुभ मुहूर्त भी स्वयं ही तय करती हैं।[2] वे अपने विवाह के अवसर पर स्वयं अपने हाथों से अलङ्०कार धारण करके आधुनिकता का परिचय देती हैं। आधुनिक होने पर भी वे उच्छृङ्०खल नहीं थीं। विश्वरूप (मण्डनमिश्र) को अपने मन में अत्यधिक चाहती हुई भी पिता के द्वारा सम्मति मांगे जाने पर शब्दों से कुछ व्यक्त न कर सकीं अपितु उनके पुलकित रोमों ने सम्मति प्रदान की।[3]

- -

१- पुरा किलाध्येषत धातुरन्तिके सर्वेऽकल्पा मुनयो निजं निजम् ।
वेदं तदा दुर्वसनोऽतिकोपनो वेदानधीयन् क्वचिदस्खलत्स्वरे ॥
तदा जहासेन्दुमुखी सरस्वती यदङ्०गमणीभूमवशब्दसन्ततिः ।
श्रीश० दि० , ३-१० , ११

२- अस्माच्चतुर्दशदिने भविता दशम्यां यामित्रभादिशुभयोगयुतो मुहूर्तः ।
एवं विलिख्य गणितादिषु कौशलास्या व्याख्यापराय दिशति स्म सरस्वती सा ॥
श्रीश० दि० , ३-५४

३- श्रीविश्वरूपगुणरूपप्रकृतिं द्विजाति कन्यार्थिनो सुतनु किं करवाव वाच्यम् ।
तस्याः प्रमोदनिकरोऽपि ममौ शरीरे रोमाञ्चपूरमिषतो बहिरुज्जगाम ॥
तेनैव सा प्रतिवचः प्रददौ पितृभ्यां तेनैव तावपि तयोर्युगलाय सत्यम् ।
श्रीश० दि० , ३-४२-४३

अपनी विद्वत्ता के कारण ही वे अपने पति मण्डनमिश्र और शङ्कराचार्य के मध्य होने वाले शास्त्रार्थ की निर्णायिका बनी थीं।[1]

उभयभारती एक प्रतिव्रता महिला के रूप में चित्रित हुई हैं। पति के शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने पर स्वयं शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ करके उन्होंने अर्धाङ्गिनी के सम्बन्ध को निभाने का श्लाघनीय प्रयास किया है।[2]

ख- शङ्कराचार्य की माँ

शङ्कराचार्य की माँ सर्वप्रथम पतिव्रता पत्नी तत्पश्चात् पुत्रवत्सला माँ और अन्त में विधवा असहाय नारी के रूप में चित्रित हुई हैं। पुत्र प्राप्ति के लिये तपस्यारत पति का उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अनुसरण किया। पति के द्वारा केवल कन्दमूल खाये जाने और कुछ समय पश्चात् उसे भी त्याग देने पर उन्होंने भी शिव की आराधना करते हुए बहुत से नियमों और तपस्या से अपने शरीर को सुखा डाला।[3]

उनमें स्नेह और सहिष्णुता का अपूर्व समन्वय था। पति से बिछुड़ जाने के पश्चात् वे पुत्र का वियोग किसी प्रकार भी सहन करने के लिये तैयार नहीं थीं। इसीलिये उन्होंने अपने पुत्र को संन्यासी जीवन से विरत करने के लिये भरसक प्रयास किया।[4] जलचर द्वारा शङ्कराचार्य का चरण ग्रहण किये जाने पर पुत्र के भावी वियोग का विचार उन्हें व्याकुल कर दिया और वे उच्चस्वर से करुण क्रन्दन करने लगी थीं।[5] माँ के विलाप से अनेक अत्यन्त मर्मस्पर्शी भावनाएँ उद्भूत

१- श्रीश० दि० , ८-५८ , ५६

२- श्रीश० दि० , ६-५६ , ६३ से ६६ तक

३- श्रीश० दि० , २-४६ , ५०

४- श्रीश० दि० , ५-५६ से ५८ तक

५- श्रीश० दि० , ५-६३ से ६४ ।

हो उठती है। यह सत्य है कि पहले ही पति से वियुक्त तत्पश्चात् एकमात्र पुत्र के आश्रित महिला का साथ यदि उसका पुत्र भी छोड़ दे तो, इससे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण कष्टदायी दूसरी कौन सी परिस्थिति हो सकती है? शङ्कराचार्य के द्वारा यह कहे जाने पर कि " आपके (माँ के) द्वारा संन्यास ग्रहण की आज्ञा मिलने पर मैं जलचर द्वारा मुक्त कर दिया जाऊँगा "[1]। माँ ने पुत्र की तत्काल मृत्यु की तुलना में उसकी प्राणरक्षा को (भले ही संन्यासी बनकर क्यों न हो) अधिक महत्त्व देकर इन्हें संन्यासग्रहण करने की आज्ञा कथंकथमपि प्रदान कर दी[2]।

प्राचीन मान्यताओं और भविष्यवाणियों में वे विश्वास किया करती थीं। उन्होंने पुत्र के भविष्य के बारे में ऋषियों से जानकारी प्राप्त की थी[3]। वे पुत्र के हाथों से ही अपना दाहकर्म श्रेष्ठ समझती थीं तभी तो उन्होंने संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हुए अपने पुत्र को इस कार्य के लिये बाध्य किया था[4]।

ग- उभयभारती की माँ

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के कथानक में उभयभारती की माँ का व्यक्तित्व निरपेक्ष रूप से प्रकट नहीं हुआ है। अधिकतर प्रसङ्गों में उनके पति

- -

१- श्रीश० दि० , ५-६५

२- इति शिशौ चकिता वदति स्फुटं व्यधित साऽनुमतिं द्रुतमम्बिका ।
सति सुते भविता मम दर्शनं मृतवतस्तदुनेति विनिश्चयः ॥
श्रीश० दि० , ५-६६

३- करुणाद्रिवृशाऽनुगृह्णते स्वयमागत्य भवद्भिरप्ययम् ।
भवताऽस्य पुराकृतं तपः क्षममाकर्णयितुं मया यदि ॥
श्रीश० दि० , ५-४२

४- यज्जीवितं जलचरस्य मुखाचदिष्टं संन्याससङ्गरवशान्मम देहपाते ।
संस्कारमेत्य विधिवत् कुरु शङ्कर त्वं नो चेत् प्रसूय मम किं फलमीरय त्वम् ॥
श्रीश० दि० , ५-७०

के साथ ही उनका नामोल्लेख हुआ है । अत: उसी के आधार पर उनके चरित्र-चित्रण का संक्षिप्त प्रयास किया गया है ।

उभयभारती की माँ वात्सल्य की प्रति प्रतिमूर्ति थीं । वे अपनी पुत्री की हितचिन्तक थीं । वे अपनी पुत्री की शादी उसी व्यक्ति से करना चाहती थीं जिसके विषय में उन्हें विस्तृत जानकारी हो तथा जो विद्या , धन , कुल और चरित्र आदि से सम्पन्न हो।[1] कन्या को ससुराल में कोई कष्ट न हो इस कारण उसकी विदाई के समय उन्होंने उसे अनेक हितकारी उपदेश दिये थे ।[2] उन्होंने वर की माँ को भी पुत्री की त्रुटियों के प्रति ध्यान न देने के लिये कहा ।[3] पुत्री के स्वभाव का परिचय भी उन्होंने वरपक्ष के लोगों को दिया था ।[4] इन सभी व्यवहारों का मुख्य प्रेरक पुत्री के प्रति स्नेह ही हो सकता है ।

४- निष्कर्ष

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' के पात्रों का अलग-अलग सूक्ष्म , विस्तृत और

१- दूरे स्थिति: श्रुतवय: कुलवृत्तजातं न ज्ञायते तदपि किं प्रवदामि तुभ्यं ।
विद्यान्विताय कुलवृत्तसमन्विताय देया सुतेति विदितं श्रुतिलोकयोश्च ।।
श्रीश० दि० , ३-३४

२- वत्से त्वमधुनाभितासि दशामपूर्वां तद्रक्षणे निपुणधीर्भव सुभ्रु नित्यम् ।
कुर्यान्न बालविहृतिं जनतोपहास्यां सा नाविदापरमियं परितोषयेथे ।।
श्रीश० दि० , ३-९६, इसके अतिरिक्त ३-७० से ७६ तक ।

३- श्वश्रूर्वराया वचनेन वाच्या स्नुषाभिरक्षाऽऽयतते हि तस्याम् ।
निदोष भुक्ता तव सुन्दरीयं कार्यं गृहे कर्म शनै: शनैस्ते ।।
बाल्येषु बाल्याद् सुलभोऽपराध: स नैक्षणीयो गृहणीजनेन ।
वयं सुधीभूय हि सर्व एव पश्चाद् गुरुत्वं शनकै: प्रयाता: ।।
श्रीश० दि० , ३-६६ , ६७

४- श्रीश० दि० , ३-६१ से ६४ तक ।

और विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के पश्चात् समष्टिरूप से विचार करने पर जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं :

१- नायक के चरित्र के उत्कर्ष को दिखाने के लिये ही अनेक प्रतिनायकों का विधान हुआ है ।

२- कहीं-कहीं दो पात्रों के चरित्र को एक साथ ऐसा निवेदित कर दिया गया है कि उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नितान्त गौण हो जाता है । उदाहरण के लिये उभयभारती के माता-पिता का व्यक्तित्व एक साथ मिलाकर वर्णित हुआ है जिससे एक माँ के व्यक्तित्व में मातृत्व , सन्तान के प्रति वात्सल्य आदि की स्वाभाविक अभिव्यक्ति बिल्कुल ही नहीं हो पाती है ।

३- पात्रों के चरित्र का विकास स्वयं उनके व्यवहारों के माध्यम से हुआ है जिससे वे एक जीवन्त पात्र के रूप में अपनी अमिट छाप पाठकों पर छोड़ते हैं ।

इस प्रकार यह काव्य चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक सीमा तक सफल कहा जा सकता है ।

द श म अ ध्या य

श्री श ङ्क र दि ग्वि ज य में उ प ल ब्ध स म सा म यि क चि त्र ण

१- अवतारणा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाज में होने वाली प्रत्येक छोटी-बड़ी बात का जाने-अनजाने उस पर प्रभाव पड़ता रहता है । उसके व्यवहार में भी स्पष्ट रूप से इनका प्रभाव परिलक्षित होता है । साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से , सङ्गीतकार अपने सङ्गीत के माध्यम से तथा चित्रकार अपने चित्र के माध्यम से तत्कालीन समाज का परिचय अत्यन्त सहज ढङ्ग से दे ही देता है । साहित्य तो समाज की अच्छाइयों और बुराइयों दोनों को उजागर करने का एक सशक्त माध्यम है ।

प्राय: कवि की कुशलता इसी में आँकी जाती है कि वह जिस काल के इतिवृत्त को अपने काव्य का कथानक बनाये केवल उस काल की ही परिस्थितियों का चित्रण करे । इस दृष्टि से ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' एक सफल काव्य माना जा सकता है । इसमें नायक शङ्कराचार्यकालीन परिस्थितियों को प्रमुखता से चित्रित किया गया है । कहीं-कहीं श्रीशङ्करदिग्विजयकार माधवाचार्यकालीन परिस्थितियाँ भी फाँकती हुई प्रतीत होती हैं । आगे नायक(शङ्कराचार्य) कालीन और कवि माधवाचार्यकालीन परिस्थितियों का अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया गया है ।

२- नायककालीन परिस्थितियाँ

क- भूमिका

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' के सम्यक् अनुशीलन से यह स्पष्ट

प्रतीत होता है कि कवि माधवाचार्य को नायक शङ्करााचार्यकालीन सामाजिक परिस्थितियों का पर्याप्त ज्ञान था । इस कारण वे तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का अत्यन्त सजीव चित्रण करने में सफल हुए हैं । शङ्कराचार्य के काल-निर्धारण में विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न है तथापि छठी-सातवीं शताब्दी को इनका समय माना जाता है । अत: कवि ने इस काल की ही परिस्थितियों का वर्णन करने का प्रयास किया है और इस विषय में सफल भी हुए हैं । ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' एक चरितवर्णनात्मक काव्य है इसलिये कवि को सामान्य रूप से छठी-सातवीं शताब्दी के और विशेष रूप से चौदहवीं शताब्दी के समाज के चित्रण का बहुत अधिक अवसर उपलब्ध नहीं होता है फिर भी समाज का जो चित्रण हुआ है उसका विवेचन आगे किया जा रहा है ।

ख- वर्णाश्रम धर्म का विखराव

इस समय तक प्राचीन काल से चले आ रहे वर्णाश्रम धर्म से लोग द्वेष करने लगे थे ।[१]

ग- अनेक सम्प्रदायों का उदय

इस समय तक बौद्ध , शैव , वैष्णव , कापालिक और चार्वाक आदि सम्प्रदायों का न केवल उदय हो चुका था वरन् वे पर्याप्त

१- वर्णाश्रमसमाचारान् द्विषन्ति ब्रह्मविद्विष: ।

श्रीश० दि० , १-३२ ।

प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुके थे । बौद्धधर्म का सर्वाधिक प्रचार हुआ था ।[1] इसी से वैदिक धर्म को करारा धक्का लगा ।

घ- ब्राह्मणवाद का विरोध

बौद्धों के द्वारा ब्राह्मणों के क्रियाकलापों को निन्दा की जाने लगी थी । श्रुति के महत्व का अपलाप भी इनके द्वारा किया जाने लगा था ।[2] बौद्धों के द्वारा वेदवचनों को जीविका का साधन बतलाया जाने लगा था ।[3] बौद्धों के इस विरोध के फलस्वरूप अनेक ब्राह्मणों के द्वारा सन्ध्यावन्दन आदि धार्मिक कृत्य त्याग दिये गये थे । यज्ञ आदि क्रियाएँ नहीं होती थी । लोग यज्ञ के प्रति इतना अधिक द्वेष रखने लगे थे कि इन दो अक्षरों का श्रवण भी नापसन्द करते थे ।[4] इस प्रकार सर्वत्र ब्राह्मणवाद का विरोध लक्षित होने लगा था ।

१- वञ्चयन्सुगतान्बुद्धवपुर्धारी जनार्दनः ।।
तत्प्रणीतागमलम्बैर्बौद्धैर्दैशैर्दूषकैः ।
व्याप्तेदानीं प्रभो धात्री रात्रिः सन्तमसैरिव ।।
श्रीश० दि० , १-३०, ३१

२- अनन्यैनैव भावेन गच्छन्त्युत्तमपूरुषम् ।
श्रुतिः साध्वी मदन्तीवैः का वा शाक्यैर्नदूषिता ।।
श्रीश० दि० , १-३६

३- ब्रुवन्त्याम्नायवचसां जीविकामात्रतां प्रभो ।।
श्रीश० दि० , १-३२

४- न सन्ध्यादीनि कर्माणि न्यासं वा न कदाचन ।
करोति मनुजः कश्चित्सर्वे पाखण्डतां गताः ।।
श्रुती पिदधति श्रोत्रे क्रतुरित्यक्षरद्वये ।
क्रियाः कथं प्रवर्तेरन् कथं क्रतुभुजो वयम् ।।
श्रीश० दि० , १-३३ , ३४

केवल बौद्ध ही नहीं अपितु कापालिक सम्प्रदाय भी ब्राह्मणों के विरुद्ध हो गया था । इन लोगों ने तो ब्राह्मणों की हत्या भी शुरु कर दी थी ।[1]

जहाँ एक और जाति , वर्ण , धर्म अस्थिरता का वातावरण फैलाये हुए थे वहाँ दूसरी ओर उन्हें पूर्वावस्था में लाने का प्रयास भी ब्राह्मणों द्वारा किया जा रहा था । इस सन्दर्भ में राजा सुधन्वा का नाम प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया जा सकता है । उन्होंने वैदिक धर्म के आलोचक बौद्धों को मौत के मुँह में डलवा दिया था तत्पश्चात् निर्भय होकर कुमारिलभट्ट के द्वारा सर्वत्र वैदिक धर्म का प्रचार करवाया ।[2] कुछ लोगों के द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन किया जा रहा था तथा उपनयन संस्कार को भी महत्वपूर्ण समझा जा रहा था । इस प्रकार स्पष्ट हो रहा है कि

- -

१- सद्यः कृत्तद्विजशिरःपङ्कजार्चितभैरवैः ।
न ध्वस्ता लोकमर्यादा का वा कापालिकाधमैः ॥
शं० दि० , १-३७

२- अथेन्द्रो नृपतिर्भूत्वा प्रजा धर्मेण पालयन् ।
दिवं चकार पृथिवीं स्वपुरीममरावतीम् ॥
निरस्ताखिलसन्देहो विन्ध्यस्तैतदर्शनात् ।
व्यधादाज्ञां ततो राजा वधाय श्रुतिविद्विषाम् ॥
आसेतोरातुषाराद्रेर्बौद्धानावृद्धबालकम् ।
न हन्ति यः स हन्तव्यो भृत्यानित्यन्वशान्नृपः ॥
क्षतेषु तेषु दुष्टेषु परिसस्तार कोविदः ।
भौतवर्त्मे समिद्धेषु नष्टेष्विव रविर्महः ॥
शं० दि० , १-५८ , ६२ , ६३ , ६६

उस समय समाज में ब्राह्मण-वर्ग दो भागों में बँट गये थे । प्रथम वे जो स्ववृत्ति को त्यागकर नास्तिकता का वातावरण फैलाये हुए थे तथा द्वितीय वे जो संयम से स्ववृत्ति अपनाये हुए थे ।

ख०- गुरुकुलों में विद्याध्ययन की प्रवृत्ति

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में विद्याध्ययन के लिये शिष्यों के गुरु के गृह में निवास करने का उल्लेख हुआ है । अन्तेवासी गुरु के आश्रम में वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन करता था । सन्ध्यावन्दन आदि नित्यकर्मों को करता हुआ वह गुरु की सेवा किया करता था ।[1] इस काल में शिष्य के द्वारा भिक्षाटन करके गुरु-दक्षिणा जुटाने का भी उल्लेख मिलता है ।[2]

गुरु को विशेष आदर दिया जाता था । "गुरु का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा है" यह मान्यता समाप्त नहीं हुई थी । इस विषय में पद्मपाद, तोटकाचार्य आदि की गुरुभक्ति पुष्ट प्रमाण है ।[3] गुरु

१- स ब्रह्मचारी गुरुगेहवासी, तत्कार्यकारी विहितान्नभोजी ।
सायं प्रभातं च हुताशसेवी, व्रतेन वेदं नियमध्यगीष्ट ।।
श्रीश० दि०, २-६

२- स हि जातु गुरोः कुले वसन् सवयोभिः सह भैक्ष्यलिप्सया ।
भगवान् भवनं द्विजन्मनो धनहीनस्य विवेश कस्यचित् ।।
श्रीश० दि०, ४-२१

३- सन्तारिकाऽभवधिसंसृतिसागरस्य
किं तारयेन्न सरितं गुरुपादभक्तिः ।
इत्यञ्जसा प्रविशतः सलिलं सुधीन्धुः
पद्मान्युदञ्चयति तस्य पदे पदे स्म ।।
श्रीश० दि०, ६-७०

से प्राप्त ज्ञान का खण्डन गुरु के कुल के विनाश के समान घोर पाप माना जाता था। इस पाप का प्रायश्चित्त कुमारिलभट्ट ने अपने शरीर को भूसे की सुलगती अग्नि में भस्म करके किया था।[1]

च- विवाह

उस समय भी विवाह आजकल के समान कन्या तथा वर के माता-पिता के द्वारा तय किये जाते थे। वर के कुल, निवासस्थान आदि की अपेक्षा उसकी योग्यता पर विशेष ध्यान दिया जाता था।[2] कन्या के कुलशील पर अवश्य गम्भीरता से विचार किया जाता था।[3]

- -

१- एकाक्षरस्यापि गुरुः प्रदाता शास्त्रोपदेष्टा किमु भाषणीयम्।
अहं हि सर्वज्ञगुरोरधीत्य प्रत्यादिशे तेन गुरोर्मेहागः ॥
दोषद्वयस्यास्य चिकीर्षुरेनं यथोदितां निष्कृतिमाश्रयाशयम्।
प्राविक्षमेष्य - - - - - - - - - - - - - - - - - - ॥
प्रायोऽधुना सद्गुणप्रवाधशान्त्यै प्राविक्षमायै तुषपावकमासदीदाः।
श्रीश० दि०, ७-१००, १०२, १०५

२- दूरे स्थितिः श्रुतवयः कुलवृत्तजातं न ज्ञायते तदपि किं प्रवदामि तुभ्यम्।
विद्यान्विताय कुलवृत्तसमन्विताय देया सुतेति विदितं श्रुतिलोकयोश्च ॥
नैवं नियन्तुमनघे तव शक्यमेतत् तां रुक्मिणीं यदुकुलाय कुशस्थलीशे ॥
प्रादात् स भीष्मकनृपः खलु कुण्डिनेशस्तीर्थोपदेशमटते त्वपरीक्षिताय ॥
श्रीश० दि०, ३-३४, ३५

३- बहुष्वपि दायिषु बहुष्वपि सत्सु देशे कन्याप्रदातृषु परीक्ष्यविशिष्टजन्म।
कन्यामयाचत कुलाय स विप्रवर्यो विप्रं विशिष्टकुलं प्रथितानुभावः ॥
श्रीश० दि०, २-२८

विवाह के सम्बन्ध में कन्या तथा उसकी माँ की सहमति भी ली जाती थी ।[1] वैवाहिक सन्देश ब्राह्मणों द्वारा प्रेषित किया जाता था ।[2] सम्बन्ध पसन्द आने पर विवाह का शुभमुहूर्त निकाला जाता था । उसी शुभमुहूर्त में वर पक्ष कन्या के घर बारात लेकर जाता था ।[3] कन्या पक्ष के द्वारा बारातियों की आगवानी की जाती थी और स्वागतार्थ उनको मधुपर्क आस्वादित कराया जाता था । उनके चरणों को प्रक्षालित किया जाता था ।[4]

१- मत्वं तदुक्तमभिरोचित एव विप्रौ पृष्ट्वा वधूं मम पुन: करवाणि नित्यम् ।
कन्याप्रदानमिदमायतते वधूषु नौ चेदमूर्व्यसनसक्तिषु पीडयेयु: ॥
मा भूदयं मम सुताकलह: कुमारीं पृच्छाव सा वदति यं भविता वरोऽस्या: ।
एवं विधाय समयं पितरौ कुमार्या अभ्याशमीयतुरितौ गदितेष्टकार्यौ ॥
श्रीश० दि० , ३-३२ , ४१ ।

२- पुत्रेण सोऽतिविनयं गदितोऽन्वशाद् द्वौ विप्रौ वधूवरणकर्मणि सम्प्रवीणौ ।
तावापतुर्द्विजगृहं द्विजसन्निदृग्नू देशानतीत्य बहुलान्निजकार्यसिद्धयै ॥
श्रीश० दि० , ३-२७

३- मौहूर्तिकैर्बहुभिरेत्य मुहूर्तकाले सन्दर्शिते द्विजवरैर्बहुविद्भिरिष्टै:
माङ्गल्यवस्तुसहितोऽखिलभूषणाढ्य: स प्रापदात्ततनु: पृथुशोणतीरम्
श्रीश० दि० , ३-४८

४- शोणस्य तीरमुपयातुमपाशृणोत् स जामातरं बहुविधं किल विष्णुमित्र: ।
प्रत्युज्जगाम मुमुदे प्रियदर्शिन प्रावीविशद् गृहममुं बहुनाथघोषै: ॥
दत्त्वाऽऽसनं मृदु वच: समुदीर्य तस्मै पाद्यं ददौ समधुपर्कमनर्घपात्रे ।
अर्घ्यं ददावहमियं तनया गृहास्ते गावो हिरण्यमखिलं भवदीयमुवे ॥
श्रीश० दि० , ३-४९ , ५०

अग्नि को साक्षी मानकर पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होते थे । वर तथा कन्या अग्नि में गृह्यसूत्रोक्त विधि से हवन करते थे और अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे । हवनाग्नि की रक्षा करनी पड़ती थी । पाणिग्रहण के समय भेरी , मृदङ्ग , नगाड़े और शङ्ख बजाये जाते थे । वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था ।[1]

बारातियों का स्वागत न केवल भोजन और मृदुवचन से किया जाता था अपितु उन्हें उनकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ प्रदान करके भी किया जाता था ।[2] दहेज की प्रथा पर्याप्त विकसित थी । वरपक्ष को आकर्षित करने के लिये दहेज की उच्च बोलियाँ बोली जाती थीं । विवाह-संस्कार कन्या के अतिरिक्त वर के घर में भी सम्पन्न होने का सङ्केत प्राप्त होता है ।[3]

१- जग्राह पाणिकमलं हिममित्रसूनुः श्रीविष्णुमित्रदुहितुः करपल्लवेन ।
भेरीमृदङ्गपटहाध्ययनाब्जघोषै दिङ्मण्डले सुपरिमूर्छति दिव्यकाले ।।
आधाय वह्निमथ तत्र जुहाव सम्यग्गृह्योक्तमार्गमनुसृत्य स विश्वरूपः ।
लाजाञ्जुहाव च वधूः परिजिघ्रति स्म धूमं प्रदक्षिणमथाकृत सोऽपि चाग्निम् ।।
श्रीश० दि० , ३-५७ , ५६

२- यद्यद्गृहेऽत्र भगवन्निह रोचते ते तत्तन्निवेद्यमखिलं भवदीयमेतत् ।
श्रीश० दि० , ३-५२

३- सङ्कल्पिताद् द्विगुणमर्थमहं प्रदास्ये मद्गेहमेत्य परिणातिरियं कृता चेत् ।
अर्थं विना परिणयं द्विज कारयिष्ये पुत्रेण मे गृहगता यदि कन्यका स्यात् ।।
श्रीश० दि० , २-३०

सासों के वधुओं पर पूर्ण आधिपत्य होने के सङ्केत प्राप्त होते हैं।[1] तभी तो उभयभारती की विदाई के समय उसके पिता ने उसकी सास के लिये मधुर और विनम्र सन्देश भिजवाया था। पति को सर्वस्व समझने के लिये कन्या के प्रति उपदेश किया जाता था।[2]

ऋग्वेदकालीन समाज में गार्हस्थ्य, यज्ञ तथा प्रजोत्पादन के लिये विवाह की अनिवार्यता अङ्गीकार हुई थी। यह शङ्कराचार्य के समय में भी उसी मानसिकता के साथ विद्यमान थी। हिन्दू परिवारों में पुत्र को महत्त्वपूर्ण समझा जाता था।[3] पिण्डदान के तारतम्य को बनाये रखने के लिये विवाह के पश्चात् पुत्रजन्म आवश्यक समझा जाता था।[4] पुत्र के बिना लोग अपना जीवन निष्फल मानते थे।

- -

१- श्वश्र्वैराया वचनेन वाच्या स्नुषाभिरद्धाऽऽश्यतते हि तस्याम्।
निदोषपुत्रा तव सुन्दरीयं कार्यां गृहे कर्म शनैः शनैस्ते ॥

श्रीशा० दि०, ३-६६

२- पाणिग्रहात्स्वाधिपती समीरितौ पुराकुमार्याः पितरौ ततः परम्।
पतिस्तमेकं शरणं व्रजानिशं लोकद्वयं जेष्यसि येन दुर्जयम् ॥

श्रीशा० दि०, ३-७० ; ७१ से ७४ तक

३- रविन्दन्यनाः श्शुरः कृतकार्यशेषो जायामवष्ट सुमगे किमतः परं नो।
साङ्गं वयोऽधीमगमत्कुलजो न दृष्टं पुत्राननं यदिहलोकसमुदाहरन्ति ॥
एवं प्रिये गतवतो; सुतदर्शने चेत्स्यद्वत्वमेष्यदय नो शुभमापतिष्यत्।
अस्याम्युपायमिदं भुवि वीक्षमाणो नेष्ये ततः पितृजनिविफला ममाभूत् ॥
भद्रे सुतेन रहितो भुवि के वदन्ति नो पुत्रपौत्रशरणिक्रमतः प्रसिद्धिः
लोके न पुष्पफलशून्यमुदाहरन्ति वृक्षं प्रवालमयमेव फलं विहाय ॥

श्रीशा० दि०, २-४३, ४४, ४५

४- तत्तत्कुलीनपितरः स्पृहयन्ति कामं तत्तत्कुलीनपुरुषस्य विवाहकर्म।
पिण्डप्रदातृपुरुषस्य ससंततित्वे पिण्डाविलोपमुपरि स्फुटमीक्षमाणाः ॥

श्री०शा० दि०, ३-१३

छ- स्त्रियों की दशा

तत्कालीन समाज में स्त्रियों को उच्च स्थान प्राप्त था । वे पुरुषों के समान ही शिक्षा, धर्म आदि कार्यों में भाग लिया करती थीं । वे शास्त्रार्थ भी किया करती थीं ।[1] इससे भी बढ़कर उन्हें इस प्रकरण में निर्णायक बनने का भी अधिकार प्राप्त था । इस प्रसङ्ग में उभयभारती (मण्डनमिश्र की पत्नी) का नाम उल्लेखनीय है । पति के पराजित हो जाने पर वह स्वयं शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ करने के लिये उद्यत होती हैं ।

कन्याएँ अपने विवाह के विषय में मन्त्रणा देती थीं । योग्य कन्याएँ अपने विवाह के लिये शुभ मुहूर्त निकालने में नहीं हिचकती थीं ।[2] पुत्री के विवाह के विषय में उसकी माँ का निर्णय भी महत्वपूर्ण रहता था ।[3]

- -

१- अपितु त्वयाऽद्य न समग्रजित: प्रथिताग्रणीर्मम पतिर्यदहम् ।
वपुरर्धमस्य न जिता मतिमन्नपि मां विजित्य कुरु शिष्यमिमम् ।
यदपि त्वमस्य जगत: प्रभवो ननु सर्वविच्च परम: पुरुष: ।
तदपि त्वयैव सह वादकृते हृदयं बिभर्ति मम कौतुकिताम् ।।

श्रीश० दि० , ८-५६ , ५७

२- अस्माच्चतुर्दशदिने भविता दशम्यां यामित्रमादिशुभयोगयुतो मुहूर्त: ।
एवं विलिख्य गणितादिषु कौशलाख्या व्याख्यापराय दिशति स्म सरस्वती सा ।

श्रीश० दि० , ३-४४

३- मत्वं तदुक्तमभिरोचत एव किन्तु विप्रो
पृष्ट्वा वधूं मम पुन: करवाणि नित्यम् ।
कन्याप्रदानमिदमायतते वधूषु
नो चेदमूर्ध्यसदृशविषयु पीडयेयु: ।।

श्रीश० दि० , ३-३२

संन्यासियों के लिये किसी व्यक्ति का दाह-संस्कार करना सामान्यत: निषिद्ध माना जाता है । शङ्कराचार्य द्वारा अपनी माँ का दाह-संस्कार करना[1] स्त्रियों के प्रति श्रद्धा और आदर को ही सूचित करते हैं ।

राजा की स्त्रियाँ विलासी जीवन व्यतीत करती थीं । मद्य और द्यूत व्यसनी होती थीं ।[2]

उपर्युक्त सभी परिस्थितियाँ छठी और सातवीं शताब्दी की हैं । इसकी पुष्टि तत्कालीन ऐतिहासिक साक्ष्यों[3] से भी होती है । इसी समय बौद्धधर्म का व्यापक प्रचार हुआ था । अत: शङ्कराचार्यकालीन परिस्थितियाँ और बुद्धकालीन समाज की परिस्थितियाँ समान हैं ।

३- माधवाचार्यकालीन परिस्थितियाँ

क- भूमिका

इससे पूर्व शङ्कराचार्यकालीन सामाजिक दशा का अध्ययन

- -

१- सन्निवेश्य काष्ठानि सुशुष्कवन्ति गृहोपकण्ठे धृततोयपात्र: ।
स दक्षिणे दोष्णि ममन्थ वह्निं ददाह तां तेन च संयतात्मा ।।
श्रीश० दि० , १४-४८

२- स्फटिकफलकै ज्योत्स्नाशुभ्रे मनोज्ञशिरोगृहे
वरयुवतिभिर्दीव्यन्द्यौदुरोदरकेलिषु ।
अधरजसुधाश्लेषाद्धृष्यं सुगन्धिमुखानिल -
व्यतिकरवशात्कामं कान्ताकरोपात्तिप्रियम् ।
मधु मधुकरं पायं पायं प्रिया: समपाययन्
कनकचषकैरिन्दुच्छायापरिष्कृतमादरात् ।।
श्रीश० दि० , १०-१२ , १३

३- द्रष्टव्य - डॉ० मदनमोहन सिंह - बुद्धकालीन समाज और धर्म ,प्रथम संस्करण

किया गया है । इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि माधवाचार्य स्वयं अपने काल की परिस्थितियों से अप्रभावित थे । इन्होंने अपने समय (१४ वीं शताब्दी) की परिस्थितियों का भी चित्रण किया है । इसका विवरण इस प्रकार है :

ख- तुर्कों का आगमन

उस समय तक तुर्कों आदि का भारत में आगमन हो चुका था । तुर्कों के स्पर्श को अपवित्र माना जाता था ।[1]

ग- स्त्रियों की दशा

अल्पवय में ही कन्याओं का पाणिग्रहण संस्कार उत्तम माना जाता था । रजोदर्शन के पश्चात् पुत्री का विवाह माता-पिता को घोर नरक में डालने वाला समझा जाता था ।[2] स्त्रियों के ऊपर पुरुषों

- -

१- अ- सामोदैरनुमोदिता मृगमदैरामन्त्रिता चन्दनै-
मन्दारैरभिनन्दिता प्रियगिरा काश्मीरजैः स्मारिता ।
वागेषा नवकालिदासविदुषो दोषोज्झिता दुष्कवि-
व्रातैनिष्करुणैः क्वचित विकृता धैनुष्कतुरुष्कैरिव ।।
शं० दि० , १-१०

ब- यह विवरण माधवाचार्य का स्वतन्त्र रूप से मिलता है ।

२- अ- सर्वात्मना दुहितरो न गृहे विधेया -
स्ताश्चेत्पुरा परिणयाद्रजं उद्गतं स्यात् ।
गत्वैव पुरात्मपितरौ का पातयन्ति
दुःखेषु घोरनरकेष्विति धर्मशास्त्रम् ।।
शं० दि० , ३-४०

ब- यह विवरण व्यासाचल के " शङ्करविजयः " ग्रन्थ पर आधारित है ।

का आधिपत्य होता था । कन्या पिता के संरक्षण में रहती थी । पत्नी पति के संरक्षण में रहती थी और विधवा पुत्र के संरक्षण में रहती थी ।[1] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था थी ।

घ- निष्कर्ष

माधवाचार्य ने अपने समय की परिस्थितियों का बहुत ही कम विवरण दिया है । यह समीचीन भी है क्योंकि कवि की सफलता इसी में है कि वह अपने समय का कम उल्लेख करे और जिस काल के चरित्र को अपना इतिवृत्त बनाये उसी समय की परिस्थितियों का प्रधानता से वर्णन करे ।

४- निष्कर्ष

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में उपलब्ध समसामयिक चित्रण के अवलोकन से ये निष्कर्ष प्राप्त होते हैं -

१- शङ्कराचार्य और माधवाचार्य दोनों के समय की परिस्थितियों का समुचित चित्रण हुआ है ।

- -

१- अ- पाणिग्रहात्स्वाधिपती समीरितौ पुराकुमार्याः पितरौ ततः परम् ।

श्रीश० दि० , ३-७०

ब- मम सुतः प्रथमं शरणं भवस्तदनु मे शरणं तनयोऽभवत् ।।

श्रीश० दि० , ५-६३

स- इस अनुच्छेद का विवरण व्यासाचल के " शङ्करविजयः " ग्रन्थ पर आधारित है ।

का आधिपत्य होता था । कन्या पिता के संरक्षण में रहती थी । पत्नी पति के संरक्षण में रहती थी और विधवा पुत्र के संरक्षण में रहती थी ।[1] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय पुरुष प्रधान सामाजिक व्यवस्था थी ।

घ- निष्कर्ष

माधवाचार्य ने अपने समय की परिस्थितियों का बहुत ही कम विवरण दिया है । यह समीचीन भी है क्योंकि कवि की सफलता इसी में है कि वह अपने समय का कम उल्लेख करे और जिस काल के चरित्र को अपना इतिवृत्त बनाये उसी समय की परिस्थितियों का प्रधानता से वर्णन करे ।

४- निष्कर्ष

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में उपलब्ध समसामयिक चित्रण के अवलोकन से ये निष्कर्ष प्राप्त होते हैं -

१- शङ्कराचार्य और माधवाचार्य दोनों के समय की परिस्थितियों का समुचित चित्रण हुआ है ।

- -

१- अ- पाणिग्रहात्स्वाधिपती समीरितौ पुराङ्गनायाः पितरौ ततः परम् ।
श्रीश० दि० , ३-७०

ब- मम भर्तुः प्रथमं शरणं भवस्त्वद्य मे शरणं तनयोऽभवत् ।।
श्रीश० दि० , ५-६३

स- इस अनुच्छेद का विवरण व्यासाचल के " शङ्करविजयः " ग्रन्थ पर आधारित है ।

२- प्राय: कवि अपने समय की परिस्थिति के दर्पण में ही नायक के समय की परिस्थितिरूपी बिम्ब को देखता है परन्तु इस ग्रन्थ में कवि माधवाचार्य ने अपने समय की परिस्थिति और नायक शङ्कराचार्य के समय की परिस्थिति से भली-भाँति परिचित होकर उन्हें चित्रित किया है। उन्होंने अपने समय की किसी भी परिस्थिति को नायक शङ्कराचार्य के सन्दर्भ में आरोपित नहीं किया है।

३- समसामयिक चित्रण के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि इस ग्रन्थ में समाज की परिस्थितियों के केवल सामान्य और अधिकतम प्रचलित पक्ष का चित्रण किया गया है। विशेष या सूक्ष्म विवरण अप्राप्त है।

एकादश अध्याय

श्री शङ्करदिग्विजय में प्राचीन सूत्रों के सन्दर्भ

१- अवतारणा

जीवन और काव्य का सम्बन्ध बहुत सूक्ष्म और बड़ा ही व्यापक है। मानव-जीवन के आदर्शभूत मूल्यों और जिन श्रेष्ठ गौरवमयी परम्पराओं को मनीषियों ने समाज में चरितार्थ किया है और धर्मशास्त्र में उपदेश किया है उन्हें जनजीवन में सुप्रचारित करने का श्रेय काव्य को भी प्राप्त है। यही कारण है कि काव्यों में इन मूल्यों-परम्पराओं के अनुपालन के लिये प्रसिद्ध व्यक्तियों का जीवनचरित उल्लिखित होता रहा है।

काव्य के उपर्युक्त कार्य को दृष्टि में रखकर ही सम्भवतः काव्यशास्त्रियों ने कुशल कवियों के लिये लोकशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य बताया है।[१]

लोकशास्त्र का एक अङ्ग पुराणेतिहास भी है। पुराणों में हमारे प्राचीन आदर्श और भारतीय संस्कृति सुरक्षित हैं। महाराज युधिष्ठिर, हरिश्चन्द्र आदि की कथाएँ सत्य के लिये, दधीचि, शिबि, बलि और कर्ण आदि की कथाएँ दान के लिये, सती, सीता और सावित्री आदि की कथाएँ नारियों के पातिव्रत्य के लिये, अगस्त्य और

- -

१- अ- शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।

का० प्र० , का० सं० - ३

ब- शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रया: कथा: ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्या काव्यैरमी ।।

भामह - काव्यालङ्कार, १-९

च्यवन आदि के कृत्य अक्रोश के लिये प्रसिद्ध हैं तथा ये सामाजिकों को सदनुकूल आचरण के लिये प्रेरित करती हैं । इन मार्गदर्शक कथाओं को कवि अपने काव्य में स्थान देकर सदैव लोगों का कल्याण करता रहता है ।

कवि माधवाचार्य भी अपने ग्रन्थ में प्रेरक प्राचीन वृत्तों के माध्यम से लोगों को सन्मार्ग दिखाने का प्रयास किया है । ये कथाएँ एक से अधिक पुराणों में वर्णित हुई हैं । अत्यन्त प्रचलित कथाओं का सङ्केत माधवाचार्य ने इसलिये दिया है क्योंकि वे अपने काव्य का प्रचार घर-घर में करना चाहते थे और पौराणिक कथाएँ जनसामान्य को प्रिय होती हैं ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में पौराणिक कथाएँ अलङ्कारों के साथ-साथ आयी हैं जिसके कारण काव्य अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है ।

२- " श्रीशङ्करदिग्विजय " में उल्लिखित कथाओं का विवरण

अब यहाँ " श्रीशङ्करदिग्विजय " में सङ्केतित कथाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है :

क- पर्वतों का पृथ्वी पर पतन[१]

प्राचीन काल में पक्षियों के समान पर्वतों के भी पङ्ख होते थे । वे एक स्थान से दूसरे स्थान सरलता से आ-जा सकते थे । गतिशील इन

१- वाल्मीकि-रामायण , सुन्दरकाण्ड - प्रथम सर्ग - ११५ से ११७ तक

पर्वतों से सभी प्राणी और देवता को सदैव यह भय बना रहता था कि कहीं पर्वत उन्हीं के ऊपर न गिर पड़े । प्राणियों को इस भय से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से इन्द्र ने मैनाक पर्वत को छोड़कर सभी पर्वतों के पङ्ख़ों को काट दिया । पङ्ख़ों के कट जाने के कारण विवश वे सभी पर्वत पृथ्वी पर स्थिर हो गये ।

" श्रीशङ्कदिग्विजय " के प्रथम सर्ग में इस कथा का सङ्केत इस प्रकार प्राप्त होता है - कुमारिलभट्ट के अकाट्य तीक्ष्ण तर्कों से बौद्धगण उसी प्रकार धराशायी (किंकर्तव्य विमूढ़) हो गये जिस प्रकार इन्द्र के द्वारा पर्वतों के पङ्खों को काट दिये जाने पर वे (पर्वत) उसी क्षण धराशायी हो गये थे ।[1]

ख- <u>उपमन्यु का वृत्तान्त</u>[2]

मातुल के गृह में ईषद् दुग्ध का आस्वादन करने वाले उपमन्यु के मन में अधिक दुग्धपान की इच्छा उत्पन्न हुई । उन्होंने अपनी माँ से दुग्ध की याचना की परन्तु निर्धनता के कारण उनकी माँ उन्हें दूध देने में असमर्थ थीं । उपमन्यु के द्वारा बार-बार आग्रह किये जाने पर विवश अतएव दुःखी माँ ने उन्हें जल में बीजों की पिष्टि को घोलकर पिला दिया । इस कृत्रिम दूध का आस्वादन कर " यह दूध नहीं है "

- -

१- अधः कैतुर्विन्द्रेण जाताः पक्षेषु तत्क्षणम् ।
व्यूढकक्षीकीणा तथागतधराधराः ॥
श्रीश० दि० , १-७०

२- लिङ्ग पुराण , द्वितीय भाग - ७२ वाँ अध्याय ।

" यह दूध नहीं है " ऐसा अत्यन्त विह्वल होकर उन्होंने अपनी माता से शिकायत की । पुत्र की दयनीय दशा से दु:खी होकर माँ ने उन्हें शिव की आराधना के लिये प्रेरित किया । उपमन्यु ने हिमालय पर्वत पर जाकर शिव की कठिन तपस्या की । इस तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने उन्हें क्षीरोदधि दे दिया ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के द्वितीय सर्ग[1] में भगवान शङ्कर भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं - इसे प्रमाणित करने के लिये भक्त उपमन्यु को उद्धृत किया गया है ।

ग- परशुराम द्वारा अपनी माँ का वध[2]

एक दिन परशुराम की माँ पति के प्रयोग के लिये हवन के हेतु जल लेने गङ्गा नदी के तट पर गयी हुई थीं । वहाँ गन्धर्वराज " चित्ररथ " को अप्सराओं के साथ विहार करते हुए देखकर वे उनके प्रति आकृष्ट हो गयीं । जल-ग्रहण-रूप क्रिया को भूलकर वे निर्निमेष नेत्रों से गन्धर्वराज के सौन्दर्य का ही पान करती रहीं । कुछ देर बाद हवन की स्मृति आते ही वे तुरन्त घर की ओर भागीं परन्तु तब तक हवन करने का समय समाप्त हो चुका था । आश्रम में पहुँचने पर वे पति जमदग्नि के सामने जल का कलश रखते हुए हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं । जमदग्नि ने अपनी पत्नी के मन की बात समझ ली थी । अत: वे पत्नी के ऊपर क्रुद्ध हो गये । उन्होंने अपने पुत्रों को आदेश दिया कि इस पापिनी का वध कर डालो , परन्तु कोई भी पुत्र ऐसा करने के लिये तैयार नहीं था । अन्त में परशुराम ने अपने भाइयों सहित माँ का वध कर

१- भक्तेप्सितार्थपरिकल्पककल्पवृक्षं देवं भवाब्धिकथितं सकलार्थसिद्धयै ।
तत्रोपमन्युरनुभाव्य परं प्रमाणं नो देवतासु जडिमा जडिमा मनुष्ये ।।
श्रीश० दि० , २-४७

२- श्रीमद्भागवत , नवम स्कन्ध - १६ वाँ अध्याय ।

डाला । इस कार्य से प्रसन्न जमदग्नि ने परशुराम से वर माँगने के लिये कहा । परशुराम ने अपने भाइयों और माँ के पुनर्जीवित होने की इच्छा प्रकट की । इस प्रकार परशुराम की माँ और भाई पुनः जीवित हो गये ।

" श्रीशङ्कर दिग्विजय " के प्रथम सर्ग में इस कथा का सङ्केत इस प्रकार प्राप्त होता है - " महान व्यक्तियों के द्वारा दृष्टिदोष व्यक्ति प्रिय होता हुआ भी वध्य ही होता है । क्या भृगुनन्दन परशुराम ने साक्षात् अपनी माँ का वध नहीं कर डाला था ।[1]

घ- दधीचि का अस्थिदान और वृत्रासुर का वध[2]

सतयुग में कालेय नामक दानवों का समूह घोर अत्याचारी और दुर्मद हो गया था । इन लोगों ने वृत्रासुर के नेतृत्व में देवों से युद्ध भी करने को मन में ठान ली थी । देवों ने वृत्रासुर को मारने के लिये अनेक उपाय सोचे , परन्तु उन्हें कुछ सूझ नहीं रहा था । अन्त में वे इन्द्र के साथ ब्रह्मा की शरण में गये । ब्रह्मा ने उन्हें बताया कि वृत्रासुर महर्षि दधीचि की हड्डी से निर्मित होने वाले वज्र से ही मारा जा सकता है । अतः तुम लोग महर्षि दधीचि से उनकी हड्डी की याचना करो । इस प्रकार सब देवता विष्णु भगवान के साथ सरस्वती नदी के तट पर स्थित महर्षि दधीचि के आश्रम

- -

१- इष्टोऽपि दुष्टदोषश्चेद्वध्य एव महात्मनाम् ।
जननीमपि किं साक्षान्नावधीद्भृगुनन्दनः ॥
श्रीश० दि० , १-६४

२- अ- महाभारत , वनपर्व - ६८

ब- भागवतपुराण , षष्ठस्कन्ध - ६ , १० , १२ वाँ अध्याय ।

गये । इन लोगों ने उनको अपनी समस्या से अवगत कराया और अस्थिदान के लिये उनसे प्रार्थना की । महर्षि दधीचि ने इस प्रार्थना को सहर्ष स्वीकार कर लिया । इस प्रकार महर्षि दधीचि की हड्डी से त्वष्टा देवता की सहायता से वज्र बनाया गया और उसी से वृत्रासुर का वध किया गया ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में उपर्युक्त कथा का सङ्केत दो स्थलों पर प्राप्त होता है । प्रथम[1] महर्षि दधीचि के उदाहरण से शङ्कराचार्य को शिरोदान के लिये प्रेरित करने वाले कापालिक की उक्ति में तथा द्वितीय[2] इन्द्र के विशेषण के रूप वृत्रासुर के वध रूप में ।

ड०- विष्णु का वामनावतार[3]

देवताओं की सहायता के लिये भगवान विष्णु ने देवमाता अदिति के गर्भ से वामन का अवतार ग्रहण किया । तत्पश्चात् वे वामन ब्रह्मचारी के वेश में वे राजा बलि के यज्ञ-मण्डप में गये । इन्हें देखकर

- -

१- जना: परक्लेशसमस्यानभिज्ञा नक्तं दिवा स्वार्थकृतात्पचित्ता: ।
रिपुं निहन्तुं कुलिशाय वज्री दाधीचमादात् किल वाच्छितास्थि ।।
श्रीश० दि० , ११-१७

२- वत्र कृष्णमुनिना कथितं मे पुत्र तच्छृणु पुरा तुहिनाद्री ।
वृत्रशत्रुसुरसैन्यजुष्टं सन्नमित्रमुनिपूर्वकमात्र ।।
श्रीश० दि०., ५-१५३

३- अ- भागवत पुराण , प्रथम भाग - अष्टम स्कन्ध - २० वाँ अध्याय
ब- मत्स्य पुराण - २४४ वाँ और २४६ वाँ अध्याय ।

राजा बलि अत्यन्त प्रसन्न हुआ । इनका अत्यधिक स्वागत भी किया । उसने इनको सब कुछ समर्पण करने की भी इच्छा व्यक्त की परन्तु वामनवेशधारी भगवान विष्णु ने मात्र अपनी अग्नि की रक्षा के लिये तीन पग भूमि ही लेनी चाही । राजा बलि ने भूमि-दान के सङ्कल्प हेतु जैसे ही जल पात्र उठाया वैसे ही शुक्राचार्य वामनवेशधारी इनका परिचय देने लगे । इन्होंने यह भी कहा कि ये भगवान छल से तुम्हारी सारी सम्पत्ति ले लेंगे । अतः इन्हें भूमि मत दो । शुक्राचार्य के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर भी जब राजा बलि नहीं माने तब शुक्राचार्य ने इन्हें शाप दे दिया । शापित होकर भी राजा बलि ने सत्य को श्रेष्ठ धर्म मानते हुए भगवान को भूमिदान किया । भगवान वामन ने अपने एक पग से राजा बलि की सारी पृथ्वी नाप ली , शरीर से आकाश और भुजाओं से दिशाएँ घेर लीं । दूसरे पग से उन्होंने स्वर्ग को नाप लिया । तीसरा पग रखने के लिये राजा बलि की तनिक सी भी भूमि नहीं बची ।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' के पञ्चम सर्ग में इस कथा का सङ्केत इस प्रकार प्राप्त होता है - शङ्कराचार्य विष्णु भगवान से कई अंशों में श्रेष्ठ हैं । विष्णु ने दो पदों से त्रिभुवन को मापा था , परन्तु शङ्कराचार्य[1] ने ज्योतिरूप एक ही पद से त्रिभुवन को माप डाला - - - - - - - ।

- -

१- मितं पादेनैव त्रिभुवनमिहैकेन महसा
विशुद्धं तत् सत्वं स्थितिजनिलयेष्वप्यनुगतम् ।
दशाकारातीतं स्वमहिमनि निर्वेदरमणं
ततस्तं तद्विष्णोः परमपदमाख्याति निगमः ।।
श्रीश० दि० , ५-१११ ।

च- मन्दराचल द्वारा क्षीरसागर का मन्थन[1]

किसी समय में असुरों ने देवों पर विजय प्राप्त कर लिया था । असुरों के आधिपत्य से इन्द्र, वरुण आदि देवता अत्यन्त चिन्तित हुए । सभी देवता सुमेरु पर्वत के शिखर पर निवास करने वाले ब्रह्मा की शरण में गये और उनको अपनी व्यथा सुनायी । ब्रह्मा सबको साथ लेकर विष्णु के धाम गये । वहाँ पर सभी ने मिलकर विष्णु भगवान की स्तुति की । इससे प्रसन्न होकर विष्णु भगवान ने उन्हें बताया कि इस समय दैत्यों पर काल की विशेष कृपा है । अतः जब तक हम लोगों की उन्नति का समय नहीं आता तब तक हम लोगों के लिये उनसे सन्धि करना श्रेयस्कर है । सन्धि करने के पश्चात् उनके साथ मिलकर मन्दराचल को मथानी और सर्पराज वासुकि को रस्सी बनाकर मेरी (ब्रह्मा की) सहायता से समुद्र-मन्थन करना होगा । इस समुद्र-मन्थन से प्राप्त अमृत का पान करके तुम लोग अमर हो जाओगे । ब्रह्मा की इस मन्त्रणा के अनुसार देवों ने दैत्यों के सहयोग से समुद्र-मन्थन किया ।

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में उपर्युक्त कथा का दो अवसरों पर संकेत प्राप्त होता है । प्रथम शङ्कराचार्य के वचनों की प्रशंसा के अवसर पर[2] तथा द्वितीय शङ्कराचार्य की कीर्तिमाला की प्रशंसा के अवसर पर ।[3]

- -

१- भागवतपुराण, अष्टमस्कन्ध - ६ वाँ अध्याय; विष्णुपुराण, प्रथम अंश - नवम् अध्याय; मत्स्यपुराण, २४९ वाँ अध्याय ।

२- साशङ्कारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर -
क्षुभ्यत्क्षीरपयोधिवीचिनिचयैः श्लक्ष्णैः सुधावर्षिणाम् ।
- -
- - - - - - - - - - - - - - वर्यं स्तुतिगिरा वैदेशिको दैशिकः ।।
श्रीश० दि०, ४-९७

३- मन्थाद्रिक्षुब्धदुग्धार्णवनिकटसमुत्तोलकल्लोलमैत्री -
पात्रीभूता प्रभूता जयति यतिपतेः कीर्तिमाला विशाला ।।श्रीश० दि०, ४-१०३

छ- ब्रह्मा का कामोन्मुख होना[1]

ब्रह्मा ने लोक की रचना करने की इच्छा से, अपने हृदय में सावित्री का ध्यान करके तपस्या करनी प्रारम्भ की । जप करते-करते उनके निष्पाप शरीर के दो भाग हो गये । इनमें पहला अर्ध भाग नारी रूप में था और दूसरा अर्ध भाग पुरुष-रूप में था । नारी रूप का नाम शतरूपा पड़ा जो सावित्री, सरस्वती, गायत्री और ब्रह्माणी के नाम से भी विख्यात हुई । अपने शरीर से उत्पन्न होने वाली शतरूपा को ब्रह्मा ने अपनी पुत्री के रूप में स्वीकार किया । किन्तु शतरूपा के अतिशय मनोहारी रूप को देखकर वे कामबाण से व्यथित हो गये । वे शतरूपा के रूप-लावण्य की भूरिशः प्रशंसा करने लगे । ब्रह्मा की इस कामुक चेष्टा को देखकर वशिष्ठ आदि ऋषियों ने शोर मचाया कि " अरे !, हमारी बहन को आप क्या कह रहे हैं ? किन्तु ब्रह्मा इतने कामवश हो चुके थे कि उन्हें शतरूपा के मनोहर रूप को देखने के अतिरिक्त उस समय कुछ भी दिखाई-सुनाई नहीं दे रहा था । शतरूपा पिता ब्रह्मा को प्रणाम करके जब प्रदक्षिणा करने लगी तब ब्रह्मा के तीन अतिरिक्त मुख का निर्माण हो गया । जब शतरूपा ऊपर जाने लगी उस समय भी ब्रह्मा शतरूपा के परम मनोरम रूप को देखने की उत्कण्ठा रोक न सके । पुत्री के साथ अभिगमन की भावना रखने के कारण ब्रह्मा की सृष्टि के लिये की गयी परम दारुण तपस्या व्यर्थ हो गयी । इस दुर्भावना के कुपरिणामस्वरूप ब्रह्मा का जटाओं से आवृत ऊपर की ओर

१- मत्स्य पुराण - तीसरा अध्याय ; ब्रह्म पुराण - १०२ वाँ अध्याय और शिव महिम्नः स्तोत्र में भी उक्त कथा का उल्लेख मिलता है ।

पाँचवा मुख उत्पन्न हो गया । उन्होंने अपने पुत्रों पर सृष्टि का भार छोड़ दिया और पुत्री से विवाह करके सामान्य कामातुर व्यक्तियों के समान समुद्र में देवताओं के सौ वर्ष पर्यन्त रमण किया ।

ज- चन्द्रमा की कामुकता[1]

ब्रह्मा के पुत्र अत्रि नामक प्रजापति थे । इन अत्रि का पुत्र चन्द्रमा था । चन्द्रमा की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें सम्पूर्ण औषधियों , ब्राह्मणों और नक्षत्रगण का राजा बना दियाथा। धन-धान्य से पूर्ण चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया । उस यज्ञ में साक्षात् ब्रह्मा " ब्रह्मा " थे । अत्रि और भृगु " ऋत्विक् " थे अनेक मुनि और हरि यज्ञ के दर्शक थे । ऋषियों से भी सत्कार तथा अलभ्य ऐश्वर्य को प्राप्त कर चन्द्रमा पर राजमद सवार हो गया । उसने वाटिका में विहार करती हुई गुरुपत्नी तारा का अपहरण कर लिया । बृहस्पति के द्वारा बारम्बार याचना करने पर भी उसने तारा को वापस नहीं किया । अन्त में भगवान शङ्कर के नेतृत्व में बृहस्पति का चन्द्रमा से भयङ्कर युद्ध हुआ । युद्ध में भीषण हानि को देखकर ब्रह्मा ने चन्द्रमा की घोर निन्दा की । इससे लज्जित होकर अन्त में चन्द्रमा ने तारा को बृहस्पति को लौटाया ।

- -

१- विष्णुपुराण , चतुर्थ अंश - छठाध्याय ; ब्रह्मपुराण , नवमाध्याय ; ब्रह्मवैवर्तपुराण , प्रथम भाग - ५८ वाँ अध्याय ; मत्स्यपुराण - २३ वाँ अध्याय ; भागवत और भविष्य पुराण में भी उक्त कथा वर्णित है ।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" के पञ्चम सर्ग में ब्रह्मा और चन्द्रमा की कामुकता[1] का उल्लेख हुआ है । शङ्कराचार्य कामदेव से सदैव भयभीत रहते हैं । उनका विचार है कि कहीं ऐसा न हो कि चन्द्रमा के समान कामदेव उन पर भी अपना आधिपत्य जमा ले ।

क- मदनदाह[2]

तारक नाम दैत्य देवताओं का परमशत्रु था । उसका वध केवल भगवान शङ्कर का पुत्र ही कर सकता था । इसके लिये पार्वती और शङ्कर का समागम आवश्यक था । इसी उद्देश्य से कामदेव अपने मित्र बसन्त के साथ भगवान शङ्कर के आश्रम के समीप गया । वहाँ समाधि में लीन निश्चल भाव से बैठे हुए भगवान शङ्कर के वक्षस्थल को लक्ष्य करके आम्रवृक्ष के मनोहर गुच्छे पर अवस्थित होकर उस कामदेव ने एक बाण फेंका । उस समय भगवान शङ्कर पर्वत के समान धैर्यशाली होने पर भी थोड़ा कामोन्मुख हुए । इस बाहरी विघ्न को प्राप्त कर वे क्रोध से अभिभूत हो उठे और उन्होंने "हुंकार" का शब्दोच्चारण किया क्रोधावेश में उनका तृतीय नेत्र भी खुल गया । उन्होंने उस नेत्र से वृक्ष पर स्थित कामदेव को देखा । कामदेव पर शङ्कर की दृष्टि पड़ते ही वह तुरन्त भस्म हो गया ।

- -

१- स्मरेण किल मोहितौ विधिविधू च जातुत्वपौ
तथाऽहमपि मोहितोऽस्त्विचायिवीक्षापर: ।
कामस्य मोहितोमिति विमृश्य सोऽजागरीत्
यतीश्वरपुषा शिव: स्मरकृतातिवार्तोज्झित: ।।
श्रीश० दि० , ५-८३ ।

२- मत्स्यपुराण - १५४ वाँ अध्याय ; ब्रह्मपुराण - ३८ वाँ अध्याय और शिव आदि पुराण इस कथा का वर्णन करते हैं ।

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में शङ्कराचार्य को भगवान शङ्कर से श्रेयान सिद्ध करने के अवसर पर शङ्कर के मदनदाहकृत्य का उल्लेख हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त शङ्कराचार्य की प्रशंसा के अवसर पर इनको कामद्वेषी[2] कहने में इस कथा का सङ्केत मिलता है।

अ - परशुराम द्वारा कार्तवीर्य का पराजय[3]

एक बार जमदग्नि के सभी पुत्र वन गये हुए थे। उसी समय अनूपदेश का स्वामी शूरवीर कार्तवीर्य नाम का राजा इनके आश्रम में आया। जमदग्नि की पत्नी रेणुका ने फलफूल देकर उसका अतिथि सत्कार करना चाहा, परन्तु युद्धाभिलाषी और मदमत्त राजा ने आतिथ्य सत्कार को स्वीकार नहीं किया। अपनी शक्ति से आश्रम के वृक्षों को तोड़ डाला। रँभाती हुई गाय के बछड़े को खोलकर अपने साथ ले गया। परशुराम के वन से लौटने पर उनके पिता ने उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया। इसे जानकर तथा गाय को बछड़े के लिये बारम्बार रँभाते हुए देखकर वे अत्यन्त क्रुद्ध हुए। वे धनुषबाण लेकर तुरन्त कार्तवीर्य से युद्ध करने चल दिये। उन्होंने उसके परिघ के समान सुदृढ़ भुजाओं को भाले से गोद-गोद कर छिन्न-भिन्न कर डाला और उसे यमलोक पहुँचा दिया।

- -

१- अनङ्गजेताऽप्यविरूपदर्शनो जयत्यपूर्वो जगदद्वयीगुरुः ।। श्रीश० दि०, ४-१०८

२- आलोक्याऽऽननपङ्कजेन दधतं वाणीं सरोजासनं
शश्वत्सन्निहितश्रियाऽऽश्रितमुं विश्वम्भरं पूरुषम् ।
आयाराधितकोमलाङ्घ्रिकमलं कामद्विषं कोविदाः ।
शङ्कन्ते भुवि शङ्करं व्रतिकुलालङ्कारमङ्कागताः ।।
श्रीश० दि०, ४-१०६

३- महाभारत, वनपर्व - ११६ वाँ अध्याय ; भागवत पुराण, नवाँ स्कन्ध - १५ वाँ अध्याय ।

'श्रीशङ्करदिग्विजय' के अष्टम सर्ग[1] में उक्त कथा का सङ्केत मिलता है। शङ्कराचार्य मण्डनमिश्र की नगरी में जब आकाश से नीचे उतरने के समय उसी प्रकार प्रतीत हो रहे थे जिस प्रकार परशुराम कार्तवीर्य के पराजय के लिये उसके समीप जा रहे हों।

८- ययाति की दानवीरता[2]

नहुष का पुत्र राजा ययाति का नाम दानवीरों में आदर से लिया जाता है। एक बार अपने पुरवासी और दर्शनार्थियों सहित वह अपनी सभा में बैठा हुआ था उसी समय एक ब्राह्मण ने राजा से आकर कहा कि महाराज मैं गुरु-दक्षिणा देने के लिये आपसे कुछ भिक्षा माँगने आया हूँ। इस लोक में दाता याचक के भिक्षा माँगने पर क्रुद्ध हो जाते हैं। इससे मैंने आपसे पूछा कि आप मेरी प्रियवस्तु आज किस प्रकार देंगे? राजा ने कहा -'हे ब्राह्मण। तुम दानपात्र ब्राह्मण हो। मैं दान देकर किसी से नहीं कहता कि क्या दान दिया? न ही यह सुनता हूँ कि अमुक पदार्थ अदेय है। दान देकर कभी दुःखी नहीं होता हूँ अपितु प्रसन्न होता हूँ। मेरा स्वभाव याचना करने वाले पर क्रोध करना नहीं है। लो, अब मैं तुमको सहस्र गायें देता हूँ।' यह कहकर राजा ने उस ब्राह्मण को हजारों गायें दे दीं।

१- अथान्तरद्रु रत्नविचित्रवप्रां विलोक्य तां विस्मितमानसोऽसौ।
पुराणवत् पुष्करवर्त्मनितः पुरोपकण्ठस्थवने मनोज्ञे ॥
श्रीश० दि०, ८-२

२- महाभारत, वनपर्व - १९५ वाँ अध्याय।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में ययाति की दानवीरता का सङ्केत शङ्कराचार्य की दानवीरता के वर्णन के अवसर पर[1] प्राप्त होता है।

ठ- त्रिपुरवध[2]

तारक नाम राक्षस के तीन पुत्र थे - विद्युन्माली, तारकाक्ष और कमलाक्ष। इन तीनों भाइयों ने अपनी कठोर तपस्या से शिव को प्रसन्न कर लिया था। प्रसन्न होकर शिव ने इन्हें वरदानस्वरूप तीनपुर प्रदान किये। ये पुर एक-दूसरे से हजारों कोश की दूरी पर स्थित थे। इन पुरों को भगवान शिव ही केवल एक बाण से ध्वस्त कर सकते थे। इस पुर के सभी निवासी भगवान शिव के परम भक्त थे। वहाँ पर धर्म की दृढ़ स्थिति देखकर देवगण घबड़ा गये। वे ब्रह्मा की शरण में गये। ब्रह्मा ने उन्हें शिव के पास भेजा। शिव ने त्रिपुर का विनाश नहीं करना चाहा क्योंकि वहाँ धर्म का एक छत्र साम्राज्य था। कोई उपाय न देखकर विष्णु भगवान ने त्रिपुर में अधर्म के प्रचार हेतु एक मुण्डी को वहाँ भेजा। परिणामस्वरूप वहाँ के सभी व्यक्तियों ने शिव की पूजा करनी बन्द कर दी। चारों ओर अधर्म का वातावरण छा गया। इस सफलता से प्रसन्न होकर देवगण सहित विष्णु भगवान पुनः शिव के पास गये और त्रिपुर के विनाश के लिये प्रार्थना की। शिव इस प्रार्थना से सहमत हो गये। त्रिपुर नष्ट करने के उद्देश्य से जो रथ बनाया गया था उसका निम्न भाग पृथ्वी था। शिव के पार्श्व में चलने वाले दो गणों का धुंआ बनाया गया। सिर के नीचे रखने

१- वसु ददाति ययातिवदर्थिने वदति गीष्पतिवद् गिरमर्थवित्।
श्रीश० दि०, १०-५

२- मत्स्य पुराण, १३३ वाँ अध्याय; भागवत पुराण, सप्तम स्कन्ध - १० वाँ अध्याय; लिङ्ग पुराण, १०४ वाँ अध्याय तथा शिवपुराण में भी उपर्युक्त कथा मिलती है।

के लिये मेरु शिखर की तकिया बनायी गयी । मन्दराचल से दो पहियों का अड्डा बनाया गया । चन्द्रमा और सूर्य सुवर्ण और रजतमय रथ के दो चक्के बनाये गये । छहों ऋतुओं से समन्वित सम्वत्सर का धनुष बनाया गया ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में उपर्युक्त कथा का सङ्केत शङ्कराचार्य को भगवान शङ्कर से श्रेयान् सिद्ध करने के अवसर[१] पर प्राप्त होता है ।

ड- ध्रुव आख्यान[२]

स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र थे । उत्तान पाद की दो पत्नियाँ थीं - सुरुचि और सुनीति । इनमें सुरुचि नामक पत्नी से उत्तम तथा सुनीति नामक पत्नी से ध्रुव नामक पुत्र उत्पन्न हुए । एक दिन राजसिंहासन पर आरूढ़ पिता की गोद में उत्तम को बैठे देखकर ध्रुव ने भी वैसी ही इच्छा प्रकट की परन्तु समीप में खड़ी ध्रुव की विमाता सुरुचि के डर से राजा ने ध्रुव को अपनी गोद में नहीं बैठाया । इस अपमान से ध्रुव अत्यन्त दु:खी हुआ और उसने अपनी सारी व्यथा माँ से कही । माँ ने विष्णु भगवान को प्रसन्न करने का उपदेश किया । ध्रुव माँ को

- -

१- न धर्मः सौवर्णो न पुरुषफलेषु प्रवणता
न चैवाहोरात्रस्फुरदरियुतः पार्थिवरथः ।
अथाप्याहुर्येनैवं सति विततपूर्षट्कजयि
कथं तं न ब्रूयान्निगमनिकुरम्बं परशिवम् ।। श्री श० दि० , ५-११३

२- विष्णु पुराण , प्रथम अंश - १२ वाँ अध्याय ; लिङ्गपुराण - भाग- प्रथम - ४४ वीं कथा ; भागवत पुराण , चतुर्थ स्कन्ध - ८ , ९ वाँ अध्याय ; ब्रह्म और मत्स्य पुराणों में भी अतिसंक्षेप में इस कथा का उल्लेख हुआ है ।

मन्त्रणा के अनुसार घोर जङ्गल में विष्णु भगवान की कठोर तपस्या की और अन्त में इनको प्रसन्न कर लिया । प्रसन्न विष्णु भगवान ने सम्पूर्ण जगत् का आश्रयभूत, श्रेष्ठ, और सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुद्ध, बृहस्पति, शुक्र, और शनि ग्रहों, नक्षत्रों और सप्तर्षियों से ऊँचा, अव्यय स्थान उसे प्रदान कर कल्पपर्यन्त रहने का वरदान किया ।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में शङ्कराचार्य की प्रशंसा के अवसर पर उक्त कथा का सङ्केत इस प्रकार प्राप्त होता है - "पूर्वपुण्यसमूह से प्राप्य, श्रेष्ठ यतियों के द्वारा पूज्य, अन्तिम आश्रम संन्यासाश्रम में प्रवेश कर शङ्कराचार्य उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार सूर्य आदि देवताओं से पूजित उन्नत स्थान प्राप्त कर ध्रुव सुशोभित होता है।[1]

ढ- भक्तप्रह्लाद की कथा[2]

हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद भगवान का अत्यन्त भक्त था । नास्तिक हिरण्यकशिपु को पुत्र की भगवद्भक्ति पसन्द नहीं थी । इस कारण वह प्रह्लाद को तरह-तरह से उत्पीड़ित किया करता था । कभी उसने पुत्र को जहर दिलवाया, कभी गर्म लोहे से जलवाया, कभी उसे

१- सोऽधिगम्य चरमाश्रममार्यैः पूर्वपुण्यनिचयैरधिगम्यम् ।
स्थानमव्ययमपि संसुरोघैरुन्नतं ध्रुव इवैत्य चकाशे ।।
श्रीश० दि०, ५-१०७

२- भागवत पुराण, सप्तम स्कन्ध - ८ वाँ अध्याय, इसके अतिरिक्त विष्णु पुराण, लिङ्ग पुराण और स्कन्द आदि पुराणों में भी उपर्युक्त कथा की चर्चा हुई है ।

दहको अग्नि और समुद्र में धक्का दिलवाया । लेकिन उसकी हत्या का कोई भी प्रयास सफल नहीं हुआ । अन्त में उसने स्वयं ही पुत्र को मारने का निश्चय किया । एक दिन प्रह्लाद के सहपाठियों के मुख से भगवान का नाम सुनकर हिरण्यकशिपु उसके ऊपर अत्यन्त क्रुद्ध हो गया । क्रोधावेश में वह तलवार लेकर सिंहासन से कूद पड़ा । खम्भे में जोर से मुष्टि प्रहार करके कहा कि " यदि तेरा ईश्वर सर्वव्यापक है तो वह इस खम्भे में दिखाई पड़े । हिरण्यकशिपु ज्योंहि प्रह्लाद की ओर लपका तुरन्त ही भयङ्कर गर्जना के साथ एक आकृति प्रकट हुई । जिसे देखकर हिरण्यकशिपु घबड़ा गये । घबराहट में उन्होंने उस नरसिंह की आकृति पर प्रहार किया । नरसिंह भगवान ने उसे अपनी जाँघों पर गिराकर नखों से उसके पेट को फाड़ डाला । इस प्रकार सर्वव्यापी ईश्वर ने नरसिंह का रूप धारण कर भक्त प्रह्लाद की रक्षा की ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के ग्यारहवें - सर्ग[१] में कापालिक से गुरु शङ्कराचार्य की रक्षा करने के वर्णन के अवसर पर उपर्युक्त कथा का सङ्केत उपलब्ध होता है ।

ग- रुक्मणी की कथा[२]

कुण्डिनपुर के राजा भीष्मक के रुक्मी नामक पुत्र और रुक्मणी नामक पुत्री थी । रुक्मणी श्रीकृष्ण से विवाह करना

- -

१- स्मरन्नथैष स्मरदातिहारि प्रह्लादवश्यं परमं महस्तत् ।
स मन्त्रसिद्धो नृहरिर्नृसिंहो भूत्वा ददर्शाग्रगुरोविचेष्टाम् ।।
श्रीश० दि० , ११-३८

२- ब्रह्मपुराण , ९९ वाँ अध्याय ; विष्णु पुराण , पञ्चम अंश - २६ वाँ अध्याय ; श्रीमद्भागवत पुराण - दशम स्कन्ध ; हरिवंश पुराण-वाँ सर्ग ।

चाहती थी । रुक्मणी के भाई रुक्मी की श्रीकृष्ण से शत्रुता थी । इस कारण पिता और भाई रुक्मणी का विवाह श्रीकृष्ण से नहीं करना चाहते थे । अतः इन लोगों ने रुक्मणी का विवाह शिशुपाल के साथ तय कर दिया । श्रीकृष्ण भी बलदेव के साथ रुक्मणी का विवाहोत्सव देखने कुण्डिनपुर गये थे । विवाह के एक दिन पूर्व उन्होंने रुक्मणी की इच्छा से उसका अपहरण कर लिया था । इस वृत्तान्त से अपमानित शिशुपाल ने श्रीकृष्ण पर चढ़ाई कर दी । इस युद्ध में श्रीकृष्ण ने शिशुपाल की सेना को पराजित कर रुक्मणी से राक्षस-विवाह किया ।

रुक्मणी की उपर्युक्त कथा प्रायः सभी पुराणों में वर्णित हुई है परन्तु ब्रह्मवैवर्त पुराण[1] में इसके विपरीत कथा मिलती है । इसमें रुक्मणी के अपहरण की चर्चा नहीं हुई है अपितु रुक्मणी के पिता (भीष्मक) के द्वारा अपने पुत्र रुक्मी की इच्छा के विरुद्ध पुत्री का विवाह श्रीकृष्ण के साथ तय किया जाता है । निमन्त्रण दिये जाते हैं । शुभ मुहूर्त में पिता की गोद में बैठी हुई रुक्मणी मन्त्रोच्चारण के साथ श्रीकृष्ण को दान कर दी जाती है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में रुक्मणी की कथा का सङ्केत मण्डनमिश्र और उभयभारती के विवाह प्रसङ्ग में कुछ परिवर्तन के साथ प्राप्त होता है । यहाँ तीर्थभ्रमण के लिये कुण्डिनपुर गये हुए श्रीकृष्ण को रुक्मणी पिता भीष्मक के द्वारा स्वेच्छापूर्वक प्रदान की गयी[2] - यह उल्लेख मिलता है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " के उपर्युक्त सङ्केत में रुक्मणीहरण और रुक्मणीदान इन दोनों कथाओं के काव्योपयोगी अंश को ग्रहण किया गया है । यह सर्वथा उचित भी है क्योंकि काव्य प्रसङ्गों में सङ्गति स्थापित करने के लिये ऐतिहासिक घटनाओं में किञ्चित् परिवर्तन की छूट हमारे काव्यशास्त्रियों ने प्रदान कर ही दी है ।

१- द्वितीय खण्ड - ९८ वाँ और १०० वाँ अध्याय

२- नैवं नियन्तुमनघे तव सम्यगीशत्
तां रुक्मणीं यदुकुलाय कुलश्रियं सौ ।
प्रादात् स भीष्मकनृपः खलु
कुण्डिनेशस्तीर्थपर्यटनते स्वपरीक्षिताय ।। श्रीश० दि० , ३-३५ ।

त- दक्ष के यज्ञ का विध्वंश[१]

एक बार पार्वती के पिता दक्ष ने यज्ञ का आयोजन किया । इसमें इन्होंने सभी देवताओं , नक्षत्रों और दिशाओं को आमन्त्रित किया था परन्तु शत्रुतावश इन्होंने भगवान शङ्कर को नहीं बुलाया । चन्द्रमा ने पार्वती को उनके पिता के घर में सम्पन्न होने वाले यज्ञ की सूचना दे दी थी । अत: पार्वती ने पिता के घर जाने के लिये भगवान शङ्कर से आग्रह किया । भगवान शङ्कर ने उन्हें पिता के घर जाने की अनुमति नहीं प्रदान की फिर भी वे पिता के घर गयीं । वहाँ पहुँचने पर किसी ने उनका स्वागत नहीं किया । तत्पश्चात् यज्ञ में पति शङ्कर के स्थान को न देखकर वे अत्यधिक क्रुद्ध हुईं । अपने पिता और सभा में उपस्थित लोगों की निन्दा करती हुई वे यज्ञ की अग्नि में कूद पड़ीं । पार्वती को भस्म देखकर शङ्कर भगवान ने दक्ष के यज्ञ के विनाश का निश्चय किया । उन्होंने अग्नि से एक गण को उत्पन्न किया । इस गण ने अपने रोमों से अनेक गण उत्पन्न किये । इन सबने मिलकर दक्ष के यज्ञ का विध्वंश कर डाला ।

उपर्युक्त कथा का सङ्केत शङ्कराचार्य को भगवान शङ्कर से श्रेयान् सिद्ध करने के अवसर पर इस प्रकार प्राप्त होता है - " कामदेव पर विजय प्राप्त करने वाले सर्वज्ञाता और विद्वानों के द्वारा पूज्य भगवान शङ्कर और शङ्कराचार्य में यही भेद है कि भगवान शङ्कर यज्ञ का विध्वंस करने वाले हैं और शङ्कराचार्य यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले हैं ।[२]

१- ब्रह्म पुराण - ३९ वाँ अध्याय , लिङ्ग पुराण - ९७ वाँ अध्याय , शिवपुराणभाषा - द्वितिय खण्ड - २२ से २५ अध्याय तक । इसके अतिरिक्त भी कई पुराणों में उपर्युक्त कथा वर्णित हुई है ।

२- अमुना क्रतव: प्रसाधिता: क्रतुविध्वंसकर: स शङ्कर: ।
इयमेव भिदाऽनयो: स्मितास्मरयो: सर्वविदोर्बुधेड्ययो: ।।
श्रीश० दि० ४-६२ ।

थ- विष्णु का मधु-कैटभ पर विजय[१]

सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयम्भू ब्रह्मा के योगनिद्रा में मग्न हो जाने पर तपस्या के विघ्नस्वरूप रजोमय तथा तमोमय मधु और कैटभ नामक दो दैत्य एक ही समय में उत्पन्न हुए। वे दोनों दैत्य अपने बल से समुद्रस्थ जगत् को त्रस्त करने लगे। समुद्र में भ्रमण करते हुए उन लोगों ने कमल के आसन पर बैठे हुए अत्यन्त तेजोमय ब्रह्मा को देखा। उस समय ब्रह्मा मानसिक सङ्कल्प के द्वारा समस्त प्रजाओं, देवताओं, ऋषियों और असुरों की सृष्टि कर रहे थे। ब्रह्मा से उन दोनों दैत्यों ने गरज कर कहा - "तुम कौन हो? हम लोगों के साथ युद्ध करो। हम दोनों के समान कोई भी व्यक्ति बलवान नहीं है। हम दोनों ने रजोगुण और तमोगुण से समस्त विश्व को व्याप्त कर लिया है।" इसे सुनकर ब्रह्मा ने कहा कि सत्वगुण इन दोनों गुणों से श्रेष्ठ है। अतः सत्वगुणमय भगवान तुम्हारा विनाश कर देंगे।

तदनन्तर भगवान विष्णु ने शयन करते हुए ही माया से अपनी भुजा को अनेक योजन तक लम्बी किया। उसी से उन दैत्यों को पकड़ा। उस समय दयनीय दशा वाले वे दोनों असहाय मोटे पक्षी की भाँति प्रतीत हो रहे थे। विवश होकर उन दोनों ने विष्णु भगवान को प्रणाम किया और याचना भरी प्रार्थना की - "जिस स्थान पर कोई मरा न हो उसी स्थल पर आपके ही हाथों से मेरी मृत्यु हो।"

विष्णु भगवान ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपने जाँघों के मूल भाग पर रखकर उनको मार डाला।

- -

१- मत्स्य पुराण - १७०वाँ अध्याय, वायु पुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण और मार्कण्डेय पुराण आदि में भी इस कथा का उल्लेख हुआ है।

कैटम पर विष्णु की इस विजय प्राप्ति का सङ्केत "श्रीशङ्करदिग्विजय" में लक्ष्मी की स्तुति[1] के अवसर पर प्राप्त होता है।

३- निष्कर्ष

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में प्रयुक्त प्राचीन वृत्तों के अध्ययन से जो बातें स्पष्ट होती हैं वे ये हैं :

क- कतिपय अतिप्रचलित वृत्तों का इस ग्रन्थ में सङ्केत प्राप्त होता है। इसका प्रमुख उद्देश्य काव्य के कथ्य को सरलता और सहजता से बोधगम्य बनाना है।

ख- प्रकृत स्थलों पर वृत्तों का सटीक प्रयोग हुआ है।

ग- अलङ्कारों की दृष्टि से ये सन्दर्भ अत्यधिक उपादेय सिद्ध हुए हैं।

घ- "श्रीशङ्करदिग्विजय" में इन वृत्तों के अत्यन्त शिक्षाप्रद होने के कारण काव्य के प्रयोजन "शिवेतरक्षतये" का निर्वाह भी सम्यक् प्रकारेण हुआ है।

ङ- "श्रीशङ्करदिग्विजय" में प्राचीन वृत्तों के सन्दर्भ अल्प रहने का कारण मुख्यतया यह प्रतीत होता है कि व्यर्थ पाण्डित्य-प्रदर्शन का लोभ कवि में नहीं था तथा इस प्रकार सम्भावित अस्वाभाविकता के दोष से यह ग्रन्थ अस्पृष्ट रहता है।

च- प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में अध्ययन किये गये प्राचीन वृत्तों में से मात्र तीन वृत्तों - दधीचि का अस्थिदान, कार्तवीर्य का पराजय और रुक्मिणी की कथा -

- -

१- अथ कैटभजित्कुटुम्बिनी तडिदुद्दामनिजाङ्गकान्तिभिः ।
ककुभश्च दिशः प्रकाशयन्त्यचिराद्याविरभूज्जगत् ॥
श्रीश० दि० , ४-२६

का सङ्०केत व्यासाचल कवि ने किया है । शेष सभी वृत्तों का सङ्०केत माधवाचार्य ने किया है । इस प्रकार इतनी अधिक मात्रा में माधवाचार्य के द्वारा प्राचीन वृत्तों का सङ्०केत उनकी कथाप्रियता को व्यक्त कर रही है ।

द्वादश अध्याय

श्रीशङ्करदिग्विजय में उपलब्ध भारतीय दर्शनों का स्वरूप

१- अवतारणा

' श्रीशङ्कुरदिग्विजय ' में साहित्य और दर्शन का मणिकाञ्चन संयोग है । दार्शनिक सिद्धान्तों का इस काव्य में जिस कलात्मक ढंग से प्रस्तुतीकरण हुआ है उसे देखकर यह कहना कठिन हो जाता है कि यहाँ कवि का मुख्य उद्देश्य काव्य की रमणीयता को प्रदर्शित करना है या दार्शनिक सिद्धान्तों को सहजग्राह्य बनाना है । इस काव्य में विभिन्न दर्शनों के सिद्धान्तों को एक साथ तुलनात्मक रूप में उपन्यस्त करने का भी प्रयास हुआ है । इस अध्याय में ' श्रीशङ्कुरदिग्विजय ' में उनका जो स्वरूप जिस प्रकार गृहीत हुआ है उनकी विस्तृत समीक्षा आगे की गयी है ।

२- ' श्रीशङ्कुरदिग्विजय ' में उपलब्ध दार्शनिक सिद्धान्त

क- वेदान्त दर्शन

' श्रीशङ्कुरदिग्विजय ' में शङ्कुराचार्य के अद्वैतवेदान्त का संक्षिप्त किन्तु पूर्ण परिचय उपलब्ध होता है । जगत् , ' ब्रह्म ' , आत्मा और ' माया ' आदि विषयों पर कवि माधवाचार्य ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।

अ- ' ब्रह्म ' या आत्मा का स्वरूप

वेदान्त-दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय मूलतत्व (ब्रह्म) का विवेचन करना है । ब्रह्म के स्वरूप के विषय में इसका मत है कि वही एक मात्र अद्वितीय[1] , सत्य-ज्ञान-अनन्त[2] और आनन्दस्वरूप[3] मूल सत्ता है ।

१- एकमेवाद्वितीयम् । - छान्दोग्योपनिषद् - ६।२।१

२- सत्यंज्ञानमनन्तम् । - तैत्तिरीयोपनिषद् - २।१।१

३- विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । - बृहदारण्यकोपनिषद् - ३।६।२८

उसकी ही सत्ता पारमार्थिक रूप से सत्य है । अन्य प्रतीत होने वाली सत्तायें उसी पारमार्थिक सत्ता के विवर्त हैं ।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य और मण्डनमिश्र के बीच शास्त्रार्थ के वर्णन-प्रसङ्ग में कवि माधवाचार्य ने ब्रह्म के उपर्युक्त स्वरूप का उल्लेख किया है । शङ्कराचार्य अपने सिद्धान्त पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं - " ब्रह्म एकमात्र परमार्थ सत् , चित् और निर्मलपदार्थ है ।[2]"

इस दर्शन में आत्मा और ब्रह्म को एक माना गया है । उनमें अन्तर की प्रतीति केवल हमारे अज्ञान के कारण ही होती है । अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मविषयक सभी मान्यताएँ आत्मा के विषय में भी चरितार्थ होंगी ।

इसके अतिरिक्त इस दर्शन में ब्रह्म को अखण्ड[3] , संसक्तिरहित[4] , अवयवरहित , क्रियारहित , नित्य , सर्वव्यापी , कूटस्थ[5] और पुराणपुरुष[6] आदि कहा गया है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में ब्रह्म (आत्मा) के इन धर्मों का उल्लेख शङ्कराचार्य और चाण्डालवेशधारी विश्वनाथ (जिन्होंने शङ्कराचार्य को तत्त्वज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से चाण्डालवेश धारण किया था) के वार्तालाप के प्रसङ्ग में हुआ है ।[7]

१- सर्वं खल्विदं ब्रह्म । - छान्दोग्योपनिषद् - ३।१४।१

२- ब्रह्मैकं परमार्थसच्चिदमलं विश्वप्रपञ्चात्मना ------------- । श्रीश०दि०, ८-६१ (तत्त्वपारिजात व्याख्या)

३- अखण्डं सच्चिदानन्दम् ---------- । वेदान्तसार१, मङ्गलाचरणम्

४- असङ्गोऽयं पुरुषः । - बृहदारण्यकोपनिषद् , ४।३।१५

५- इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थं नित्यं व्योमवत्सर्वव्यापी सर्वक्रियारहितं ----- निरवयवं ----------। ब्रह्मसूत्रभाष्य , १।१।४।४ ।

६- गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । कठोपनिषद् - १।२।१२

७- विश्वनाथ की शङ्कराचार्य के प्रति उक्ति -
अद्वितीयमनवद्यमसङ्गं सत्यबोधसुखरूपमखण्डम् ।
आमनन्ति शतशो निगमान्तास्तत्र भेदकलना तव चित्रम् ।।
शुचिर्द्विजोऽहं श्वपच व्रजेति मिथ्याग्रहस्ते मुनिवर्य कोऽयम् ।
सन्तःशरीरेष्वशरीरमेकमुपेक्ष्य पूर्णं पुरुषं पुराणम् ।।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमाद्यं विस्मृत्य रूपं विमलं विमोहात् ।
कलेवरेऽस्मिन् करिकर्णलोलाकृतिन्यहन्ता कथमाविरासीत् ।।
श्रीश०दि० ६-२६, ३०,३१

आत्मा और ब्रह्म में अभेद प्रतिपादित करने वाले चार महावाक्यों का निर्देश अद्वैत वेदान्त में हुआ है । ये चारों महावाक्य चारों वेदों से सम्बद्ध उपनिषदों से संग्रहीत किये गये हैं जो इस प्रकार हैं -

१- " तत्त्वमसि " - यह महावाक्य सामवेद से सम्बद्ध छान्दोग्य उपनिषद् से ग्रहण किया गया है । यह आत्मा और ब्रह्म की स्वभावसिद्ध एकता का प्रतिपादन करने वाला सुप्रसिद्ध महावाक्य है ।

२- " प्रज्ञानं ब्रह्म " - यह महावाक्य ऋग्वेद से सम्बद्ध ऐतरेय उपनिषद् में वर्णित है । यह ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप बतलाता है ।

३- " अहं ब्रह्मास्मि " - यह महावाक्य यजुर्वेद से सम्बद्ध बृहदारण्यकोपनिषद् से लिया गया है । इसमें " मैं ब्रह्म हूँ " गुरु के इस अनुभव का शिष्य के प्रति उपदेश किया गया है ।

४- " अयमात्मा ब्रह्म " - यह माण्डूक्य उपनिषद् का वाक्य है । यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बन्धित है ।

" श्रीशङ्कर दिग्विजय " में शङ्कराचार्य को ब्रह्मतत्त्व का बोध कराने के लिये इनके गुरु गोविन्दाचार्य ने उपर्युक्त चारों महावाक्यों का आश्रय लिया था ।[1]

इसके अतिरिक्त मण्डनमिश्र और अन्यविपक्षियों से शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ के प्रसङ्गों[2] में " तत्त्वमसि " वाक्य का विस्तार से विवेचन हुआ है ।

१- भक्तिपूर्वकृततत्परिचर्यातोषितोऽधिकतरं यतिवर्यः ।
ब्रह्मतामुपदिदेश चतुर्भिर्वेदशेखरवचोभिरमुष्मै ।।
श्रीश० दि० , ५-१०३

२- श्रीश० दि० , ८-७८ से १०१ , १०-४८ से ५५ , १५-५०

वेदान्तदर्शन में आत्मा को रूप और स्पर्श आदि गुणों से भी रहित वर्णित किया गया है।[1]

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में मण्डनमिश्र को अद्वैततत्व के उपदेश देने के अवसर पर शङ्कराचार्य के इस कथन में उपर्युक्त मत का सङ्केत मिलता है - ' तुम देह नहीं हो। देह तो घट के समान चैतन्यहीन होने से जड़ है। यह शरीर रूपादि गुणों से युक्त है तथा मनुष्य, पशु आदि जातियों से भी युक्त है।[2] ' यहाँ ' तुम ' पद आत्मा का वाचक समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त इस दर्शन में आत्मा के स्वरूप को अस्थूल[3], अचक्षु[4], अप्राण[5], अमन[6] और अकर्ता[7] आदि प्रतिपादित किया गया है।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' के नायक ' शङ्कराचार्य ' भी आत्मा को इन्द्रियों से भिन्न मानते हैं। वे इन्द्रिय को काटने के साधन परशु के समान केवल साधनमात्र मानते हैं। ' मेरी यह आँख है ' ऐसी प्रतीति यह बतलाती है कि नेत्र आत्मा से भिन्न है।[8]

१- अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्। - कठोपनिषद्, ३।१५

२- त्वं नासि देहो घटवद्ध्यनात्मा रूपादिमत्त्वादिह जातिमत्त्वात्।
श्रीश० दि०, १०-७७

३- बृहदारण्यकोपनिषद् - ३।८।८

४- अचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। - मुण्डकोपनिषद्, १।१।६

५+६ - अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः। - मुण्डकोपनिषद्, २।१।२

७- अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता। - श्वेताश्वरोपनिषद्, १-९

८- नापीन्द्रियाणि खलु तानि च साधनानि
दात्रादिवत् कथममीषु तवाऽऽत्मभावः।
चक्षुर्मदीयमिति भेदगतेरमीषां,
- - - - - - - - - - - - - - - - ॥
श्रीश० दि०, १०-७९

'इन्द्रियाँ आत्मा से बिल्कुल भिन्न हैं' इस मत के समर्थन में शङ्कराचार्य न केवल इन्द्रियों की समष्टि का खण्डन करते[1] हैं अपितु इन्द्रियों की व्यष्टि को आत्मा मानने वाले मतों का भी खण्डन करते हैं।[2]

इसी प्रकार शङ्कराचार्य ने आत्मा को मन[3], बुद्धि[4], और अहङ्कार[5] से पृथक् बताया है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को पाँच कोशों से आवृत्त बताया गया है।[6] ये कोश हैं - १- अन्नमय, २- प्राणमय, ३- मनोमय, ४- बुद्धि या विज्ञानमय और ५- आनन्दमय। आत्मा इन्हीं गुहाओं के भीतर स्थित अत्यन्त गूढ़ तत्व है जिसका उल्लेख ब्रह्मसूत्र[7] और कठोपनिषद्[8] में हुआ है।

- -

१- यथात्मतैषां समुदायगा स्यादेकव्ययेनापि भवेन्न तद्धी: ।
प्रत्येकमात्मत्वमुदीर्यते चेन्नश्येच्छरीरं बहुनायकत्वात् ।।
श्रीश० दि०, १०-८०

२- आत्मत्वमन्यतमगं यदि चक्षुरादे -
श्चक्षुर्विनाशसमये स्मरणं न हि स्यात् ।
एकाश्रयत्वनियमात् स्मरणानुभूत्यो -
र्दृष्टश्रुतार्थविषयावगतिश्च न स्यात् ।। श्रीश० दि०, १०-८१

३- मनोऽपि नाऽऽत्मा करणात्वहेतोर्मनो मदीयं गतमन्यतोऽभूत् ।
इति प्रतीतेर्व्यभिचारितायाः सुप्तौ च तद्भिन्नमनोविविक्तता ।।
श्रीश० दि०, १०-८२

४- अनयैव दिशा निराकृता न च बुद्धेरपि चाऽऽत्मतास्फुटम् ।
अपि भेदगतेरनन्वयात् करणादाविव बुद्धिमुज्झ भोः ।।
श्रीश० दि०, १०-८३

५- नाहंकृतिश्चरमधातुपदप्रयोगात्प्राणा मदीया इति लोकवादात् ।
प्राणोऽपि नाऽऽत्मा भवितुं प्रगल्भः सर्वोपसंहारिणि सन्सुषुप्ते ।।
श्रीश० दि०, १०-८४

६- तद्विजिज्ञापयिषयैवान्नमयादय आनन्दमयपर्यन्ताः पञ्चकोशाः कल्प्यन्ते ।
ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।१।१९

तस्यैव (ब्रह्मैव) विज्ञापनेच्छया पञ्चकोशरूपागुहा प्रपञ्चिता ।
ब्रह्मसूत्रभाष्य-आनन्दगिरिकृत व्याख्या

७- गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।२।११

८- गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । कठोपनिषद्, १।२।१२ ।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में आत्मविषयक उपर्युक्त मत का उल्लेख पद्मपाद के कथन में इस प्रकार हुआ है - "ब्रह्म" ने आकाशादि भूतों को उत्पन्न कर, अत्यन्त गूढ़ अन्नमयादि पञ्चकोशों के भीतर प्रवेश किया है किन्तु विद्वान मनुष्य युक्तियों से इसकी विवेचना करके धान के छिलके से निकाले गये चावल की भाँति जिस आत्मतत्व का साक्षात्कार करते हैं, वह तत्व तुम्हीं हो।[1]"

अद्वैत वेदान्तियों ने ब्रह्म के विषय में दो प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। पारमार्थिक और व्यावहारिक। ब्रह्म के अद्वितीय होने के कारण पारमार्थिक स्तर पर सभी विशेषण उसके लिये अनुचित प्रतीत होते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म का बोध कराने के लिये जिन विशेषणों का प्रयोग हुआ है, वह तो केवल व्यावहारिक स्तर तक ही सीमित है। व्यावहारिक स्तर पर वह ब्रह्म जगत् का कर्ता है। इसी कारण उसमें अनेक विशेषणों का आरोप कर दिया गया है। वस्तुत: वह तो सभी विशेषणों से रहित है। इसी विचार के समर्थन में अद्वैत वेदान्तियों ने ब्रह्म को "नेति नेति"[2] कहकर निर्दिष्ट किया है।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में "नेति नेति" ब्रह्मविषयक विचार का उल्लेख पद्मपाद के शब्दों में इस प्रकार हुआ है - उपनिषद् "यह नहीं, यह नहीं" इन वचनों के द्वारा मूर्त तथा अमूर्त पदार्थों का भली-भाँति निषेध कर उसे (ब्रह्म को) इस जगत् का अधिष्ठान बतलाते हैं।[3]

१- खाद्युत्पाद्य विश्वमनुप्रविश्य
गूढमन्नमयादिकोशतुषजालो।
कवयो विविच्य युक्त्यवघाततो
यत्तण्डुलवदाददति तत्वमसि तत्वम्॥ श्रीश० दि०, १०-४६

२- स एष नेति नेत्यात्मा। बृहदारण्यकोपनिषद् - ३।९।२६

३- नेतिनेत्यादिनिगमवचनेन
निपुणं निषिध्य मूर्तामूर्तराशिम्।

जानन्ति कोविदास्तत्त्वमसि तत्वम्॥ श्रीश० दि०, १०-४८

आ- जगत् का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् की सृष्टि वास्तविक नहीं है।[1] जैसे शुक्ति में भ्रम के कारण चाँदी भासित होने लगती है उसी प्रकार अद्वैत आत्मतत्व में अज्ञान के कारण जगत् की भ्रमात्मक प्रतीति होने लगती है।[2]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने के अवसर पर शुक्ति और रजत का दृष्टान्त दिया गया है - 'ब्रह्म एक मात्र परमार्थ, सत्, चित् और निर्मल पदार्थ है। जिस प्रकार शुक्ति रजत का रूप धारण कर भासित होती है, उसी प्रकार यह ब्रह्म स्वयं जगत् प्रपञ्च के रूप से भासित होता है।[3]'

अज्ञानियों को यह जगत् सत्य प्रतीत होता है। लेकिन तत्वज्ञान का उदय होते ही यह उन्हें असत्य प्रतीत होने लगता है। जगत् के इस मिथ्यात्व को स्पष्ट करने के लिये ब्रह्मसूत्रभाष्य[4] में जादूगर का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार जादूगर अपने जादू के बल पर अनेक खेल लोगों को दिखाता और उन्हें भ्रमित करता है, लेकिन स्वयं उन खेलों से भ्रमित नहीं होता है उसी प्रकार ईश्वर अपनी माया शक्ति से जगत्प्रपञ्च को फैलाकर अज्ञानियों को भ्रम में डाले रहता है और स्वयं संसार से निर्लिप्त रहता है।[5]

१- ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या।

२- शुक्तिका हि रजतवदवभासते। ब्रह्मसूत्रभाष्य - १।१।१।१

३- ब्रह्मैकं परमार्थसच्चिदमलं विश्वप्रपञ्चात्मना
शुक्ती रूप्यपरात्मनेव बहलाज्ञानावृतं भासते। श्रीश० दि०, ८-६१

४- तथामूलकारणमेवान्त्यात्कार्यात्तेन तेन कार्याकारेण नटवत्सर्व व्यवहारास्पदं प्रतिपद्यते। ब्रह्मसूत्रभाष्य - २।१।६।१८

५- यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते अवस्तुत्वात् एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। ब्रह्मसूत्रभाष्य- २।१।६ ।

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में अद्वैतवेदान्तियों का संसारविषयक उपर्युक्त विचार गुरु की खोज में भ्रमण करने वाले शङ्कराचार्य के मन में भी उदित होता है - 'जङ्गलों, पहाड़ों, नदियों और ग्रामों में जाते हुए शङ्कराचार्य ने मार्ग में बहुत से मनुष्यों तथा पशुओं को देखा तथा विचार किया कि जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपने अद्भुत इन्द्रजाल को दिखलाता है उसी प्रकार 'ब्रह्म' इस जगत्-प्रपञ्च को दिखलाता है।'[1]

तत्त्वज्ञान उदय होने के पश्चात् ब्रह्म की ही एक मात्र सत्ता शेष रहती है और जगत् की सत्ता निर्मूल सिद्ध हो जाती है। इस सत्य का उद्घाटन 'श्रीशङ्कर-दिग्विजय' में शङ्कराचार्य के द्वारा इस प्रकार किया गया है - 'उस ब्रह्म के ज्ञान से इस प्रपञ्च का नाश हो जाता है और जीव बाहरी पदार्थों से हटकर अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।'[2]

ङ- 'माया' का स्वरूप

इस दर्शन में माया को जगत् के नामरूपात्मक प्रपञ्च की स्रष्टा शक्ति माना गया है। यह ब्रह्म की शक्ति है। ब्रह्म इस शक्ति के द्वारा अपनी इच्छानुसार नाना प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करता है। यह माया न सत् है, न असत् है और न उभयरूप है। वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है, न अभिन्न है और न उभयरूप है। वह तो अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीय रूप वाली है।[3] यह माया 'अज्ञान', 'प्रकृति', 'अविद्या' और 'अजा' आदि नामों से उल्लिखित हुई है।

- -

१- गच्छन् वनानि सरितो नगराणि शैलान्
ग्रामान् जनानपि पशून् पथि सोऽपि पश्यन्।
नन्वैन्द्रजालिक इवाद्भुतमिन्द्रजालं
ब्रह्मैवमेव परिदर्शयतीति मेने ॥ श्रीश० दि०, ५-८७

२- तज्ज्ञानान्निखिलप्रपञ्चनिलया स्वात्मव्यवस्थापरं। श्रीश० दि०, ८-६१

३- सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो।
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥ विवेकचूडामणि - १११
डॉ० सन्तनारायण श्रीवास्तवकृत व्याख्या वेदान्तसार, (तत्त्वपारिजात) पृ०सं० ४० से उद्धृत।

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में माया के उपर्युक्त स्वरूप का उल्लेख शङ्कराचार्य द्वारा विष्णु की स्तुति के अवसर पर मिलता है - 'हे जगदीश ! आपकी माया अनिर्वचनीय है, वह सत् रूप भी नहीं है और असत् रूप भी नहीं है। उसके रूप का ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता। केवल लीला के लिये इस जड़ चेतन की सृष्टि आप उसी माया के बल पर करते हैं।[1]'

यह माया सत्व, रजस् और तमस् गुण से युक्त होने के कारण त्रिगुणात्मिका है।[2] कारण के गुण कार्य में अनुगत होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मायारूप कारण से उत्पन्न कार्य रूप यह सृष्टि भी त्रिगुणात्मिका है।[3]

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में त्रिगुणात्मक जगत् का उल्लेख वर्षा वर्णन के प्रसङ्ग में इस प्रकार हुआ है - 'कुटज के नये अङ्कुर तथा बाण नामक फूलों की धूलि से व्याप्त जङ्गली हवा उसी प्रकार प्रवाहित होने लगी जिस प्रकार सत्व, रजस् तथा तमस् गुण से मिश्रित जगत् में माया के विलास।[4]'

ई- आत्मज्ञान का स्वरूप

वेदान्त दर्शन में माया को ब्रह्म की 'उपाधि' की संज्ञा दी

१- सदसत्त्वविमुक्तया प्रकृत्या चिदचिद्रूपमिदं जगद् विचित्रम् ।
कुरुषे जगदीश लीलया त्वं परिपूर्णस्य न हि प्रयोजनेच्छा ।।
श्रीश० दि०, १४-१५०

२- अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकम् - - - - (तत्त्वपारिजात व्याख्या)
वेदान्तसार, खण्ड-११

३- कारणस्याव्याकृतस्य ये गुणाः सत्वादयस्तेषां क्रमेण, तान् गुणानारभ्य यथाकार्यक्रमं सत्वादिगुणाः सर्वैव कार्यैस्तैरुत्पद्यन्त इत्यर्थः । -
विद्वन्मनोरञ्जनी - डॉ० सन्तनारायण श्रीवास्तवकृत व्याख्या वेदान्तसार, तत्त्वपारिजात पृ०सं० ६७ से उद्धृत-

४- आववुः कुटजकन्दलबाणास्फीतरेणुकलिता वनवात्याः ।
सत्वमध्यमतमोगुणमिश्रा मायिका इव जगत्सु विलासाः ।।
श्रीश० दि०, ५-१२२ ।

गई है । यह उपाधिभूता माया ब्रह्म के स्वरूप को ढक देती है , जिससे हम अज्ञानी लोग जीव और ब्रह्म में भेद की कल्पना कर लेते हैं । वस्तुत: जीव और ब्रह्म एक ही हैं ।[1]

' श्रीशङ्०करदिग्विजय ' में उपर्युक्त मत का सङ्०केत शङ्०कराचार्य और भट्टभास्कर के शास्त्रार्थ वर्णन में प्राप्त होता है । विपक्षी भट्ट भास्कर के .... वेदान्त सम्मत शङ्०कराचार्य के उपर्युक्त मत को अनुचित ठहराते हुए कहते हैं - ' हे संन्यासिन् !(शङ्०कराचार्य) आपका यह कथन उचित नहीं है कि प्रकृति (माया या उपाधि) जीव और परमात्मा की भेदिका है क्योंकि ईश्वरभाव और जीवभाव दोनों प्रकृति के उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पन्न होने वाले हैं । ऐसी स्थिति में माया की उत्पत्तिकाल में उपर्युक्त दोनों भावों का अभाव रहता , जिसका आश्रय लेकर वह भेद उत्पन्न करती है'।[2]

माया के आवरण के हट जाने पर तत्वज्ञानी को ब्रह्म का स्पष्ट स्वरूप ज्ञात हो जाता है और फिर कभी वह माया के जाल में नहीं फँसता ।

' श्रीशङ्०करदिग्विजय ' में माया के द्वारा अनावृत बोध का उल्लेख वर्षा वर्णन के अवसर पर हुआ है - ' मेघों के द्वारा मार्ग (आकाश मार्ग) को मुक्त कर दिये जाने पर अत्यन्त निर्मलकान्ति वाला यह चन्द्रमा उसी प्रकार सुशोभित हो (चमक) रहा है जिस प्रकार माया के आवरण के हट जाने पर तत्वज्ञानियों का सुस्पष्ट तत्वज्ञान ।[3]

१- भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिक: ।
ब्रह्मसूत्रभाष्य - १।४।१०

२- प्रशमिंस्त्वदुदीरितं न युक्तं प्रकृतिर्जीवपरात्मभेदिकेति ।
न भिनत्ति हि जीवगेशता वोभयभावस्य तदुत्तरोद्भवत्वात् ।।
श्रीश० दि० , १५-६४

३- शीतिदीधितिरसौ जलमुग्भिर्मुक्तपद्धतिरतिस्फुटकान्ति: ।
भाति तत्वविदुषामिव बोधो मायिकावरणनिर्गमशुभ्र: ।।
श्रीश० दि० , ५-१४२ ।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में शङ्कराचार्य की परीक्षा लेने वाले चाण्डालवेषधारी भगवान विश्वनाथ के कथन[1] में इस अन्नमयता का उल्लेख हुआ है।

सूक्ष्मशरीर को १७ अवयव वाला लिङ्ग शरीर बताया गया है।[2] ये अवयव हैं - ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि और मन, ५ कर्मेन्द्रियाँ तथा ५ वायु (प्राण)। इसी सूक्ष्म शरीर का वर्णन सांख्य दर्शन में १८ अवयव वाले शरीर के रूप में हुआ है। यह शरीर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होता है। यह अप्रतिहत गतिवाला, स्थायी है। महत्तत्व से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रों तक इसके १८ अवयव हैं। यह भोगरहित तथा धर्माधर्म इत्यादि भावों से युक्त होकर संसरण करता रहता है।[3]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में सूक्ष्म शरीर के बल पर अमरुक राजा के शरीर में शङ्कराचार्य के प्रवेश के वर्णन[4] में सूक्ष्मशरीर की संसरणशीलता तथा अप्रतिहत-गामिता की पुष्टि हुई है।

ख- मीमांसा दर्शन

मण्डनमिश्र एक मीमांसक थे। "श्रीशङ्करदिग्विजय" में शङ्कराचार्य

१- गच्छ दूरमिति देहमुताहो देहिनं परिजिहीर्षसि विद्वन्।
मिद्यतेऽन्नमयतोऽन्नमयं किं साक्षिणश्च यतिपुङ्गव साक्षी॥
श्रीश० दि०, ६-२८

२- सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि।
(तत्त्वपारिजात व्याख्या)
वेदान्तसार, खण्ड-१६

३- पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥
सांख्यकारिका - ४०

४- इति शिष्यवर्गमनुशास्य यमिप्रवरो विसृष्टकरणोऽधिगुल्मम्।
महिपस्य वंश्मी गुरुयोगबलोऽविशदातिवाहिकशरीरयुतः॥
श्रीश० दि०, ६-१०४।

और मण्डनमिश्र के शास्त्रार्थ के अवसर पर मीमांसा-दर्शन के कतिपय सिद्धान्तों का सङ्केत मिलता है जिनका विवेचन अब किया जा रहा है -

अ- कर्म का महत्त्व

मीमांसा का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्म है जिसका तात्पर्य है वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का अनुष्ठान। इसका विश्वास है कि कर्म से ही व्यक्ति धर्म को प्राप्त कर सकता है। कर्म से वह अपनी इच्छाएँ पूर्ण कर सकता है। यहाँ तक कि स्वर्ग भी कर्मानुष्ठान से प्राप्य है। स्वर्गाकांक्षी व्यक्तियों को यज्ञ करना चाहिए - इस विषय में वह " यजेत स्वर्गकामो "[1] वैदिक वाक्य को प्रमाण मानता है।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य के पिता शिव गुरु के इस कथन में उपर्युक्त मत का समर्थन हुआ है - " यज्ञ भी स्वर्गफल को अवश्य देने वाला है, यदि वह नियमपूर्वक किया जाय परन्तु भली-भाँति यज्ञ का निष्पादन करना दुर्लभ है।[2] "

शिवगुरु न केवल मीमांसा के उपर्युक्त सिद्धान्त में विश्वास करते थे, वरन् उन्होंने स्वर्गलोक को जीतने की इच्छा से अतिशय व्ययसाध्य अनेक यज्ञों का अनुष्ठान भी किया।[3]

कर्मानुष्ठान से मनुष्य " मोक्ष " भी प्राप्त कर सकता है। इस विषय में मीमांसक वेद को प्रमाण मानते हैं। समस्त वेद को वे किसी न किसी रूप में कर्म

- -

१- अर्थसङ्ग्रह, पृ० सं० - १६

२- यागोऽपि नाकफलदो विधिना कृतश्चेत्।
प्रायः समग्रकरणं भुवि दुर्लभं तत्॥
श्रीश० दि०, २-१८

३- यागैरनैकैर्बहुवित्तसाध्यैर्विजिगीषुकामो भुवनान्ययष्ट।
श्रीश० दि०, २-३७।

से सम्बन्धित मानते हैं।[1] उनका मत है कि वेदविहित कर्म का अनुष्ठान और वेदनिषिद्ध कर्म का निषेध ' मोक्ष ' का एक मात्र उपाय है। अतः मुमुक्षुओं को जीवन भर कर्म करने का प्रयत्न करना चाहिये।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में मीमांसा दर्शन के उपर्युक्त दोनों विचार अर्थात् ' वेद ही प्रमाण है ' और ' कर्म से ही मुक्ति मिलती है ', का उल्लेख मण्डनमिश्र के इस कथन में हुआ है - ' वेद का कर्मकाण्ड भाग वाक्य के द्वारा प्रकटित किये जाने वाले सम्पूर्ण कार्य को प्रकट करता है अतएव वही प्रमाण है। शब्दों की शक्ति कार्यमात्र को प्रकट करने में है। कर्मों से ही मुक्ति प्राप्त होती है। अतः उस कर्म का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य को जीवन भर करना चाहिये।'[2]

आ- अर्थवाद

मीमांसकों ने सम्पूर्ण वैदिकमन्त्रों के पाँच विभाग किये हैं।[3] १- विधि, २- मन्त्र, ३- नामधेय, ४- निषेध, ५- अर्थवाद। अज्ञात अर्थ को बोधित कराने वाले वेदभाग को ' विधि भाग ' नाम दिया गया है।[4] इसके अन्तर्गत आने वाले वाक्यों को विधायक वाक्य कहा गया है।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ करने के अवसर पर मण्डनमिश्र ने ' तत्वमसि ' वाक्य को विधायक वाक्य की संज्ञा दी है।[5]

१- आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्। जैमिनीयसूत्र - १।२।१

२- पूर्वोभागः प्रमाणं पदचय गमिते कार्यवस्तुन्यशेषे।
शब्दानां कार्यमात्रं प्रति समधिगता शक्तिरभ्युन्नतानां,
कर्मभ्यो मुक्तिरिष्टा तदिह तनुभृतामायुषः स्यात् समाप्तेः।। श्रीश०दि०, ८-६४

३- अथ को वेद इति चेदुच्यते - अपौरुषेयं वाक्यं वेदः।
स च विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः।। अर्थसङ्ग्रह -पृ०सं०- ३६

४- तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। अर्थसङ्ग्रह - पृ० सं०- ३६

५- तत्त्वमस्तु जीवे परमात्मदृष्टिविधायकः कर्मसमृद्धयेऽर्हन्।
अब्रह्मणि ब्रह्मधियं विधत्ते यथा मनोऽन्नादिकमभ्ववादी।। श्रीश० दि०, ८-८२

विधेय अर्थ की प्रशंसा अथवा निन्दा करने वाले वाक्यों को अर्थवाद कहा गया है । इस अर्थवाद को पुनः विधिशेष और निषेधशेष में विभाजित किया गया है।[1] विधि वाक्यों के पूरक वाक्यों को या अवशिष्ट अंश के रूप में प्रतीत होने वाले वाक्यों को " विधिशेष " नामक अर्थवाद की श्रेणी में गिना गया है।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में मण्डनमिश्र और शङ्कराचार्य के बीच शास्त्रार्थ के अवसर पर मण्डनमिश्र ने " विधिशेष " वाक्य का प्रयोग किया है - " हे यतिवर ! (शङ्कराचार्य)" तत्वमसि " वाक्य जीव और ईश्वर के अभेद को आपाततः प्रकट करता है। तत्पश्चात् वह यज्ञादि कर्मों के कर्ता की प्रशंसा करता है। इसलिये वह विधि का अङ्गभूत (विधिशेष) है।[2] "

ङ- वेदों की प्रामाणिकता

वेदों की प्रामाणिकता के विषय में नैयायिकों और मीमांसकों में मतभेद है। नैयायिक वेदों को ईश्वरकर्तृक होने के कारण पौरुषेय मानते हैं, इसलिये वेदों की स्वतः प्रामाणिकता में भी सन्देह करते हैं। उनके मतानुसार वेदों की प्रामाणिकता अन्य प्रमाणों से सिद्ध होगी। उपर्युक्त मत को मानने के कारण ये लोग " परतः प्रामाण्यवादी "[3] कहलाये।

इसके विपरीत मीमांसक वेद को नित्य और अपौरुषेय मानते हैं। इनके मत में वेद स्वयं प्रमाण है। वेदज्ञान की यथार्थता को किसी अन्य प्रमाण से

१- प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः । स द्विविधः, विधिशेषो निषेधशेषश्चेति ।

अर्थसङ्ग्रह - अर्थवाद प्रकरणम् ।

२- आपाततस्तत्वमसीतिवाक्याद् यतीश जीवेश्वरयोर्भिदः ।

प्रतीयतेऽथापि मखादिकर्तृप्रशंसया स्याद् विधिशेष एव ॥

श्रीश० दि०, ८-८०

३- द्रष्टव्य - उमेशमिश्र - भारतीय दर्शन, पृ० सं० - २६२-२६३ ।

सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है । अत: ये ' स्वत: प्रामाण्यवादी '[1] के रूप में विख्यात हुए । ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में मण्डनमिश्र के गृहद्वार पर स्थित मैनाओं के द्वारा वेदों की प्रामाणिकता पर मनन करने का वर्णन प्राप्त होता है - ' जिस गृहद्वार पर पिंजड़े टँगे हुए हों और उनके अन्दर स्थित मैनाएँ , ' वेदवाक्य स्वत: प्रमाण हैं या परत: प्रमाण हैं - इस विषय में विचार कर रही हों उसे ही आप (शङ्कराचार्य) मण्डनमिश्र पण्डित का घर समझिये ।'[2]

फल को देने वाला कर्म है या ईश्वर - इस विषय में मीमांसा और वेदान्त दर्शनों का अपना अलग-अलग मत है । मीमांसक कर्मवाद के समर्थक हैं । ये लोग कर्म में फल देने की शक्ति है[3] इस प्रकार की श्रद्धा व्यक्त करते हैं । इसके विपरीत वेदान्ती कर्म को अचेतन मानने के कारण उसमें फल देने की शक्ति का अभाव मानते हैं । इनके मतानुसार कर्म का फल देने वाला ईश्वर है ।[4]

उपर्युक्त विवादों का उल्लेख भी ' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में मण्डनमिश्र के गृह वर्णन के प्रसङ्ग में इस प्रकार हुआ है - ' फल देने वाला कर्म है या ईश्वर ' इस बात पर विचार कर रही मैनाएँ जिस घर के पिंजड़े में बन्द हों उसे आप (शङ्कराचार्य) मण्डनमिश्र का घर समझिये ।[5]

- -

१- स्वत: एव प्रामाण्यत्वमतो वेदस्य सुस्थितम् ।

शङ्कराचार्यकृत - सर्वदर्शनसङ्ग्रह - ८-२३

२- स्वत: प्रमाणं परत: प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौक: ।।

श्रीश० दि० , ८-६

३- द्रष्टव्य - पं० बलदेव उपाध्याय - भारतीय दर्शन , पृ०सं० - ३६७

४- द्रष्टव्य - सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन - भारतीय दर्शन, पृ०सं०- ५४४-५४६

५- फलप्रदं कर्मफलप्रदोऽज: कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौक: ।।

श्रीश० दि० , ८-७ ।

ई- जगत् का स्वरूप

जगत् के विषय में भी मीमांसा और वेदान्त दर्शन का मतवैभिन्न्य है। भाट्टमीमांसक जगत् को ध्रुव[1] (नित्य) मानते हैं। इसके विपरीत वेदान्ती जगत् को अध्रुव[2] (कल्पित) मानते हैं।

'श्रीशङ्करदिग्विजय'[3] में उपर्युक्त विवादों का सङ्केत मैनाओं के माध्यम से प्रचलित[4] रूप में देकर पाठकों को दार्शनिक तथ्यों के प्रति आकर्षित करने का प्रयास हुआ है।

उ- ईश्वर का स्वरूप

मीमांसा दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। कर्म को ही समस्त फल का दाता मान लिया गया है। व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार ही सुख-दुःख आदि का भोग करता है। कर्म की प्रामाणिकता को प्रतिपादित करने के धुन में लगे हुए मीमांसकों ने ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं समझी। इस कारण उनका मत निरीश्वरवादी कहलाया[5]।

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में मण्डनमिश्र और शङ्कराचार्य के बीच शास्त्रार्थ के प्रसङ्ग में मीमांसा दर्शनोक्त ईश्वर के अनस्तित्व का उल्लेख हुआ है[6]।

१- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो० दत्त - भारतीय दर्शन, पृ०सं०- २०६

२- निवर्तते यथा तुच्छं शरीरं भुवनात्मकम्।
तथा ब्रह्मविवर्तेन्तु विज्ञेयमखिलं जगत्॥

शङ्कराचार्यकृत सर्वदर्शनसङ्ग्रह, १२-१८

३- जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।

श्रीश० दि०, ८-८

४- कादम्बरी - मङ्गलाचरण - श्लोक सङ्ख्या - १२

५- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो० दत्त - भारतीयदर्शन, पृ०सं० - २१४-२१५।

६- ननु सच्चिदात्मपरताऽभिमता यदि कृत्स्नवेदनिचयस्य मुनेः।
फलदातृतामपुरुषस्य वदन्ध कथं निराह परेशमपि॥ श्रीश०दि०, ६-१०

ग- सांख्य दर्शन

अ- पुरुष की पराधीनता

सांख्यदर्शन केवल दो मूल तत्वों के अस्तित्व को स्वीकार करता है । प्रथम " प्रकृति " और दूसरा " पुरुष " ।

प्रकृति को जगत् की सृष्टि का प्रधान कारण कहा गया है । इसलिये प्रकृति का दूसरा नाम " प्रधान " भी निर्दिष्ट हुआ है । यह प्रकृति सत्व , रजस् और तमस् गुणों की साम्यावस्था है[1]। प्रकृति जब पुरुष के संसर्ग में आती है तब इन गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है । क्षोभ के फलस्वरूप प्रकृति नाना प्रपञ्चात्मक जगत् की सृष्टि करती है[2]।

इस दर्शन में " पुरुष " पद का प्रयोग आत्मा के अर्थ में हुआ है । इसके अनुसार जगत् की सृष्टि में प्रकृति और पुरुष दोनों का योगदान है । इस प्रकार सांख्य दर्शन में द्वैत की भावना विद्यमान है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में प्रकृति और पुरुष की उपर्युक्त परस्पर निर्भरता को पुरुष की पराधीनता कहकर इस प्रकार विवेचित किया गया है - " पहले चार्वाक ने आत्मा का तिरस्कार किया इसके बाद वैशेषिकों ने उसे कर्ता तथा सुख-दुख , ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न बतलाकर उसकी रक्षा की । कुमारिल

- -

१- तत्र का प्रकृतिः ? इत्यत उक्तम् - " मूलप्रकृतिरविकृतिः " इति प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानं सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था , सा अविकृतिः , प्रकृतिरेवेत्यर्थः । - - - - - - - - - - - - - विश्वस्य कार्यं सङ्घातस्य सा मूलम् - - - ।

सांख्यतत्वकौमुदीप्रभा - तृतीय कारिका की वृत्ति ,पृ०सं०- ६४

२- पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ।।

सां० त० कौ० पृ० - २१ वीं कारिका ।

मतावलम्बियों ने पञ्च महाभूतों से उसे अलग कर यज्ञादि विधि के अनुष्ठान में अनुरक्त बना डाला । सांख्यवादियों ने उसके मल को हटाकर भी प्रधान (प्रकृति) के पराधीन बना डाला, उसी आत्मा को शङ्कराचार्य ने सर्वेश्वर बना दिया[1]।

आ- प्रकृति और पुरुष का स्वरूप

सांख्य दर्शन में 'प्रकृति' को जड़ तथा 'पुरुष' को चेतन माना गया है[2]।

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में शङ्कराचार्य और मण्डनमिश्र के शास्त्रार्थ के प्रसङ्ग में मण्डनमिश्र के इस कथन में प्रकृति के जड़ होने का सङ्केत मिलता है :

'हे यतिराज । (शङ्कराचार्य ।) आपके कथन से 'इस संसार को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर चेतन होने के कारण जीव के सदृश है' यह अर्थ प्रतिपादित करना चाहिए । इस प्रकार सिद्ध होगा कि यह संसार चैतन्य से उत्पन्न है । इस मत के मानने से अचेतन परमाणु अथवा प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति मानने वाले वैशेषिकों तथा सांख्यों के मतों का स्वत: खण्डन हो जायेगा'।[3]

१- यावर्किनिह्नुत: प्राग् बलिभिरथ भृशा रूपमापाद्य गुप्त:, काणादैर्यो नियोज्यो व्यरचि बलवताऽऽकृष्य कौमारिलेन । सांख्यैराकृष्य कृत्वा मलमपि रचितो य: प्रधानैकतन्त्र:, कृष्ट्वा सर्वेश्वरं तं व्यतनुत पुरुषं शङ्कर: शङ्करांश: ।।
श्रीश० दि०, ६-८६

२- त्रिगुणमविवेकि विषय: सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं, तथा प्रधानं, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।। सां०त०कौ०पृ०, का०सं०-११
इसकी वृत्ति में और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रकृति के विषय में लिखा है -
'अचेतनम्' सर्व एव प्रधानबुद्ध्यादयोऽचेतना: - - - - । सां० त० कौ० पृ०, पृ० सं० - १७०

नोट- पुमान् अर्थात पुरुष को इसका विपरीत अर्थात् चेतन आदि कहा गया है ।

३- श्रीश० दि०, ८-६०।

सांख्यवादियों ने आत्मा को निष्क्रिय और अविकारी माना है[१]। जितने कर्म और परिणाम हैं , जितने सुख और दुःख हैं वे सभी प्रकृति और उसके विकारों के धर्म हैं न कि " पुरुष " नामधारी आत्मा के ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य की प्रशंसा के अवसर पर विभिन्न दर्शनों में उपलब्ध आत्मा के स्वरूप का उल्लेख हुआ है जिसमें सांख्यमत भी एक है - " शून्यवादी बौद्ध लोग आत्मा को मार डालने के लिये उसके पीछे दौड़े । बाद में किसी प्रकार कणाद से आत्मा ने अपनी सत्ता प्राप्त की । कुमारिलभट्ट ने गन्तव्य स्थान की ओर जाने के लिये आत्मा को केवल मार्ग दिखा दिया , सांख्यवादियों ने केवल सुख-दुःख को हटा लिया , योगियों ने प्राणायाम के द्वारा उसकी पूज्यता स्थापित की । इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों के द्वारा प्रपञ्च में पड़कर खिन्न हुई आत्मा को शङ्कराचार्य ने अपनी कृपा से परमात्मा बना दिया[२]।

एक अन्य स्थल[३] पर भी सांख्यदर्शनोक्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन " श्रीशङ्करदिग्विजय " में प्राप्त होता है ।

सांख्यदर्शन में प्रकृति के तीनों गुणों - सत्त्व , रजस् और तमस् का सविस्तार विवेचन हुआ है[४]।

१- द्रष्टव्य - सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा - ११ वीं और १६ वीं कारिका

२- श्रीश० दि० , ६-८७

३- श्रीश० दि० , ६-८८

४-अ-सांख्य के अतिरिक्त अन्य वेदान्तादि दर्शनों में भी सत्त्वादि तीनों गुणों की चर्चा हुई है परन्तु सांख्य में प्रधानतया विस्तार से विवेचन होने के कारण मैंने इसी प्रकरण में इसका उल्लेख करना उचित समझा ।

ब- सांख्यतत्त्वकौमुदी प्रभा , पृ० सं० - १७३ से १६० ।

शङ्करांचार्य की बाललीला का वर्णन करते समय कवि ने इन सत्त्वादि गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है - ' वह बालक रजोगुण और तमोगुण से किसी प्रकार लिप्त न होकर खेलने के समय में ही रज (धूलि) से लिप्त हुआ करता था ।[1]

घ- योगदर्शन

अ- चित्तविक्षेपक अन्तराय

व्याधि , स्त्यान , संशय , प्रमाद , आलस्य , अविरति , भ्रान्तिदर्शन , अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व - ये नौ चित्त विक्षेपक अन्तराय (विघ्न) पातञ्जल योगदर्शन में वर्णित हैं ।[2]

दुःख , दौर्मनस्य , अङ्गमेजयत्व , श्वास तथा प्रश्वास - ये पाँच उपर्युक्त अन्तरायों के सहगामी हैं ।[3]

पतञ्जलि ने योग में विघ्न उत्पन्न करने वाले कारकों को ' अन्तरायों ' की संज्ञा दी है । इन अन्तरायों का कार्य चित्त को चञ्चल बनाना है ।

तत्त्वज्ञानी साधक इन अन्तरायों से पूर्णतया विरत रहता है ।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में उपमालङ्कार के माध्यम से योग के इन अन्तरायों का सङ्केत इस प्रकार हुआ है - ' कार्तिकेय के अवतार कुमारिलभट्ट को आज्ञा को

- -

१- श्रीश० दि० , ४ - ४

२- व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्ध भूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।। पातञ्जलयोगदर्शन - १।३०

३- दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेप सहभुवः । पा० यो०- १।३१

मानकर राजा ने धर्मद्वेषी बौद्धों को उसी प्रकार हत्या कर डाली जिस प्रकार तत्वज्ञानी योग के विघ्नों को नष्ट कर देता है।[1]

आ- असम्प्रज्ञात समाधि

योगशास्त्र में दो प्रकार की प्रसिद्ध समाधियों का वर्णन मिलता है - १- सम्प्रज्ञात समाधि, २- असम्प्रज्ञात समाधि।[2]

सम्प्रज्ञात समाधि में ध्याता और ध्येय का पृथक् भाव बना रहता है अर्थात् " मैं तत्व का ज्ञाता हूँ " इस प्रकार का भान होता रहता है।[3]

असम्प्रज्ञात समाधि में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एक हो जाते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि काल में जो चित्तवृत्तियाँ सात्विक थीं वे भी इस काल में निःशेष रूप से निरुद्ध हो जाती हैं।[4]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य की असम्प्रज्ञात समाधि का मनोरम चित्रण हुआ है। इस अवस्था में शङ्कराचार्य की सात्विकवृत्ति (बुद्धि) का पूर्णतया निरोध हो गया है। कवि ने समासोक्ति का सहारा लेकर दर्शन जैसे नीरस विषय को सरस बनाते हुए लिखा है कि " जिस प्रकार सम्पर्क में रहने वाली सखियों के द्वारा बार-बार समझाये जाने पर मानिनी नायिका अपने दृढ़तर अभिमान को त्यागकर प्रियतम के पास जाती है परन्तु लज्जावश प्रियतम का आलिङ्गन न करके भागकर किसी कोने में छुप जाती है उसी प्रकार स्वामी शङ्कराचार्य की बुद्धि ने ब्रह्मसूत्र में दिये गये तर्क से सम्पन्न उपनिषदों के सम्यक् उपदेशों को सुनकर चिरायत

- -

१- स्कन्दानुसारिराजेन सेना धर्मद्विषो हताः ।
योगीन्द्रेणेव योगघ्ना विघ्नास्तत्त्वावलम्बिना ।। श्रीश० दि०, १-९५

२- श्री स० चट्टोपाध्याय एवं धी०मो०दत्त- भारतीय दर्शन, पृ०सं०- १९०-१९१

३+४ - पं० बलदेव उपाध्याय - भारतीय दर्शन, पृ०सं० - ३५८ ।

अपने दृढ़तर अभिमान को छोड़ दिया है। प्रियतम रूप ब्रह्म के पास उनकी बुद्धि पहुँच भी गई परन्तु उसे छूने में असमर्थ होकर वह स्वयं कहीं विलीन हो गयी[1]।"

६- मैत्री-मुदिता-करुणा और उपेक्षा- भावनाएँ

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा - चित्त प्रसादन की इन चार सुप्रसिद्ध भावनाओं का योगशास्त्र में उल्लेख हुआ है[2]। मैत्री, करुणा आदि गुण चित्त के परिणाम हैं। इन चारों उपायों के भावनारूप अनुष्ठानपूर्वक साधक रागद्वेषादि चित्त-कषायों से निवृत्त हो जाता है[3]।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में शङ्कराचार्य के प्रति गुरु गोविन्दाचार्य के उपदेश के प्रसङ्ग में उपर्युक्त चारों गुणों का नामोल्लेख इस प्रकार हुआ है - "मेघों के चले जाने पर सुन्दर प्रकाश वाले शुभ नक्षत्र उसी तरह चमकते हैं, जिस प्रकार रागद्वेष के हट जाने पर मैत्री पूर्वक गुण प्रकाशित होते हैं[4]।"

यहाँ पर कवि माधवाचार्य ने योगशास्त्रीय भाषा के "भावना" पद का प्रयोग न करके उसके स्थान पर "गुण" पद का प्रयोग किया है। यह "गुण"

१- शनैः सान्त्वालापैः सनयमुपनीतोपनिषदां
चिरायत्तं त्यक्त्वा सहजमभिमानं दृढतरम्।
समेत्य प्रेयांसं सपदि परहंसं पुनरसा-
वधीरा संस्प्रष्टुंक्व नु सपदि सद्धीर्लयमगात्॥ श्रीश० दि०, ५-१२६

२- मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणांभावनातश्चित्तप्रसादनम्
पा० यो० - १।३३

३- इत्येवमाद्यो रागद्वेषनिवर्तनोपायाः।
विज्ञानभिक्षुकृत-योगसारसंग्रह, पृ०सं०- ४४

४- वारिवाहनिवहे प्रतियाते भान्ति भानि शुचिभानि शुभानि।
मत्सरादिविगमे सति मैत्रीपूर्वका इव गुणाः परिशुद्धाः॥
श्रीश० दि०, ५-१४३

पद परिणाम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । जिस प्रकार गुण सदा परिवर्तनशील रहते हैं उसी प्रकार मैत्री आदि भावनाएँ भी परिवर्तन के परिणामस्वरूप कभी उदित होती हैं तो कभी नष्ट होती हैं ।

' गुण ' पद के प्रयोग में कवि का मुख्य प्रयोजन काव्योचित सरसता को बनाये रखना है ।

ई- योग के अष्टाङ्ग

योग दर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध (योग) के लिये जिन आठ साधनों का निर्देश हुआ है वे हैं - १- यम-विवध २- नियम , ३- आसन , ४- प्राणायाम , ५- प्रत्याहार , ६- धारणा , ७- ध्यान , ८- समाधि ।[1]

उ- योग के अन्तरङ्ग साधन

उपर्युक्त अन्तिम तीन साधन योग के अन्तरङ्ग साधन हैं ।[2] ये असम्प्रज्ञात योग और मोक्ष के मुख्य साधन हैं ।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में गौड़पाद के साथ शङ्कराचार्य के संवादवर्णन के प्रसङ्ग में योग के आठ साधनों का सङ्केत हुआ है । गौड़पाद शङ्कराचार्य से प्रश्न करते हैं ' क्या तुमने नित्य (काम , क्रोध आदि) शत्रुओं को पराजित कर लिया है ? क्या तुमने शान्तिपूर्वक सद्गुणों को प्राप्त कर लिया है ? क्या तुमने आठों अङ्गों से युक्त योग की साधना कर ली है ? क्या तुम्हारा चित्त चैतन्य रूप ब्रह्म के चिन्तन में लगा रहता है ?[3] '

- -

१- यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।
पा० यो० , २-२९

२- त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः । पा० यो० , ३-७ ।

३- कच्चिन्निर्जिताः शत्रवो निर्जितास्ते कच्चित् प्राप्ताः सद्गुणाः शान्तिपूर्वाः कच्चिद्योगः साधितोऽष्टाङ्गयुक्तः कच्चिच्चित्तं साधुचिद्रूपं.ते ।।
श्रीश० दि० , १६-४० ।

महात्माओं के वर्षाकालीन दिनचर्या का वर्णन करते हुए कवि माधवाचार्य ने धारणा, ध्यान और समाधि योग के इन तीन अन्तरङ्ग साधनों का भी नामोल्लेख किया है[1]।

उ- यौगिक विभूति

योग साधना के फलस्वरूप साधक को साधनजय के रूप में विशिष्ट सामर्थ्य की प्राप्ति हो जाती है। इस सामर्थ्य विशेष को ऐश्वर्य, विभूति, योगबल और योगसिद्धि आदि नाम योगशास्त्र में दिये गये हैं[2]।

'श्रीशङ्करदिग्विजय' में साधनजय को व्यावहारिक रूप में दर्शाया गया है : 'शङ्कराचार्य ने जलप्रवाह से नागरिकों की रक्षा करने के उद्देश्य से शीघ्र ही घड़े को अभिमन्त्रित कर नदी-प्रवाह के सामने रख दिया। इस घड़े में नदी का समस्त जल उसी प्रकार समाविष्ट हो गया जिस प्रकार अगस्त्य मुनि के हाथ में समुद्र समाहित हो गया था[3]।'

मण्डनमिश्र के बन्द दरवाजों वाले घर में प्रवेश करने के इच्छुक शङ्कराचार्य यौगशक्ति का लाभ उठाकर आकाशमार्ग से उनके आँगन में पहुँचे थे[4]।

- -

१- धारणादिभिरपि श्रवणाद्यैर्वार्षिकाणि दिवसान्यपनीय ।
पादपद्मरजसाऽथ पुनन्तः सञ्चरन्ति हि जगन्ति महान्तः ॥
श्रीश० दि०, ५- १५१

२- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्री धी० मो० दत्त - भारतीय दर्शन, पृ०सं०-१६४

३- सोऽभिमन्त्र्य करकं त्वरमाणस्तत्प्रवाहपुरतः प्रणिधाय ।
कृत्स्नमत्र समवेशयदम्भः कुम्भसम्भव इव स्वकरेऽब्धिम् ॥
श्रीश० दि०, ५- १३८

४- पीत्वा तदुक्तीरपि तस्य गेहाद् गत्वा बहिः सद्म कवाटगुप्तम् ।
दुर्दर्शमालोक्य स योगशक्त्या व्योमाध्वनाऽवातरदङ्गणान्तः ॥
श्रीश० दि०, ८-६।

इसी प्रकार प्रयाग से माहिष्मती (मण्डनमिश्र की नगरी) का मार्ग भी शङ्करकराचार्य ने आकाशमार्ग से तय किया था।[१] उपर्युक्त दोनों स्थलों पर कवि ने अणिमा विभूति का व्यावहारिक रूप दर्शाया है।

ङ०- जैन-दर्शन

अ- द्रव्य का स्वरूप

जैन-दर्शन में समस्त द्रव्यों को ` अस्तिकाय ` और ` अनस्तिकाय ` दो भागों में बाँटा गया है। ` काल ` एक मात्र अनस्तिकाय द्रव्य है। शेष सभी द्रव्य अस्तिकाय हैं।

अस्तिकाय द्रव्य के दो भेदों का वर्णन मिलता है। पहला जीव और दूसरा अजीव।

जीव द्रव्य पुनः ` मुक्त ` और ` बद्ध ` के भेद से दो प्रकार का वर्णित है।

` बद्ध ` जीव के भी दो भेद गिनाये गये हैं - १- त्रस और २- स्थावर।

अजीव द्रव्य के भी धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार भेद किये गये हैं।[२]

` श्रीशङ्करदिग्विजय ` में जैनदर्शनोक्त अस्तिकाय द्रव्य का उल्लेख शङ्करकराचार्य और जैनों के शास्त्रार्थ के अवसर पर हुआ है।[३]

१- अथ प्रतस्थे भगवान् प्रयागात् तं मण्डनं पण्डितमाशु जेतुम् ।
गच्छन् स्वरुत्या पुरमालुलोके माहिष्मतीं मण्डनपण्डिता सः ।। श्रीश०दि०, ८-१

२- श्रीस०च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी०मो० दत्त - भारतीयदर्शन, पृ०सं०- ५८-५९

३- अथाब्रवीद्दिग्वसनानुसारी रहस्यमेकं वद सर्वविच्चेत् ।
यदस्तिकायोत्तरशब्दवाच्यं तत्किं मतेऽस्मिन् वद देशिकाऽऽशु ।।
तत्राऽऽह देशिकवरः शृणु रोचते चेत्
जीवादिपञ्चकममीष्टमुदाहरन्ति ।
तच्छब्दवाच्यमिति जैनमतेऽप्रशस्ते
यदस्ति बोद्धुमपरं कथयाऽऽशु तन्मे ।।
श्रीश० दि०, १६-७७,७८

इसके अतिरिक्त इस प्रसङ्ग के लिये द्रष्टव्य है - श्रीश०दि०, १५-१४४।

आ- बन्धन और मोक्ष का स्वरूप और उनमें सहायक तत्व

जैन दार्शनिकों का मत है कि शरीर का निर्माण पुद्गलों से होता है। जीव की ओर कितने और किस प्रकार के पुद्गल कण आकृष्ट होंगे, यह जीव के कर्म या वासना पर निर्भर होता है। ऐसे पुद्गल-कण को कर्मपुद्गल कहा गया है। जीव की ओर जो कर्मपुद्गलों का प्रवाह होता है उसे " आस्रव " कहा गया है। इसी आस्रव के कारण व्यक्ति बन्धन में फँसता है।[1]

" बन्धन " का नाश होना " मोक्ष " माना गया है। मोक्ष के साधन के रूप में " संवर " और " निर्जरा " दो तत्वों की कल्पना की गयी है। " आस्रव " को रोकने वाले तत्व " संवर " है तथा पूर्वप्रविष्ट कर्मपुद्गलों के विनाश की प्रक्रिया " निर्जरा " है।[2]

इ- सप्तभङ्गी नय

जैन दर्शन में वस्तुओं के धर्मों के बोध के लिये " सप्तभङ्गी नय " की कल्पना की गयी है। इसके मतानुसार वस्तुओं के अनेक धर्म होते हैं। कैवली ही कैवलज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अनेक धर्मों का प्रत्यक्ष ज्ञान कर पाता है। किन्तु साधारण व्यक्ति वस्तु के किसी एक धर्म का एक समय में ज्ञान कर पाता है। वस्तुओं के इस आंशिक ज्ञान को ही उन्होंने " नय " की संज्ञा दी है। इस आंशिक ज्ञान के सात भेद वर्णित हैं - १- " स्यात् है ", २- " स्यात् नहीं है ", ३- स्यात् है और नहीं है ", ४- " स्यात् अवक्तव्य है ", ५- स्यात् है और अवक्तव्य भी है ६- " स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है ", ७- स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य भी है "। इन्हें " सप्त भङ्गी नय " के नाम से जाना जाता है।[3]

१- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो० दत्त -भारतीयदर्शन, पृ०सं०- ६६-६७

२- श्रीस०च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी०मो० दत्त- भारतीयदर्शन, पृ०सं०- ६७

३- श्रीस०च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो० दत्त - भारतीय दर्शन, पृ० सं०- ५० से ५५ तक।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में शङ्कराचार्य और जैनों के बीच शास्त्रार्थ के प्रसङ्ग में जैनदर्शनोक्त ' जीव ' , ' अजीव ' , ' बन्धन ' , ' मोक्ष ' , ' आस्रव ' , ' संवर ' , ' निर्जरा ' , और ' सप्तभङ्गी नय ' का नामोल्लेख हुआ है।[१]

इस दर्शन में कर्म को ' बन्धन ' का मुख्य कारण माना गया है। ये कर्म कुल आठ प्रकार के हैं। सर्वप्रथम घातीय और अघातीय दो प्रकार के कर्म भेदों का निरूपण हुआ है। तत्पश्चात् घातीय कर्म के - १- ज्ञानावरणीय , २- दर्शनावरणीय , ३- अन्तराय , और ४- मोहनीय चार भेद किये गये हैं। इसी प्रकार अघातीय कर्म के भी चार भेद बताये गये हैं - १- आयुष्य कर्म , २- नामकर्म ३- गोत्रकर्म , ४- वेदना निश्चय करने वाले कर्म।[२]

कुल मिलाकर ये आठों कर्म व्यक्ति को बाँधे रहते हैं।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में जैनियों ने अपने पक्ष के समर्थन में उपर्युक्त बन्धन के जनक आठ कर्मों का सङ्केत किया है - ' जितना बड़ा शरीर होगा उतने ही आकार में उसमें निवास करने वाला जीव भी होगा। हे पण्डितवर्य (शङ्कराचार्य) यह जीव आठ कर्मों के द्वारा बद्ध रहता है।[३]

६- श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदाय

जैनों के सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर और दिगम्बर दो

१- ननु जीवमजीवमास्रवं च श्रितवत्संवरनिर्जरौ च बन्धः ।
अपि मोक्ष उपेक्षि सप्तसङ्ख्यान्न पदार्थान् कथमेव सप्तभङ्गया ।।
श्रीश० दि० , १५-१४३

२- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो० दत्त- भारतीयदर्शन ,पृ०सं० ६६, ६७

३- कथयाऽऽर्हत जीवमस्तिकायं स्फुटमेवंविध इत्युवाच मौनी ।
अवदत् स च देहतुल्यमानो दृढकर्माष्टकवेष्टितश्च विद्वन् ।।
श्रीश० दि० , १५-१४४ ।

सम्प्रदाय थे।[१] इन सम्प्रदायों में भेद का मुख्य कारण उनके आचार-विचार थे।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में दिगम्बर सम्प्रदाय से शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ का वर्णन मिलता है।[२]

च- बौद्ध दर्शन

महात्मा बुद्ध जगत् के दारुण दुःख से इतने अभिभूत हो गये थे कि आत्मा स्वर्ग जैसे विवादग्रस्त दार्शनिक विषयों के विश्लेषण में व्यर्थ अपना समय नष्ट न कर, दुःखनिवृत्ति के मार्गों की खोज में वे जुट गये। वे अपने शिष्यों को भी इन दार्शनिक विवादों से बचने का उपदेश देते रहते थे परन्तु बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके शिष्य इन पचड़ों से बच नहीं पाये। उन लोगों ने बुद्ध के उपदेशों तथा मौन के विभिन्न अर्थ प्रतिपादित कर लिये। परिणामस्वरूप बौद्धधर्म की तीस से भी अधिक शाखाएँ उद्भूत हो गयीं। इनमें से चार शाखाएँ[३] गम्भीर एवं जटिल दार्शनिक प्रश्नों के विचारों से जुड़ी हुई थीं जिनका विवरण इस प्रकार है:

अ- सम्प्रदाय

१- शून्यवाद या माध्यमिकवाद

इसके अनुयायियों का मत है कि मानसिक या बाह्य किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। सभी वस्तुएँ शून्य अर्थात् निःस्वभाव हैं।

- -

१- श्रीस०च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो०दत्त-भारतीयदर्शन, पृ०सं०- ४६-४७

२- अथाब्रवीद् दिग्वसनानुसारी रहस्यमेकं वद सर्वविच्चेत्।
यदस्तिकायोत्तरशब्दवाच्यं तत्किं मतेऽस्मिन् वद देशिकाऽऽशु॥
श्रीश० दि०, १६-१७

३- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी०मो० दत्त- भारतीयदर्शन, पृ०सं० ६१ से१००तक

२- योगाचार या विज्ञानवादी

इसके अनुसार मानसिक अवस्थाएँ या विज्ञान ही एक मात्र सत्य है । बाह्य पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं है ।

३- वस्तुवादी

इसके अनुसार मानसिक तथा बाह्य वस्तुएँ सत्य हैं । इसे बाह्यानुमेयवादी या सौत्रान्तिक भी कहा गया है ।

४- वैभाषिक सम्प्रदाय

ये भी चित्त और बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को मानते हैं ।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में कवि माधवाचार्य ने गर्भस्थ शिशु के रूप में शङ्कराचार्य के पराक्रम का वर्णन करते समय बौद्धों के माध्यमिक सम्प्रदाय का उल्लेख किया है । कवि ने शङ्कराचार्य की माँ के कटिप्रदेश में माध्यमिक सम्प्रदाय के निवास स्थल की कल्पना की है और गर्भावस्था के कारण प्राप्त कटिप्रदेश की कृशता में माध्यमिक सम्प्रदाय के उच्छेद की कल्पना की है । उनका मत है कि गर्भ में ही रहकर शिशु शङ्कराचार्य ने विद्वानों के द्वारा गर्हणीय माध्यमिक सम्प्रदाय की निन्दा करके उसका उच्छेद कर दिया ।[१]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायों के जगत् विषयक विचार का उल्लेख शङ्कराचार्य और बौद्धों के बीच शास्त्रार्थ के प्रसङ्ग में

- -

१- द्वैतप्रवादं कुचकुम्भमध्ये
मध्ये पुनर्माध्यमिकं मतं च ।
सुभ्रूमणेर्गर्भग एव सोऽयं
द्राग्गर्हयामास महात्मगर्ह्यम् ।।
श्रीशं० दि० , २-७० ।

हुआ है। बौद्धों के द्वारा यह पूछे जाने पर कि बौद्धदर्शन सम्मत दोनों बाह्यार्थवाद क्या हैं? और आपके (शङ्करांचार्य के) वेदान्त मत से बाह्यार्थवाद का अन्तर क्या है? शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया - " वैभाषिक के मत में समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष गम्य है। सौत्रान्तिक के मत में पदार्थ की सत्ता अवश्य है, किन्तु वह प्रत्यक्षगम्य न होकर अनुमेय है। ये दोनों सम्प्रदाय पदार्थों की क्षणभङ्गुरता को मानते हैं। इन दोनों में भेद बाह्य अर्थ की सत्ता के ज्ञान के साधन में है।[1] "

विज्ञानवादी सम्प्रदाय के मत का उल्लेख करते हुए शङ्कराचार्य ने कहा - " विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञान ही एक मात्र सत्य है। यह विज्ञान अनेक और क्षणिक है। वेदान्त मत में यह विज्ञान स्थिर और एक रूप है। यही दोनों में महान् भेद का कारण है।[2] " इस प्रकार कवि ने न केवल बौद्ध सम्प्रदायों का उल्लेख मात्र किया है अपितु वेदान्त दर्शन से तुलना करके पाठकों के दार्शनिक ज्ञान को समृद्ध करने का सुन्दर प्रयास किया है।

इसके अतिरिक्त " श्रीशङ्करदिग्विजय " के कई स्थलों पर योगाचार[3] और वैभाषिक[4] सम्प्रदायों की चर्चा हुई है।

१- सौत्रान्तिको वक्ति हि वेद्यजातं लिङ्गाधिगम्यं त्वितरोऽक्षिगम्यम् ।
तयोस्तयोर्भङ्गुरताऽविशिष्टा भेदः कियान् वेदनवेद्य मार्गे ।।
श्रीश० दि० , १६-७५

२- विज्ञानवादी क्षणिकत्वमेषामङ्गीचकारापि बहुत्वमेषः ।
वेदान्तवादी स्थिरसंविदैकत्यङ्गीचकारेति महान् विशेषः ।।
श्रीश० दि० , १६-७६

३- श्रीश० दि० , १६-७३ , ७४ , ७६

४- उच्चण्डाखिलवादुदुकलुकनापाण्डित्यवितण्डिकं ,
जाते देशिकशेखरे पदयुषां सन्तापचिन्तापदे ।
कातर्यं हृदि भूयसाऽकृत पदं वैभाषिकादेः कथा -
चातुर्यं कलुषात्मनो स्वयमभाङ्क्षीभिक्षिकादेरपि ।।
श्रीश० दि० , ४-६१ ।

आ- निर्वाण पद का उल्लेख

बौद्ध दर्शन में मोक्ष के लिये " निर्वाण " पद का प्रयोग किया गया है । महात्मा बुद्ध के अनुसार " निर्वाण' प्राप्त करने के पश्चात्' व्यक्ति पुनर्जन्म नहीं ग्रहण करता । उन्होंने " निर्वाण " प्राप्ति के साधन के रूप में अष्टांग पथ का निर्देश किया है ।[१]

श्रीशङ्करदिग्विजयकार माधवाचार्य को महात्मा बुद्ध के द्वारा बताये गये अष्टाङ्ग पथ में आस्था नहीं है अपितु वे शङ्कराचार्य के चरणों के उपासकों के पादरज के आलिङ्गन को ही " निर्वाण " प्राप्ति का साधन मानने में विश्वास करते हैं[२] ।

इ- अनात्मवाद

बौद्धों ने आत्मा के शाश्वत अस्तित्व को नकार दिया है । बौद्धों के इस विचार को अनात्मवाद की संज्ञा दी गयी है । इनके अनुसार मनुष्य (जीव) केवल एक समष्टि का नाम है । जिस तरह चक्र , धुरी , नेमि आदि के समूह को रथ कहते हैं । उसी तरह बाह्य रूपयुक्त शरीर , मानसिक अवस्थाएँ और रूपहीन संज्ञा के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं । जब तक इनकी समष्टि बनी रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता है और जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का . -

- -

१- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो० दत्त - भारतीय दर्शन , पृ० सं० - ८३ से ८५

२- नसिद्धै मुक्तिं नतमुत पदं वेति भगवत् -
पदस्य प्रागल्भ्याज्जगति विवदन्ते श्रुतिविदः ।
वयं तु भ्रमत्सद्भजनरतपादाम्बुजरजः
परीरम्भारम्भः सपदि हृदि निर्वाणशरणम् ।।
श्रीश० दि० , ४-४३ ।

भी अन्त हो जाता है । इस सङ्घात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु मनुष्य नहीं है ।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में बौद्धों के अनात्मवाद का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है । जैसे - "(शून्यवादी) बौद्ध आत्मा को मार डालने के लिये उसके पीछे दौड़े । बाद में किसी तरह कणाद से आत्मा ने अपनी सत्ता प्राप्त की[2], " चैतन्य या विज्ञान को मानने वाले योगाचारी आत्मा का दर्शन करके भी उसे पहचान नहीं सके ।[3] "

इसके अतिरिक्त श्लिष्ट पदों के माध्यम से भी बौद्धों के इस अनात्मवाद का उल्लेख हुआ है । यहाँ एक अर्थ आत्मा के पक्ष में तथा दूसरा अर्थ सीता के पक्ष में अभिप्रेत है ।

सीता पक्ष में - एक ही पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी में अनुरक्त अयोनिज सत्ता (सीता) को संन्यासी का रूप धारण कर रावण ने कपट से हरण कर लिया था । लोगों के मन में अनेक पुरुषों में आसक्ति होने के भ्रम के परिणाम स्वरूप वह अत्यन्त निष्ठुर हो गयी थीं । तपस्वी रामचन्द्र जी ने देवताओं के शत्रु राक्षसों को मारकर सीता देवी को अपने घर ले आये और इस तरह उन्होंने तीनों लोकों की रक्षा की ।" शङ्कराचार्य का चरित्र भी राम के समान है । शङ्कराचार्य पक्ष में - अद्वितीय परमात्मा में प्रेम रखने वाली , जन्म-मरण से शून्य सत्ता को जिसे क्षणिक-वादी बौद्धों ने हरण कर लिया था तथा जो अनेक पुरुषों में रहने के प्रसङ्ग के

- -

१- श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्रमोहन दत्त - भारतीय दर्शन , पृ० सं० - ८६

२- हन्तुं बौद्धोऽधावत् तदनु कथमपि स्वात्मलाभः कणादात् । श्रीश० दि० , ६-८७

३- ग्रस्तं मुनिनैवं कतिचन ददृशुः के च दृष्ट्वाऽप्यधीराः । श्रीश० दि० , ६- ८८

भ्रम से अत्यन्त निष्ठुर थी - फिर से स्थापित किया और इस तरह तापसवेश धारण करने वाले शङ्०कराचार्य तीनों लोकों की रक्षा करने वाले हैं।[1]

छ- चार्वाक दर्शन

अ- आत्मा का स्वरूप

चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष प्रमाण को एक मात्र विश्वसनीय प्रमाण माना गया है। आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से न हो सकने के कारण उसमें आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इसके अनुसार संसार की उत्पत्ति आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी - इन पंच भूतों से न होकर केवल चार भूतों से ही होती है। आकाश का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से परे होने के कारण उसके अस्तित्व को इसने अस्वीकार कर दिया है। यह आकाश के अतिरिक्त अन्य चार भूतों से सृष्टि को मानता है। इन भूतों के संयोग से शरीर में चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है। चैतन्य शरीर का ही गुण है। शरीर से भिन्न चैतन्य का कोई अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार पान, सुपारी और चूना में लाल रङ्०ग का अभाव होता है, किन्तु इन तीनों को एक साथ चबाणा लाल रङ्०ग की उत्पत्ति कर देती है जो एक नया गुण होता है, उसी प्रकार सभी भूतों का एक विशेष ढंग से सम्मिलन चैतन्य गुण का प्रादुर्भाव कर देता है। वस्तुतः अलग से चैतन्य (आत्मा) का कोई अस्तित्व नहीं है।[2]

१- एकस्मिन् पुरुषोत्तमे रतिमतीं सत्तामयोन्युद्भवां
मायाभिद्गुल्लामनेकपुरुषासक्तिप्रमान्निष्ठुराम् ।
जित्वा तान् बुधवैरिणः प्रियतया प्रत्याहरद् यश्चिरात्
आस्ते तापसवेषवान् त्रिजगतां त्राता स नः शङ्०करः ।।
श्रीश० दि०, ४-११०

२- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो० दत्त - भारतीय दर्शन - पृ० सं० - ३६-४० ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में चार्वाकों के आत्मविषयक सिद्धान्त का दो स्थलों[1] पर सङ्केत मिलता है ।

ज- न्याय दर्शन

अ- इन्द्रिय सन्निकर्ष

न्याय दर्शन में विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहा गया है । यह सन्निकर्ष कुल ६ प्रकार का होता है । जो इस प्रकार है - १- संयोग २- संयुक्तसमवाय ३- संयुक्तसमवेतसमवाय ४- समवाय ५- समवेतसमवाय ६- विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष ।[2]

ये सभी सन्निकर्ष व्यापारस्वरूप और प्रत्यक्ष ज्ञान के निमित्त होते हैं ।

संयोग नामक सन्निकर्ष वहाँ होता है जहाँ इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से प्रत्यक्ष प्रमा की उत्पत्ति होती है । जैसे - चक्षु द्वारा घटरूप द्रव्य के ज्ञान में ।[3]

इसी घटरूप द्रव्य का पृथ्वी पर अभाव रूप ज्ञान प्राप्त करने के लिये विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष का सहारा लिया जाता है । यहाँ पर चक्षु से

- -

१- अ- ग्रस्तं भूतैर्न दैवं कतिचन चक्षुः - - - - - ।
श्रीश० दि० , ६-८८

ब- चार्वाकैर्निह्नुतः प्राग् कलिभिरथमृषारूपमापाय गुप्तः ।
श्रीश० दि० , ६- ८९

२- इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षडविध एव । तद्यथा , संयोग , संयुक्तसमवायः , संयुक्तसमवेतसमवायः , समवायः , समवेतसमवायः , विशेष्य विशेषणभावश्चेति । तर्कभाषा, पृ०सं०- ७६

३- तत्र यदा चक्षुषा घटविषयं ज्ञानं जन्यते तदा चक्षुरिन्द्रियं घटोऽर्थः । अनयोः सन्निकर्षः संयोग एव - - - - - - - । तर्कभाषा, पृ०सं० ८०

संयुक्त भूतल पर " घट का अभाव " विशेषण है तथा " भूतल " विशेष्य है।[1] इस प्रकार अन्य अभाव रूप विशेषण का ज्ञान भी इसी (विशेष्य विशेषण भाव) सन्निकर्ष से होता है।

किसी भी अभाव का ज्ञान केवल विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष से ही नहीं प्राप्त किया जा सकता परन्तु उपरोक्त विशेष्य-विशेषण-भाव को छोड़कर शेष पाँच सन्निकर्षों में से किसी एक सन्निकर्ष का सहयोग भी होना चाहिए।[2]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में जीव और परमात्मा के भेद के समर्थन के लिये मण्डनमिश्र द्वारा दिये गये तर्कों में " संयोग " और " विशेष्य विशेषण भाव " सन्निकर्ष का उल्लेख हुआ है। मण्डनमिश्र कहते हैं - " मैं ईश्वर से भिन्न हूँ " इस ज्ञान में भेद जीवात्मा का विशेषण है। हे विद्वन्! (शङ्कराचार्य) ऐसी अवस्था में भेद और इन्द्रिय के साथ संयोगादि सन्निकर्ष नहीं है यह मुझे मान्य है परन्तु विशेष्य विशेषणभाव सन्निकर्ष तो हो ही सकता है।[3]

विशेष्यविशेषणभाव सन्निकर्ष अन्य सन्निकर्षों के सहयोग की अपेक्षा रखता है - इस तथ्य का " श्रीशङ्करदिग्विजय " में मण्डनमिश्र को दिये गये शङ्कराचार्य के प्रत्युत्तर में इस प्रकार उल्लेख हुआ है - " केवल विशेष्यविशेषणभाव

- -

१- यदा चक्षुषा संयुक्ते भूतले घटाभावो गृह्यते " इह भूतले घटो नास्ति " इति, तदा विशेषणविशेष्य भाव: सम्बन्ध:। तदा चक्षु: संयुक्तस्य भूतलस्य घटाभावो विशेषणं भूतलं विशेष्यम्।

तर्कभाषा, पृ०सं० ८२-८३

२- तदेवं संक्षेपत: पञ्चविधसम्बन्धान्यतमसम्बन्धसम्बद्ध विशेषण विशेष्यभाव - लक्षणेनेन्द्रियार्थसन्निकर्षेण अभाव इन्द्रियेण गृह्यते।

तर्कभाषा, पृ० सं० - ८४

३- श्रीश० दि०, ८ - ६४।

सन्निकर्ष से किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अतिप्रसङ्ग दोष हो जायगा[1]।"

आ- मन और आत्मा का स्वरूप

न्याय वैशेषिक दर्शन में मन और आत्मा को द्रव्य माना गया है[2]। मन को भी एक इन्द्रिय स्वीकार किया गया है[3]।

इसके अनुसार दो पदार्थों में सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है १- संयोग सम्बन्ध २- समवाय सम्बन्ध[4]। दो द्रव्यों में जो सम्बन्ध होता है वह संयोग सम्बन्ध है[5]।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ करने वाले मण्डनमिश्र के इस तर्क में आत्मा और मन के द्रव्य होने का और संयोग सम्बन्ध का उल्लेख हुआ है - " आपने (शङ्कराचार्य ने) जो यह कहा कि भेद के आश्रयभूत आत्मा का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं है, यह मत मुझे (मण्डन) मान्य नहीं है क्योंकि मन और आत्मा दोनों द्रव्य हैं और द्रव्यों में संयोग सम्बन्ध होता है[6]।"

मन को इन्द्रिय मानने और उसका खण्डन करने का उल्लेख शङ्कराचार्य के कथन में इस प्रकार हुआ है - " मन इन्द्रिय है " इस सिद्धान्त को मानकर ही आपने

१- श्रीश० दि०, ८- ६५

२- शङ्कराचार्यकृत सर्वदर्शनसङ्ग्रह, ५-२०, २१

३- तानि चेन्द्रियाणि षाट्-घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोतमनांसि ।

तर्कभाषा, पृ० सं० - २२४

४- द्विविधः सम्बन्धः संयोगः समवायश्चेति ।

तर्कभाषा, पृ० सं० - ४०

५- श्रीस०च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो० दत्त - भारतीय दर्शन, पृ०सं०- १५६

६- श्रीश० दि०, ८ - ६६ ।

(मण्डनमिश्र ने) मन का जीव और ईश के भेद के साथ संयोग बतलाया है परन्तु वस्तुत: मन इन्द्रिय नहीं है। जिस प्रकार दीपक ईक्षण कार्य में नेत्रों की सहायता मात्र करता है उसी प्रकार मन भी प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियों का सहायक मात्र है। स्वयं वह इन्द्रिय नहीं है।[1]

ङ- अनुमान के अवयव - (पक्ष, साध्य और हेतु)

भारतीय तर्कशास्त्र में अनुमान के लिये जिन तीन पदों की आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है वे हैं - पक्ष, साध्य और हेतु।[2]

' पक्ष ' अनुमान का वह अङ्ग है जिसके सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है।

' पक्ष ' के सम्बन्ध में जो सिद्ध किया जाना होता है वह साध्य ' होता है।

' हेतु ' उसे कहते हैं जिसके द्वारा पक्ष के सम्बन्ध में साध्य को सिद्ध किया जाता है।

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में ' जीवो ब्रह्मनिरूपित भेदवानसर्वज्ञत्वात् घटवत् ' इस अनुमान द्वारा जीव और परमात्मा में भेद सिद्ध करने के अवसर पर मण्डनमिश्र ने ' साध्य ' पद का प्रयोग अनेक बार किया है।[3]

ई- उपाधि

न्यायदर्शन में अनुमान प्रकरण में हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति सम्बन्ध का विश्लेषण करते समय ' उपाधि ' पद का उल्लेख हुआ है।

- -

१- श्रीश० दि०, ८ - ६८

२- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी०मो० दत्त - भारतीय दर्शन, पृ० सं० - ११७

३- श्रीश० दि०, ८-१०४, १०६, १०८ आदि।

" उपाधि " एक अवस्था विशेष है । इसका किसी अनुमान प्रकार के " साध्य " के साथ नित्य साहचर्य होता है परन्तु उसके हेतु या साधन के साथ सदैव नहीं होता इसलिये इसे " साध्य " में व्यापक और " साधन " में अव्यापक माना जाता है ।[१]

उपाधि युक्त हेतु न्याय शास्त्र में दूषित हेतु कहा गया है । शुद्ध अनुमान के लिये हेतु का उपाधिरहित होना आवश्यक होता है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य और मण्डनमिश्र के बीच शास्त्रार्थ[२] के अवसर " उपाधि " का वर्णन मिलता है ।

३- हेत्वाभास

नैयायिकों ने पाँच प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन किया है । ये हैं - १- असिद्ध २- विरुद्ध ३- अनैकान्तिक ४- प्रकरणसम और ५- कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास ।[३]

हेत्वाभास उस हेतु को कहते हैं जो वस्तुत: हेतु नहीं है , लेकिन हेतु के समान प्रतीत होता है[४] । सामान्यत: अनुमान के प्रकरण में " हेत्वाभास " पद का प्रयोग होता है ।

१- तथा हि साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधि: ।
तर्कभाषा, पृ०सं० - १२५

२- यौगिन्मनौपाधिकमेदवत्त्वं विवक्षितं साध्यमिह त्वदिष्ट: ।
औपाधिकस्त्वीश्वरजीवभेदो घटेशभेदो निरुपाधिकश्च ।।
श्रीश० दि० , ८-१०६
घटेशभेदेऽप्युपाधिर्विधा तवानुमानेषु जडत्वमेव ।
चित्त्वादभिन्न: परवत् परस्मादात्मेति वाऽत्र प्रतिपद्यहेतु: ।।
श्रीश० दि० , ८-१०७

३- अतोऽन्ये हेत्वाभासा: ।
ते च असिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरणसमकालात्ययापदिष्टभेदात् पञ्चैव ।
तर्कभाषा, पृ०सं० -१२५

४- अन्यथा हेत्वाभासोऽहेतुरिति यावत् । तर्कभाषा, पृ०सं०- १२२ ।

असिद्ध हेत्वाभास वह हेतु है जिसका अस्तित्व ही असिद्ध होता है। यह तीन प्रकार का होता है -

१- आश्रयासिद्ध २- स्वरूपासिद्ध ३- व्याप्यत्वासिद्ध[1]।

जिस हेतु का पक्ष ही असिद्ध हो उसे आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं जैसे - आकाशकमल सुगन्धित होता है।

क्योंकि वह कमल है।

सरोवर में उत्पन्न कमल के समान।

यहाँ कमलत्व " हेतु " के पक्ष (आकाशकमल) का अस्तित्व ही नहीं होता। अतः यहाँ कमलत्व हेतु न होकर " हेत्वाभास " है।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में शङ्कराचार्य द्वारा मण्डनमिश्र को दिये गये उत्तर में आश्रयासिद्ध हेत्वाभास का उल्लेख हुआ है[2]।

सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास वहाँ होता है जहाँ एक अनुमान का प्रतिपक्षी अनुमान भी सम्भव हो[3]।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का उल्लेख मण्डनमिश्र द्वारा प्रस्तुत अनुमान के सन्दर्भ में शङ्कराचार्य ने किया है। ⟶

१- तत्र लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुः असिद्धः। सश्चासिद्धस्त्रिविधः आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

तर्कभाषा, पृ० सं० - १२५

२- किं निर्विशेषं प्रमितं न वाऽन्त्ये प्राप्ताऽऽश्रयासिद्धिरथाऽऽद्यकल्पे।
शरीरभेदेन परस्य सिद्धेः प्राप्नोति धर्मिग्रहमानकोपः॥

श्रीश० दि०, ८- १११

३- प्रकरणसमस्तु स एव यस्य हेतोः साध्यविपरीतसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते।

तर्कभाषा, पृ०सं० १३१

<—— जीव और ईश्वर में भेद दिखाने के लिये मण्डनमिश्र का अनुमान प्रकार है -

जीवो ब्रह्मनिरूपितभेदवान् असर्वज्ञत्वात् घटवत् ।

शङ्कराचार्य इस अनुमान में साध्य के अभाव को दूसरे तुल्य बल अनुमान से सिद्ध कर देते हैं -

" आत्मा परस्मात् अभिन्न: , चित्वात् परवत् " अर्थात् आत्मा चैतन्य के कारण ईश्वर से अभिन्न है । चैतन्य दोनों में है । अत: भेद न होकर दोनों में अभेद है । इस प्रकार मण्डनमिश्र के अनुमान में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है।[१]

एक अन्य स्थल पर भट्टभास्कर के भ्रमविषयक धारणा का निरूपण करते समय पुन: सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास का उल्लेख हुआ है :

भट्टभास्कर ने भ्रमविषयक धारणा को स्पष्ट करने के लिये " अहं मनुज: " (मैं मनुष्य हूँ) वाक्य प्रस्तुत किया था परन्तु शङ्कराचार्य भट्ट भास्कर के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण को उनके ही शास्त्रीय सिद्धान्त से यह कहकर काट देते हैं कि भट्टभास्कर के मत में सभी वस्तुएँ भेदाभेदविषयक हैं । उदाहरण के लिये 'अयं गौ: खण्ड:' (यह गाय खण्ड है) इस वाक्य में खण्ड गाय से भिन्न भी है और अभिन्न भी है । यह वाक्य प्रमाण कोटि में भी माना गया है । इसी प्रकार 'अहं मनुज:' वाक्य भी भेदाभेदविषयक होने के कारण प्रमाण है न कि भ्रमज्ञान । इसे स्पष्ट करने के लिये भट्टभास्कर के पक्ष में शङ्कराचार्य स्वयं यह अनुमान प्रकार प्रस्तुत करते हैं -

---

१- चित्वादभिन्न: परवत् परस्मादात्मेति वाऽत्र प्रतिपक्षहेतु: ।।

बृ०शा० वि० , ८-१०७

२- [illegible]

[illegible]

[illegible]

अहं मनुष: इति बुद्धि: प्रमाणं भिन्नाभिन्नविषयत्वात् ; खण्डोऽयमितिवत्

भट्टभास्कर शङ्कराचार्य द्वारा प्रस्तुत अनुमान में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास दिखलाकर उसे दूषित बता देते हैं[१]।

न्याय दर्शन में अनैकान्तिक हेत्वाभास[२] को व्यभिचारी हेतु कहा गया है। व्यभिचारी हेतु द्वारा एक ही अनुमान प्रकार नहीं बनता वरन् दो विरोधी अनुमान प्रकार बनाये जा सकते हैं।

भट्टभास्कर ने जिस अनुमान प्रकार से शङ्कराचार्य के अनुमान में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास सिद्ध किया था उसी अनुमान प्रकार में शङ्कराचार्य व्यभिचारी हेतु का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं - आप (भट्टभास्कर) का हेतु निष्पिष्यमाणविषय होने के कारण व्यभिचारी है जो मेरे (शङ्कराचार्य के) अनुमान को दूषित नहीं कर सकता। यह खण्ड गाय है इस उदाहरण में खण्ड में मुण्ड निष्पिष्यमाण है। खण्ड और मुण्ड से जिस प्रकार गोत्व का अभेदज्ञान होता है उसी प्रकार देह और ब्रह्म का जीव से अभेद ज्ञान भी प्रामाणिक है[३]।

ऊ- मोक्ष का स्वरूप

न्याय दर्शन में " मोक्ष दुःख के पूर्ण निरोध की अवस्था है। वे इसे अपवर्ग भी कहते हैं[४]। इस अवस्था में आत्मा शरीर और इन्द्रियों के बन्धनं से

१- ननु संहननात्मधी: प्रमाणं न भवत्येव निष्पिद्यमानगत्वात् ।
इदमिति प्रतिपन्नकष्यधीवत् प्रबला सत्प्रतिपक्षतेति चेन्न ।।
श्रीशं० दि० , १५-१११

२- सव्यभिचारोऽनैकान्तिक: । तर्कभाषा , पृ०सं०- १३१

३- व्यभिचार(कुलत्वतोऽस्य खण्ड: पशुरित्यत्र तदन्यधीस्थमुण्डे ।
इतरत्रनिष्पिष्यमानखण्डोल्लिखितत्वेन निरुक्तहेतुमत्वात् ।।
श्रीशं० दि० , १५-११२

४- तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग: ।। न्यायदर्शन - १ , १ , २२
" तद् " पद दुःख के लिये प्रयुक्त हुआ है।
तेन दु:खेन जन्मना अत्यन्तं विमुक्तिरपवर्ग: ।।
न्याय द० पर वात्स्यायन का भाष्य , पृ०सं०- ५६ ।

विमुक्त हो जाती है । इनके मतानुसार जब तक आत्मा शरीरग्रस्त रहता है तब तक उसके लिये दु:खों का पूर्ण विनाश सम्भव नहीं है ।

विवादग्रस्त प्रश्न यह है कि इस अवस्था में आनन्द की प्राप्ति होती है कि नहीं । इस विषय में नैयायिकों और वैशेषिकों का अपना अलग-अलग मत है । वैशेषिक इस अवस्था में आत्मा की आनन्द प्राप्ति का निषेध करते हैं । कुछ नैयायिक भी इस मत के समर्थक हैं परन्तु कुछ दूसरे नैयायिक इस अवस्था में आत्मा के आनन्दोपलब्धि का समर्थन करते हैं।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में नैयायिकों द्वारा शङ्कराचार्य से न्यायवैशेषिक दर्शनसम्मत मुक्ति का स्वरूप पूछे जाने पर उनके (शङ्कराचार्य के) कथन[2] में उपर्युक्त न्यायवैशेषिक मत का उल्लेख हुआ है ।

क- ईश्वर का स्वरूप

न्याय दर्शन में " ईश्वर " को जगत् का आदि स्रष्टा पालक और संहारक कहा गया है । वह शून्य से संसार की सृष्टि नहीं करता वरन् नित्य-परमाणुओं, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से करता है।[3]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में नैयायिकों के ईश्वरविषयक विचार का भी उल्लेख शङ्कराचार्य द्वारा नैयायिकों को उत्तर देते समय हुआ है ।[4]

१- न्यायदर्शनम् - वाचस्पति कृत भाष्य, पृ०सं०, ८९ से ९० तक

२- अत्यन्तनाशे गुणसङ्गतेर्या स्थितिर्नभोवत् कणभक्षपक्षे ।
मुक्तिस्तदीये चरणाक्षपक्षे साऽऽनन्दसंवित्सहिता विमुक्तिः ।।

श्रीश० दि०, १६-६८

३- श्री सतीशचन्द्रचट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्र मोहनदत्त - भारतीय दर्शन, पृ०सं०-१३६ ।

४- पदार्थभेदः स्फुट एव सिद्धस्तथेश्वरः सर्वजगद्विधाता ।
स ईशवादीत्युदितेऽभिनन्द्य नैयायिकोऽपि न्यवृतन्निरोधात् ।।

श्रीश० दि०, १६-७० ।

भ- वैशेषिक दर्शन

अ- सृष्टि का स्वरूप

वैशेषिक दर्शन में समस्त भौतिक जगत् और उसके कार्य द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं के द्व्यणुकों , त्र्यणुकों तथा उनके बृहत्तर संयोगों का परिणाम है । परमाणुओं की गति को नियन्त्रित करने वाली कोई शक्ति नहीं है । जड़ परमाणु स्वतः घुणाक्षरन्याय से एक साथ मिल जाते हैं और फिर पृथक् भी हो जाते हैं[१] ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में मण्डन मिश्र और शङ्कराचार्य के बीच शास्त्रार्थ के वर्णन में वैशेषिक दर्शन सम्मत " अणुप्रधान " सृष्टि का उल्लेख हुआ है । अद्वैतवेदान्ती शङ्कराचार्य जीव में परमात्मा के गुण (चैतन्य) विद्यमान है अतः जीवपरमात्मा का बोधक है , इस मत का प्रतिपादन करते हैं । शङ्कराचार्य के मत के प्रत्युत्तर में मण्डनमिश्र का कथन है - हे यतिराज । (शङ्कराचार्य) आपके मतानुसार इस जगत् का कारण चेतन होने के कारण जीव के समान है - यह अर्थ समझना चाहिए । (तथा) चेतन से यह संसार उत्पन्न होने के कारण दूसरे जो अचेतन अणु अथवा प्रधान से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं उनके मत का भी निराकरण समझना चाहिए[२] ।

३-निष्कर्ष

अब तक के अध्ययन से जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं वे इस प्रकार हैं :-

---

१- श्रीस० च० चट्टोपाध्याय एवं श्रीधी० मो० दत्त - भारतीयदर्शन , पृ० सं०- १५८ से १६१ तक ।

२- मो श्चेतनत्वेन शरीरिसाम्यमाविष्कृतमस्य जगत्प्रसूतेः ।
चिदुत्थितत्वेन परोदितस्याप्यणुप्रधानप्रभृतेर्निरासः ।।
श्रीश० दि० , ८-६० ।

क- " श्रीशङ्0करदिग्विजय " में लगभग सभी दर्शनों के सिद्धान्तों का न्यूनाधिक उल्लेख हुआ है । शङ्0कराचार्य के वैदुष्यक्षेत्र के अनुरूप यह मुख्यतया दर्शनप्रतिपादक ग्रन्थ ही बन गया है । यह तथ्य औचित्य की दृष्टि से भी प्रशंसनीय कहा जा सकता है और ग्रन्थ के गौरव में चार चाँद लगा देता है ।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि शङ्0कराचार्य के चरितवर्णनपरक अन्य कृतियाँ जिनका अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में किया गया है की अपेक्षा माधवाचार्यकृत " श्रीशङ्0करदिग्विजय " में दार्शनिक सिद्धान्त अधिक स्पष्टता और प्रमुखता से उल्लिखित हुए हैं ।

ख- इसमें अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों की सर्वाधिक चर्चा हुई है । नायक शङ्0करा-चार्य की अभिरुचि के अनुरूप ही अद्वैत वेदान्त के स्वरूप को स्वपक्ष या सिद्धान्त पक्ष के रूप में अत्यधिक तल्लीनता, सूक्ष्मता और सहृदयता से माधवाचार्य ने उपन्यस्त किया है । इसी कारण अन्य दर्शन गौण रूप से चित्रित हुए हैं ।

ग- भारतीय समाज में शङ्0कराचार्य के पूर्व सर्वाधिक प्रतिष्ठित और प्रचलित अथ च उत्तरमीमांसा की भाँति ही श्रुति या वेद के शब्दों को एकमात्र प्रमाण मानने वाला बुद्धिजीवीवर्ग पूर्वमीमांसा का अनुयायी था । इसके अतिरिक्त मुख्यरूप में वेद वेदाङ्0ग का अध्ययन तत्पश्चात् पूर्वमीमांसा शास्त्रोक्त विधि से यज्ञादि कर्म के अनुष्ठान से सर्वथा शुद्ध ही उत्तर मीमांसा का अधिकारी माना जाता था ।

वेद के शब्दों को प्रमाण न मानने वाले बौद्ध आदि नास्तिक समाज में हेय दृष्टि से देखे जाते थे इसलिये शङ्0कराचार्य के दिग्विजय के सन्दर्भ में वे अधिक उपेक्षणीय और नगण्य माने गये हैं । सर्वथा शिष्टसम्मत और प्रचलित मीमांसादर्शन के अनुयायी सशक्त और वस्तुतः मुख्य प्रतिपक्षी (विरोधी) माने गये हैं । इसी कारण " श्रीशङ्0करदिग्विजय " में अद्वैत वेदान्त को छोड़कर अन्य दर्शनों की तुलना में मीमांसा दर्शन के सिद्धान्तों का अधिक उल्लेख हुआ है ।

घ- " श्रीशङ्करदिग्विजय " में साङ्ख्य , योग , जैन , बौद्ध , चार्वाक न्याय और वैशेषिक दर्शनों का स्वरूप भी कथञ्चित् लक्षित होता है ।

ङ- भारतीय समाज मुख्यतया त्याग को महत्व देता रहा है और इसी कारण भोग की पराकाष्ठा और सर्वाधिक सङ्कीर्ण मनोभूमि का प्रतिनिधित्व करने वाले चार्वाक कभी न केवल सम्य और सत्कार के पात्र नहीं समझे गये हैं अपितु उनके प्रति घृणा भी विद्यमान रही है । यही कारण है कि समाज में अत्यन्ततिरस्कृत होने के कारण इस मत का उल्लेख सबसे कम हुआ है ।

च- इसमें जैनदर्शन को गर्हणीय प्रतिपादित किया गया है । शङ्कराचार्य इस दर्शन के अनुयायियों से विस्तृत वार्तालाप नापसन्द करते थे । इसका स्पष्ट सङ्केत शङ्कराचार्य के स्वयं की उक्ति में प्राप्त होता है ।

छ- अद्वैतदर्शन के नीरस समझे जाने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों का " श्रीशङ्कर-दिग्विजय " में कहीं-कहीं अत्यन्त सरस प्रतिपादन हुआ है ।

प रि शि ष्ट

प्रथम खण्ड

' श्रीशङ्कर दिग्विजय ' में उपन्यस्त सूक्तियाँ

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में अनेक सुन्दर और ग्राह्य उक्तियों का उल्लेख हुआ है । ये सूक्तियाँ विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों के अत्यन्त सूक्ष्म अतएव साधारण लोगों में निहित सत्य को प्रकट करने वाली है । यद्यपि इस ग्रन्थ में प्रयुक्त लगभग सभी सूक्तियाँ व्यासाचलकृत ग्रन्थ ' शङ्करविजयः ' से आहृत हुई हैं तथापि ये माधवाचार्य की रुचि को भी प्रकट करने वाली हैं । इन सूक्तियों का विवरण इस प्रकार है :

काल की महत्ता को प्रतिपादित करने वाली सूक्तियाँ

विधातुमिष्टं यदिहापराह्णे विजानता तत्पुरुषेण पूर्वम् ।
विधेयमेवं यदिह श्व इष्टं कर्तुं तदद्येति विनिश्चितोऽर्थः ॥

श्रीश० दि० , २-१०

ज्ञानी पुरुष को जो कार्य अपराह्न में करना अभीष्ट हो उसे पूर्वाह्न में ही सम्पन्न कर लेना चाहिए और जो कार्य आने वाले कल में करना अभीप्सित हो उसे आज ही कर लेना चाहिए - यही निश्चित सिद्धान्त है ।

एक दूसरी सूक्ति समय के औचित्य को बताने के लिये प्रयुक्त हुई है :

कालोप्तबीजादिह यादृशं स्यात् सस्यं न तादृग्विपरीतकोलात् ।

श्रीश० दि० , २-११

उचित समय अर्थात् बीज के वपन काल में बोये गये बीजों से जैसा सुन्दर फसल उत्पन्न होता है वैसा विपरीतकाल अर्थात् वपनकाल के पूर्व या पश्चात् बोये गये बीजों से नहीं ।

दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने वाली सूक्तियाँ

विना निदानं न हि कार्यजन्म । श्रीश० दि० , ३-२१

विना कारण के कार्य का जन्म नहीं होता । यहाँ " हि :" पद " श्रीशङ्करदिग्विजय " में उपर्युक्त सूक्ति के ठीक पूर्व प्रसङ्ग के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

कोवाऽपि विद्वान्प्राज्ञतमो नृकायं जानन्न कुर्यादिह बहुव पायम् ।

श्री श० दि० ; ११-२५

यह सूक्ति स्वयं माधवाचार्य की है । इसमें शरीर की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा है -'कौन विद्वान जानते हुए भी अपायों (बाधाओं) से परिपूर्ण इस मनुष्य शरीर को याचकों के लिये समर्पित नहीं कर देना चाहेगा'।

भाग्य की महत्ता से सम्बन्धित सूक्ति :-

संयुनक्ति वियुनक्ति देहिनं दैवमेव । श्री श० दि० , १४-६२

भाग्य ही मनुष्यों को आपस में मिलाता है तथा उनका वियोग करवाता है ।

पाप-पुण्य कर्मों से सम्बन्धित सूक्ति :

व्याधिर्हि जन्मान्तरपापपाको भोगेन तस्मात्दापणीय एष: ।
अभुज्यमान: पुरुषं न मुञ्चेज्जन्मान्तरेऽपीतिहि शास्त्रवाद: ।।

श्री श० दि० , १६-६

रोग जन्मान्तर में किये गये पापों का फल है अत: उसका भोग करके ही उसको शान्त किया जा सकता है । इस जन्म का अभुक्त कर्म दूसरे जन्म में भी पुरुष को नहीं छोड़ता । यही शास्त्रमत है ।

कर्म ह्यभुक्तमनुवर्तत एव जन्तुम् । श्री श० दि० , १४-१०

विना भोगा हुआ कर्म मनुष्य का अनुसरण करता ही है ।

लोकानुभव के कारण प्रस्फुटित सूक्तियाँ -

कन्याप्रदानमिदमायतते वधूषु नो वेदमूर्ध्वसनसक्तिषु पोडयेयु: ।।

श्री श० दि० , ३-३२

कन्या का प्रदान स्त्रियों के अधीन होता है । ऐसा न होने पर कन्या के दुःखी होने पर स्त्रियाँ अपने पति को ही उलाहना देकर पीड़ित करती हैं ।

लोके स्वल्पो मत्सरग्रामशाली सर्वज्ञानो नाल्पभावस्य पात्रम् ।।

श्रीश० दि० , ७-८२

संसार में क्षुद्रव्यक्ति मात्सर्यगुणसमूह से युक्त होता है और सर्वज्ञ व्यक्ति इस क्षुद्रता का पात्र नहीं होता है ।

आर्त संरक्षितुमक्षमस्य जनस्य दुःखाय परं दयेति ।।

श्रीश० दि० , १२-२२

रक्षा करने में असमर्थ मनुष्य की दया केवल दुःख उत्पन्न करती है ।

न शून्यहस्तो नृपमिष्टदेवं गुरुं च यायादिति शास्त्रविद् स्वयम् ।

श्रीश० दि० , १२-४८

इष्ट देवता, राजा और गुरु के पास शून्य हाथों वाला होकर नहीं जाना चाहिए ।

न बाल्यमन्वेति हि यौवनस्थम् ।

न यौवनं वृद्धमुपैति -------- ।। श्रीश० दि० , १३-५६

बाल्यावस्था यौवनावस्था का अनुगमन नहीं करती है और न युवावस्था वृद्ध पुरुष को प्राप्त होती है ।

को नाम लोकस्य मुखापिधायक: । श्रीश० दि० , १३-५६

लोगों के मुख को कौन बन्द कर सकता है ।

बुधो बुधानां खलु मित्रमीरितं खलेन मैत्री न चिराय तिष्ठति ।।

श्रीश० दि० , १४-१७

विद्वान पुरुष ही विद्वान का मित्र कहा गया है । दुष्ट के साथ मित्रता बहुत दिन तक स्थिर नहीं रह सकती ।

सुजन: सुजनेन संगत: परिपुष्णाति मतिं शनै-शनै: ।

परिपुष्टमतिर्विवेकवान्जनकैस्त्यगुणं विमुञ्चति ।। श्रीश०दि० ,१४-१६

सज्जन के साथ सज्जन व्यक्ति की मित्रता धीरे-धीरे बुद्धि वर्धक होती है । परिपुष्टबुद्धि के कारण विवेकी वह धीरे-धीरे त्याज्य गुणों को छोड़ देता है ।

प्रायो लोके सततविमलं नास्ति निर्दोषमेकम् ।। श्रीश० दि० , १४-२३

प्राय: संसार में निरन्तर स्वच्छ और निर्दुष्ट एक भी वस्तु नहीं है ।

महत्सु धीपूर्वकृतापराधो भवेत् पुन: कस्य सुखाय लोके ।।

श्रीश० दि० , १४-५१

महापुरुषों के प्रति जानबूझकर अपराध करने वाले किसके लिये यह संसार सुखकारी है ।

यथच्छशास्त्रीयतया विभाति तेजस्विनां कर्म तथाऽप्यनिन्द्यम् ।

श्रीश० दि० , १४-५३

शास्त्र विरुद्ध होने पर भी तेजस्वियों के कर्म अनिन्दनीय हैं ।

शान्त: पुमानिति न पीडनमस्य कार्यं शान्तोऽपि पीडनवशात् कुध्युदेत्य: ।

श्रीश० दि० , १४-५२

महापुरुष शान्त स्वभाव के होते हैं अत: उन्हें पीड़ित नहीं करना चाहिए । क्योंकि पीड़ा के कारण शान्त मनुष्य भी क्रुद्ध हो जाते हैं ।

सन्तोषयेद् वेदविदं द्विजं य: सन्तोषयत्येष स सर्वदेवान् ।

श्रीश० दि० , १४-६६

जो व्यक्ति वेदज्ञ ब्राह्मण को सन्तुष्ट करता है वह सब देवताओं को सन्तुष्ट करता है ।

सम्पूजितो योऽतिथिरुद्धरेत् कुलं निराकृतात् किं भवतीति नोच्यते ।

श्रीश० दि० , १४-१०४

सत्कार प्राप्त करने वाला अतिथि कुल का उद्धारक हो सकता है और तिरस्कार करने से क्या (अनिष्ट या विनाश) होगा ऐसा नहीं कहा जाता है । अर्थात् अतिथि का तिरस्कार कुल का नाश भी कर सकता है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में धार्मिक मान्यताएँ

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में कतिपय धार्मिक मान्यताएँ भी दृष्टिगत होती हैं। ये मान्यताएँ इतनी कम मात्रा में अभिव्यक्त हुई हैं कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इनके अध्ययन के लिये पृथक अध्याय रखने की आवश्यकता शोधकर्त्री को प्रतीत नहीं हुई। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के " श्रीशङ्करदिग्विजय " में सामाजिक चित्रण [1] नामक अध्याय में कतिपय धार्मिक मान्यताओं का प्रसङ्गवश उल्लेख किया गया है परन्तु यहाँ प्राधान्यव्यपदेशेन उन्हें पुन: उद्धृत करना अध्ययन को सुबोध बनाने की दृष्टि से अनुचित न होगा। अत: अब इन धार्मिक मान्यताओं का अध्ययन किया जा रहा है :

मनुस्मृति में यह उल्लेख है कि सायं-प्रात: ओंकार और भू भुव: स्व: इन तीन व्याहृतियों का जप करते हुए वेद का अध्ययन करने वाला वेदवित् ब्राह्मण वेद के पुण्य से जुड़ता है अर्थात् पुण्य प्राप्त करता है।[2]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में नायक शङ्कराचार्य के द्वारा इस धर्म के पालन करने का सङ्केत इस प्रकार प्राप्त होता है -

अध्यापन की अपेक्षा न रखने वाले उस (बालक शङ्कराचार्य) ने व्याहृति (भू: आदि) पूर्वक समस्त वेदों को पढ़ा।[3]

मनुस्मृति में वर्णाश्रम व्यवस्था के विषय में लिखा है। विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न कर और शक्ति के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान कर द्विज मोक्ष में मन लगावें।[4]

१- द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ संख्या ४५३-४६३

२- एतदक्षरमेतां च जपव्याहृतिपूर्विकाम् । सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ।।
मनुस्मृति, २-७८

३- उपपादन निर्व्यपेक्षधी: स पपाठऽऽहृतिपूर्वकागमान् ।
श्रीश० दि०, ४-६

४- अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मत: ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ।।
मनुस्मृति, ६-३६ ।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में शङ्कराचार्य की माँ अपने पुत्र के प्रति इस धर्म का उपदेश करती हुई कहती है -

इस संन्यास की बुद्धि को त्याग दो, गृहस्थ बनो, पुत्र प्राप्त करो और यज्ञ करो तब संन्यासी बनो। सज्जनों का यही क्रम है।[1]

आपस्तम्बीय श्रौतसूत्र में पत्नी के साथ अग्निहोत्र करने का विधान है।[2]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में भी इस भाव का सङ्केत मिलता है : "वेदों के विचार का फल है उनके अर्थों का यथार्थ ज्ञान। वेदार्थ के जानने का फल है नाना प्रकार के वैदिक कर्मों का अनुष्ठान परन्तु विवाह करके पत्नी के साथ रहने वाला व्यक्ति ही इसका अधिकारी होता है। यही वेदज्ञों का मत है।"[3]

मनुस्मृति में अतिथि सत्कार को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। शिलोञ्छवृत्ति से आजीविका चलाने वाला मनुष्य हो या पञ्चाग्नि में हवन करने वाला मनुष्य हो। उसके घर में अपूजित ब्राह्मण उसके (मनुष्य के) समस्त पुण्यों को ले लेता है।[4]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में उभयभारती की विदाई के समय उनके माता-पिता के उपदेश में इस धर्म का स्पष्टतया उल्लेख हुआ : "पति के उपस्थित न रहने

१- त्यज बुद्धिमिमां शृणुष्व मे गृहमेधी भव पुत्रमाप्नुहि ।
यज च क्रतुभिस्ततो यतिर्भवितास्यङ्ग सतामयं क्रमः ।। श्रीश० दि०, ५-५६

२- पत्नीवदस्याग्निहोत्रं भवति । २।१।५०

३- अर्थावबोधनफलो हि विचार एष
तच्चापि चित्रबहुकर्मविधानहेतोः ।
अत्राधिकारमधिगच्छति सद्वितीयः
कृत्वा विवाहमिति वेदविदां प्रवादः ।। श्रीश० दि०, २-१४

४- शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः ।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन् ।। मनुस्मृति, ३-१००

पर भी तुम्हारे द्वारा किसी महान पुरुष के आगमन पर उनका विशेष सम्मान पूर्वक अतिथि सत्कार किया जाना चाहिए अन्यथा निराश वह तुम्हारे समस्त कुल का नाश कर देंगे ।[1]

धर्मग्रन्थों में यह लिखा है कि कुमारी की रक्षा पिता करें, विवाहिता की रक्षा पति करें ।[2] इसके अतिरिक्त यह भी उल्लिखित है कि पति के अनुकूल एवं श्रेयस्कर कार्य में तत्पर, सुन्दर आचरण वाली तथा यत्नपूर्वक इन्द्रियों को वश में करने वाली स्त्री इस संसार में कीर्ति पाती है और परलोक में उत्तम गति पाती है ।[3]

' श्रीशङ्करदिग्विजय ' में उभयभारती के प्रति इस धर्म के विषय में अनेक उपदेश[4] किये गये हैं । उनमें से एक यह उपदेश याज्ञवल्क्यस्मृति का सर्वथा अनुसरण करता हुआ प्रतीत होता है : ' कुमारावस्था में कन्या के माता-पिता उसके अधिपति कहे जाते हैं और पाणिग्रहण संस्कार के पश्चात् उसका पति उसका अधिपति कहा जाता है । उस पति की एक मात्र शरण में रात-दिन रहो जिससे दुर्जेय दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) को जीत सको ।[5]

'संस्कार मयूख' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि कन्या के बारहवें वर्ष के प्राप्त हो जाने पर जो कन्यादान नहीं कर देता है वह पिता प्रत्येक मास उसके रजरक्त को पीता है ।[6]

- -

१- धर्मे परोक्षेऽपि कदाचिदेयुर्गृहं तदीया अपि वा महान्तः ।
ते पूजनीया बहुमानपूर्वं नो चेन्निराशाः कुलदाहकाः स्युः ।। श्रीश० दि०, ३-७५

२- याज्ञवल्क्यस्मृति- १ / ३ / ८५ ; मनुस्मृति - ५ , १४८

३- पतिप्रियहिते युक्ता स्वाचारा विजितेन्द्रिया ।
सेह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्यचानुत्तमां गतिम् ।।
याज्ञवल्क्यस्मृति , १,३,८७, षवुक्कुक्ति ।

४- श्रीश० दि० , ३-७० से ७४ तक

५- पाणिग्रहात्स्वाधिपती समीरितौ पुरा कुमार्याः पितरौ ततः परम् ।
पतिस्तमेकं शरणं व्रजानिशं लोकद्वयं जेष्यसि येन दुर्जयम् ।।
श्रीश० दि० , ३-७०

६- प्राप्ते द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति ।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम् ।। संस्कारमयूख-पू०भाग, पृ० ९३

इस धर्म का समर्थन " श्रीशङ्करदिग्विजय " में उभयभारती के पिता की इस उक्ति से होता है : 'कन्याओं को किसी भी प्रकार घर में नहीं रखना चाहिए। विवाह पूर्व यदि उनका रजोदर्शन हो जाता है तो वे घोर नरक और दुःख में अपने माता-पिता को डाल देती हैं'[1]।

शाङ्खायनगृह्यसूत्र में पाणिग्रहण के अवसर पर कन्या के पिता अथवा भाई के द्वारा शमी-पलाश मिश्रित लाजाओं (धान के लावे) की आहुति का उल्लेख हुआ है। इसके साथ ही वधू के द्वारा भी लाजाओं के हवन का उल्लेख हुआ है[2]।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में भी उभयभारती के पाणिग्रहण के अवसर पर लाजाओं के हवन की चर्चा हुई है। परन्तु यह लाजा वधू के द्वारा होमाग्नि में डाला गया था न कि भाई या पिता के द्वारा[3]।

स्थान और कालभेद के कारण रीति-रिवाजों में थोड़ा परिवर्तन स्वाभाविक ही है।

- -

१- सर्वात्मना दुहितरो न गृहे विधेयास्ताश्चेत्पुरा परिणयाद्रज उद्गतं स्यात् ।
पश्येयुरात्मपितरौ बत पातयन्ति दुःखेषु घोरनरकेष्विति धर्मशास्त्रम् ॥
श्री० दि० , ३-४०

२- लाजाञ्छमीपलाशमिश्रान् पिता भ्राता वा स्यादञ्जलावावपति ॥---------
ताञ्जुहोति ॥" इयन्न(ा?) युपब्रूते लाजानावपन्तिका । शिवा ज्ञातिभ्यो भूयासं चिरं जीवितुमेपति(ः?) स्वाहेति ॥" तिष्ठन्ती जुहोति पतिर्मन्त्रं जपति"।
गृह्यसूत्रसङ्ग्रह से उद्धृत - शाङ्खायनगृह्यसूत्र , प्रथम अध्याय -
अथ पाणिग्रहणम् - १५, १७
अथस्सप्तपदक्रमणम् - १

३- आधाय वह्निमथ तत्र जुहाव सम्यग्
गृह्योक्तमार्गमनुसृत्य स विश्वरूपः ।
लाजाञ्जुहाव च वधूः परिजिघ्रति स्म
धूमं प्रदक्षिणमथाकृत सोऽपि चाग्निम् ॥
श्री० दि० , ३-५६ ।

गोभिलगृह्यसूत्र में अग्नि स्थापना के तीन अवसर बताये गये हैं । १- गुरुकुल में वेदाध्ययन को समाप्त करने पर २- जाया (पत्नी) के पाणिग्रहण के पूर्व विवाह के अवसर पर या ३- गृहस्वामी की मृत्यु हो जाने के पश्चात् ।[1]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में उभयभारती और मण्डनमिश्र के द्वारा विवाह के अवसर पर अग्नि के आधान की चर्चा हुई है ।[2]

नित्य सन्ध्योपासन कर्म के अन्तर्गत अञ्जलिगत नासाग्रस्पृष्ट जल के प्रक्षेप से पूर्व अभिमन्त्रित करने में तथा अवभृथस्नान आदि अवसरों पर वैदिक कर्मकाण्ड की परम्परा का अनुसरण करते हुए अघमर्षणऋषि के अघमर्षणसूक्त का विनियोग प्रायशः किया जाता है ।[3]

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में शङ्कराचार्य के अघमर्षण (सूक्त विनियुक्त) स्नान[4] की चर्चा हुई है ।

शिष्य का यह धर्म है कि गुरु जैसा भोजन ग्रहण करें वैसा वह ग्रहण करें, गुरु बैठे हों तो वह खड़ा रहे, गुरु खड़े हों तो वह सम्मुख न खड़ा हो, गुरु आते हों तो सामने जाकर और गुरु दौड़ते हों तो वह भी पीछे दौड़कर बोले और उनकी बात को सुने ।[5]

१- ब्रह्मचारी वेदमधीत्यान्त्यां समिधमभ्याधास्यन् ।
जायाया वा पाणिं जिघृक्षन् । -------- प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठीकरणम् ।
गृह्यसूत्रसङ्ग्रह, पृ०सं० ३३३, ३३५

२- द्रष्टव्य - पूर्वपृष्ठ पर उल्लिखित पादटिप्पणी सङ्ख्या- २

३- ,, ऋग्वेद-१०वाँ मण्डल, १९०वाँ सूक्त

४- इति स्तुवंस्तावदराद् त्रिवेणीं शाट्या समाच्छाद्य कटिं कृपीटे ।
दीर्घैर्द्वयुग्मोद्धृतवेणुदण्डोऽघमर्षणस्नानमना बभूव ॥
श्रीश० दि०, ७-७१

५- आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः ।
प्रत्युद्गम्यत्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥
मनुस्मृति- २-१९६ ।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में शिष्य तोटकाचार्य के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है[1]।

तृतीय खण्ड

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में सङ्गीतशास्त्र

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में सङ्गीतशास्त्र के मात्र एक तथ्य का नामोल्लेख हुआ है।

सङ्गीतशास्त्र में मूर्छना का सामान्य परिचय इस प्रकार दिया गया है - एक स्वर से आरम्भ करके क्रमशः सातवें स्वर तक आरोह करने के पश्चात् उसी मार्ग से अवरोह करना मूर्छना है[2]।

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में अमरुक राजा के दरबार में पद्मपाद के गायन के अवसर पर "मूर्छना" पद का उल्लेख हुआ है[3]।

चतुर्थ खण्ड

"श्रीशङ्करदिग्विजय" में तन्त्रशास्त्र

तन्त्रशास्त्र में पूजा के निमित्त अनेक उपचारों का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है - आसन, आवाहन, अर्घ्यपाद, आचमन, स्नान, सुगन्धितपुष्प, ..

१- श्रीश० दि०, १२-७० से ७४ तक

२- के० वासुदेवशास्त्री - सङ्गीतशास्त्र, पृ० ६० - ३८

३- रुचिरवेशाः समासाद्य तां संसदं नयनसंज्ञाविलीणाखिनामूमुना ।
समतिसृष्टास्ततः सुस्वरं मूर्छनापदविदस्ते जगुर्गीयन्तः क्रमात् ।।
श्रीश० दि०, १०-४४ ।

अगरबत्ती , अन्न , तर्पण , माला , लेप , नमस्कार , आभूषण , दीपक आदि ।[1]

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में मूकाम्बिका देवी की स्तुति के अवसर पर उपचारों का सङ्केत इस प्रकार मिलता है : " हे देवि ! महान् पुरुष मन में चौसठ उपचारों आवाहन आदि के द्वारा और समीप में रहने वाले लोगों को वस्त्रदान के द्वारा नित्य आपकी आराधना किया करते हैं ।"[2]

तन्त्रशास्त्र में तीन प्रसिद्ध रत्न हैं शिव , शक्ति और बिन्दु । जब शक्ति के आघात से इस बिन्दु का स्फुरण होता है , तब उससे कलाओं का उदय होता है । ये कलाएँ ३८ मानी गयी हैं । स्वरों से १६ सौम्य(चन्द्र) कलाओं स्पर्श युग्मों से १२ सूर्य कलाओं और यकारादि व्यापक वर्णों से १० अग्निकलाओं का उदय होता है ।[3]

१- पूजयेत् परयाभक्त्या विधिदृष्टेन कर्मणा ।
आसनावाहने चार्घ्यं पाद्यमाचमनं तथा ।।
स्नानं वासोपवीतञ्च भूषणानि च सर्वशः ।
गन्धं पुष्पं तथा धूपं दीपमन्नञ्च तर्पणम् ।।
माल्यानुलेपनं चैव नमस्कार विसर्जनम् ।
अष्टादशोपचाराश्च तैश्च पूजां समाचरेत् ।।

तन्त्रसङ्ग्रह: २-३ - ५३ से ५५

२- अन्तश्चतु:षष्ट्युपचार भेदैरन्तेवसत्काण्डपटप्रदानै: ।
आवाहनाद्यैस्तव देवि नित्यमाराधनामादधते महान्त: ।।

श्रीश० दि० , १२-२८

३- तत् त्रिभेदसमुद्भूता अष्टात्रिंशत् कला मता: ।
स्वरै: सौम्या: स्पर्शयुग्मै: सौरा याद्याश्च वह्निजा: ।।
षोडश.द्वादश दश संख्या: स्यु: क्रमश: कला: ।

प्रपञ्चसार , तृतीय पटल ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में ३८ कलाओं का सङ्केत इस प्रकार प्राप्त होता है - " जो ३८ कलाएँ तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध हैं उनमें निवृत्ति प्रदान करने वाली ५ कलाएँ मुख्य हैं । हे माता ! उनके भी ऊपर प्रकाशित होने वाले तुम्हारे चरणकमल को विद्वान भजते हैं ।"[1]

आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा शरीर के इन षट्चक्रों[2] का उल्लेख तन्त्र और योग शास्त्रों में हुआ है ।

" श्रीशङ्करदिग्विजय " में इन षट्चक्रों का सङ्केत इस प्रकार प्राप्त होता है - " इस संसार में भोगों के लोभी पुरुष आधार चक्र तथा उसके बाद वाले स्वाधिष्ठानचक्र में आराधना करते हैं । जो लोग आपका मणिपूर चक्र में ध्यान करते हैं उनकी स्थिति तुम्हारे (देवी के) नगर के बाहर ही रहा करती है । हे देवि ! अनाहत चक्र में जो तुम्हें भजन करने वाले हैं वे तुम्हारे नगर के भीतर निवास करते हैं । विशुद्धचक्र में जो भजते हैं वे आपका सामीप्य प्राप्त करते हैं । आज्ञा चक्र के पूजकों को तुम्हारे ही समान भोगों की प्राप्ति होती है ।"[3]

१- अष्टौत्रिंशति याः कलास्तास्वप्यौः कलाः पञ्च निवृत्तिमुख्याः ।
तासामुपर्यम्ब तवाङ्घ्रिपद्मं विद्योतमानं विबुधा भजन्ते ।।
श्रीश० दि०, १२-३१

२- देवी उवाच -
कस्मिन् स्थाने त्रिधा शक्तिः षट्चक्रं च तथैव च ।
।।

ईश्वर उवाच -
ऊर्ध्वशक्तिर्भवेत् कण्ठः अधःशक्तिर्भवेद् गुदः ।
मध्यशक्तिर्भवेन्नाभिः शक्त्यतीतं निरञ्जनम् ।।
आधारं गुह्यचक्रं तु स्वाधिष्ठानं च लिङ्गकम् ।
चक्रभेदं मयाख्यातं चक्रातीतं नमो नमः ।।
तन्त्रसङ्ग्रह, द्वितीय भाग, तृतीय पटल, ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्र - ६५ से ६७तक

३- आधारचक्रे च तदुत्तरस्मिन्नाराधयन्त्यैहिकभोगलुब्धाः ।
उपासते ये मणिपूरके त्वां बाह्यस्तु तेषां नगराद्बहिःस्थे ।।
अनाहते देवि भजन्ति ये त्वामन्तः स्थितिस्त्वन्नगरे तु तेषाम् ।
शुद्धाख्यायां तु भजन्ति तेषां क्रमेण सामीप्यसमानभोगौ ।।
श्रीश० दि०, १२-३४, ३५ ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

– क –

पादटिप्पणी में उल्लिखित ग्रन्थ

अ- संस्कृत ग्रन्थ

१- अग्निपुराणम् – आनन्दाश्रम प्रेस, १६०० ख्रिस्ताब्द

२- अनुभूति प्रकाश: – निर्णय सागर प्रेस, १६०२

३- अर्थसङ्ग्रह: – डॉ० वाचस्पति उपाध्याय, चौखम्बा ओरियन्टालिया, प्रथम संस्करण, ई० १६७७

४- अलङ्कार सर्वस्वम् – पं० दुर्गा प्रसाद, भारतीय विद्या प्रकाशन, पुनर्मुद्रण संस्करण, ई० १६८२

५- आपस्तम्बीय श्रौतसूत्रम् – टी० टी० श्रीनिवास गोपालाचार्य, ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मैसूर, ई० १६५३

६- कठोपनिषद्

७- कादम्बरी – पीटरसन, बाम्बे सेन्ट्रल गवर्नमेंट डिपो

८- कामसूत्र (वात्स्यायनकृत)

९- कालनिर्णय: स्य

१०- काव्यप्रकाश: – स्व० आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, तृतीय संस्करण, संवत् २०२४ वि०

११- काव्यादर्श: – श्रीरामचन्द्रमिश्र, चौखम्बा विद्याभवन

१२- काव्यानुशासनम् – मेसर्स मोतीचन्द जी कपाड़िया और चन्द्रलाल

१३- काव्यालङ्कार: – रुद्रट – वासुदेव प्रकाशन, माडल टाउन, दिल्ली, प्रथम संस्करण

१४- काव्यालङ्कार: – भामह – बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना

१५- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या – डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी मोहनलाल भट्ट, सचिव, प्रथम शासन निकाय हि० सा० स०, प्रयाग, प्रथम संस्करण १६६६।

१५- काव्यालङ्कार सूत्राणि - डॉ० बेचन झा , चौखम्बा संस्कृत संस्थान , वाराणसी
द्वितीय संस्करण , वि०सं० २०३३

१६- कुवलयानन्दः - डॉ० भोलाशङ्कर व्यास , चौखम्बा विद्याभवन , वाराणसी
द्वितीय संस्करण - १९६३

१८- गृह्यसूत्र सङ्ग्रह : - वेदमूर्ति , तपोनिष्ठ , पं० श्रीराम शर्मा आचार्य , संस्कृति
संस्थान , प्रथम संस्करण ई० १९७२

१९- चन्द्रालोक: - जयकृष्णदास हरिदास गुप्त , चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस ,
बनारस , तृतीय संस्करण , वि० सं० २००७

२०-(पिङ्गलकृत) छन्द:सूत्रम् - जयकृष्णदास हरिदास गुप्त , चौखम्बा संस्कृत सीरीज
आफिस , ई० १९४७

२१- छान्दोग्योपनिषद्

२२- जाबालोपनिषद्

२३- जीवनमुक्तिविवेक : - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि: , ग्रन्थाङ्क: २० शालिवाहन -
शकाब्दा: १८११

२४- जैमिनीयन्यायमाला विस्तर: - एम० थ्योडर गोल्डस्टूकर, ट्रबनर एण्ड कार्पोरेशन ,
लन्दन , १८७८

२५- जैमिनीयसूत्रम् -

२६- तन्त्रसङ्ग्रह: (द्वितीयोभाग:) - सम्पा० - म० म० प० गोपीनाथ कविराज ,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय , प्रथम संस्करण
१८९२ शकाब्द , सन् १९७०

२७- तर्कभाषा - बदरीनाथ शुक्ल , मोतीलाल बनारसीदास , प्रथम संस्करण

२८- तात्पर्यदीपिका - आनन्दाश्रम मुद्रणालय , द्वितीय संस्करण , शालिवाहन
शकाब्दा: १८४५

२९- तैत्तिरीयोपनिषद्

३०- तैत्तिरीयसंहिता - प्रथम खण्ड , प्रथम भाग , एम० एस० सोनाटक्के और डॉ० एन०
धर्माधिकारी , सैक्रेटरीज , वैदिक संशोधन मण्डल , पूना
शक - १८९२ ।

३१- दयानन्ददिग्विजयम् - आचार्य श्रीमहावीर, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७३ ई०

३२- दशरूपकम् - डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी प्रथम संस्करण - १९७३ ई० ।

३३- ध्वन्यालोक: - आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६५

३४- (हिन्दी) नाट्य दर्पण: - आचार्य विश्वेश्वरकृत व्याख्या, प्रथम संस्करण, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

३५- (भरत) नाट्यशास्त्रम् - गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, द्वितीय संस्करण, १९५६

३६- निघण्टु भाष्यम् - जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण

३७- न्याय दर्शन पर वाचस्पति कृत भाष्य -

३८- (हिन्दी) न्यायदर्शनम् (वात्स्यायनकृत भाष्य) - आचार्य ढुण्ढिराजशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी द्वितीय संस्करण

३९- पञ्चदशी - निर्णय सागर प्रेस, सप्तम संस्करण, १९४६

४०- पराशरमाधव: - (प्रायश्चित्तकाण्डरूप द्वितीय भाग) बङ्गीया एशियाटिक समाज, बाप्टिस्टमिशन प्रेस - कलकत्ता

४१- पातञ्जलयोगदर्शनम् -

४२- प्रयोगपारिजात: - निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

४३- बृहदारण्यकोपनिषद् - (प्रथम भाग) अच्युतग्रन्थमाला, प्रथम संस्करण, १९९७ संवत्

४४- बृहदारण्यकोपनिषद् - गीताप्रेस प्रकाशन, प्रथम संस्करण

४५- ब्रह्मपुराण - तारणीश झा - प्रथम संस्करण

४६- ब्रह्मवैवर्त पुराण - आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थाङ्क १०२, ख्रिस्ताब्दा: १९३५

४६- ब्रह्मसूत्रभाष्यम् - खेमराज श्रीकृष्णदास श्रेष्ठी, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, संवत् १९७०
४८- भविष्य पुराणम् - श्रीराम शर्मा आचार्य
४९- भागवत पुराणम् - गीता प्रेस - संस्करण
५०- भावप्रकाशनम् - हिन्दी अनुवादक - डॉ० मदन मोहन अग्रवाल, चौखम्बा सुर भारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, १९८३
५१- मत्स्यपुराणम् - श्रीराम शर्मा आचार्य, १९७०
५२- मनुस्मृतिः - रामस्वरूप शर्मा, सनातन प्रेस, मुरादाबाद, संवत् १९८२
५३- महाभारत - (आरण्यक पर्व - प्रथम भाग) वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल भारत मुद्रणालय, प्रथम संस्करण - १९६४
५४- माधवीया धातुवृत्तिः - स्वामी द्वारकादास शास्त्री, प्राच्य भारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण, १९६४
५५- मार्कण्डेय पुराणम् - श्रीराम शर्मा आचार्य, ई० १९६७
५६- मीमांसा दर्शनम् - वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, उ० प्र०, प्रथम संस्करण, १९६४
५७ मुण्डकोपनिषद् -
५८- याज्ञवल्क्यस्मृतिः -
५९- योगसारसङ्ग्रहः - स्वामी सनातन देव, मोतीलाल बनारसी दास
६०- लिङ्ग पुराणम् - वेदमूर्ति तपोनिष्ठ - पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान बरेली, उ० प्र०, प्रथम संस्करण १९६९
६१- वायु पुराणम् - श्रीरामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग प्रथम संस्करण
६२- वाल्मीकि रामायणम् - निर्णय सागर प्रति, चतुर्थ संस्करण, ख्रिस्ताब्दाः १९३०
६३- विवरणप्रमेयसङ्ग्रहः - तैलङ्ग रामशास्त्री, मेडिकल हाल - काशी संस्करण
६४- विष्णु पुराणम् - गीता प्रेस, तृतीय संस्करण, २००९ संवत्
६५- वृत्तरत्नाकरः -
६६- वेङ्कटमाधवभाष्यम् - (प्रथम मण्डल) विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट, होशियारपुर, १९६५ ई०

व्याख्या तत्त्व पारिजात:

५७- वेदान्तसार: - डॉ० सन्तनारायण श्रीवास्तव्यकृत, सुदर्शन प्रकाशन, इलाहाबाद

५८- शङ्कर विजय:-(आनन्दगिरिकृत) जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य सारसुधानिधि प्रेस कलकत्ता, १८८१

५९- शङ्करविजय: -(आनन्दगिरिकृत) नवद्वीप गोस्वामी द्वारा प्रकाशित बाप्टिस्ट मिशन प्रेस

६०- शङ्करविजय: -(व्यासाचलकृत) मद्रास गवर्नमेंट ओरियन्टल मैन्युस्क्रिप्ट सीरीज -२४, १९५४

६१- शिवपुराणभाषा - नवलकिशोर प्रेस

६२- शिवमहिम्न: स्तोत्र -

६३- श्वेताश्वरोपनिषद् -

६४- श्रीमद्भागवत् - गीता प्रेस प्रकाशन

६५- श्रीशङ्कराचार्य चम्पूकाव्यम् - (बालगोदावरी कृत) मुम्बई वैभव प्रेस १९१२ खिस्त्यब्द:

६६- श्रीशङ्करदिग्विजय-(माधवाचार्यकृत) अनु० पं० बलदेव उपाध्याय, महन्त महादेवनाथ, श्रीश्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरद्वार, द्वितीय संस्करण सं०२०२४

६७- श्रीशङ्करदिग्विजय - श्रीस्वामी सत्यानन्द सरस्वती, प्रथम संस्करण, विक्रम२०३६

६८- श्रीशङ्करदिग्विजय की विजय डिण्डिम टीका - धनपति सूरिकृत

६९- संस्कारमयूख (प्रथम भाग) पं० नरहरि शास्त्री शिन्दे १९१३ ए० डी०

७०- सरस्वतीकण्ठाभरणम् - अनन्तराम शोराह, डॉ० पी० हैकिया, सचिव - पब्लिकेशन बोर्ड, आसाम, गौहाटी ई० १९६९

७१- सर्वदर्शनसङ्ग्रह: -(शङ्कराचार्यकृत) कला प्रेस, प्रयाग, ई० १९४०

७२- सांख्यतत्व कौमुदीप्रभा- डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र, प्रेम प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद

७३- सामवेदभाष्यम् -

७४- साहित्यदर्पण: - डॉ० सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, ई० १९७६

७५- हरिवंशपुराणम् -

आ - हिन्दी ग्रन्थ

1- आचार्य सायण और माधव - पं० बलदेव उपाध्याय , हि० सा० सं० , प्रयाग , प्रथम संस्करण

2- आदि ब्रह्मपुराणभाषा - नवलकिशोर प्रेस , प्रथम संस्करण .

3- नैषध परिशीलन - डॉ० चण्डिका प्रसाद शुक्ल , हिन्दुस्तानी एकेडेमी , उत्तर प्रदेश इलाहाबाद

4- बुद्धकालीन समाज और धर्म - डॉ० मदन मोहन सिंह , प्रथम संस्करण - ई० १६७२

5- भारतीय दर्शन - उमेशमिश्र , प्रकाशन ब्यूरो , सूचना विभाग , उ० प्र० सरकार , लखनऊ , प्रथम संस्करण - ई० १६५७

6- भारतीय दर्शन - पं० बलदेव उपाध्याय , पण्डित गौरी शङ्कर उपाध्याय , जलनबर, बनारस , प्रथम संस्करण - ई० १६४२

7- भारतीय दर्शन - राधाकृष्णन् हिन्दी अनुवाद , केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय , शिक्षामन्त्रालय , भारत सरकार के सहयोग से प्रकाशित -ई० १६६६

8- भारतीय दर्शन - श्रीसतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्रमोहन दत्त , पुस्तक - भण्डार , पटना , द्वितीय संस्करण

9- सङ्गीत शास्त्र - के० वासुदेव शास्त्री , प्रकाशन शाखा , सूचना , उत्तर प्रदेश ; प्रथम संस्करण १६५८

10 हिन्दू धर्मकोष - डॉ० राजबली पाण्डेय , उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान हिन्दी-समिति प्रभाग , लखनऊ, प्रथम संस्करण - १६७८

इ- अंग्रेजी ग्रन्थ

1- Beginnings of Vijayanagar History - Rev.H. Heras Indian Historical Research Institute - 1929

2- Founders of Vijayanagar - By-S. Srikantaya Published by the Mythic Society daly Memorial Hall, Cenotaph Road, Bangalore City 1938.

3- Sources of Vijayanagar History - S.Krishna Swami Ayyanagar Published by University of Madras - 1919